प्रकाशकसंस्था
अखिलभारतीयसंस्कृतपरिषत्
महात्मागांधीमार्गः
हज़रतगञ्जः
लखनऊनगरम् ।

प्रकाशनं परिषदायत्तम्
मूल्यम्—सार्धचतुर्दशरौप्यमुद्राः

मुद्रकः
लखनऊनगरान्तर्गतगौतमबुद्धमार्गस्थः
'स्टारप्रेस' इति मुद्रणालयः

प्रकाशकीय

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ की प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत श्रीमदाचार्य पं० आनन्द झा प्रणीत 'भगवती' नाम्नी टीका से संवलित श्री धर्मराज अध्वरीन्द्रकृत 'वेदान्तपरिभाषा' का यह संस्करण संस्कृत-साहित्यानुरागी विद्वत्समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष और सन्तोष का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत प्रकाशन उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत परिषद् का सातवाँ प्रकाशन है।

इस स्थान पर अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ और उसके विविध क्रियाकलाप का थोड़ा सा परिचय दे देना अनुपयुक्त न होगा। इस समय परिषद् का लखनऊ नगर मे संस्कृत, पालि और प्राकृत तथा सम्बद्ध विषयों का एक पुस्तकालय और वाचनालय है। यह पुस्तकालय अपने स्थापना-काल से ही एक ऐसे शोध-सस्थान के रूप में कार्य करता आ रहा है जहां शोधकर्ताओं के लिए सभी प्रकार की सुविधाए उपलब्ध है। परिषद् हस्तलिखित ग्रन्थों का अन्वेषण और संकलन, प्रौढ़ो के लिए संस्कृत-शिक्षण की व्यवस्था, विद्वद्गोष्ठियों और भाषणों का आयोजन, वेद-मंत्रो, संस्कृत के गानों तथा संस्कृत के विशिष्ट विद्वानों के भाषणो की टेप-रेकार्डिंग और संस्कृत, पालि तथा प्राकृत के ग्रन्थों के सम्पादन और प्रकाशन में भी संलग्न है।

'वेदान्तपरिभाषा' वेदान्त का एक सुविख्यात और बहुपठित ग्रन्थ है और इस पर अनेक विद्वत्तापूर्ण टीकाएं प्रकाशित हो चुकी है। अत: सहज ही प्रश्न उठता है कि इस नयी टीका की क्या आवश्यकता थी ? 'वेदान्त परिभाषा' के रचयिता धर्मराज अध्वरीन्द्र वेदान्त और न्याय दोनों के ही प्रकाण्ड पंडित थे और इसलिए उनके इस अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थ में न्याय का पुट पर्याप्त मात्रा में है। मूल लेखक की भाँति 'भगवती' टीकाकार आचार्य पं० आनन्द झा भी न्याय और वेदान्त के विशिष्ट विद्वान् हैं और इसीलिए न्याय की सहायता से इस वेदान्त-ग्रन्थ की अनेक जटिल गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हुए हैं।

परिषद् के संस्थापकों में लखनऊ तथा वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयों के भूतपूर्व उपकुलपति, प्रोफेसर को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर महोदय का प्रमुख स्थान

है। परिषद् ने अब तक जो भी उन्नति की है उसमें उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन उन्हीं की प्रेरणा से हाथ में लिया गया था और उसमें परिषद् को निरन्तर ही उनका सक्रिय सहयोग भी प्राप्त होता रहा है, यहां तक कि स्वास्थ्य के ठीक न रहते हुए भी ग्रन्थ की भूमिका का पुनरीक्षण और ग्रन्थ के अधिकांश फार्मों के प्रथम और अन्तिम प्रूफों का संशोधन उन्हीं ने किया है। हमें विश्वास है कि परिषद् पर उनकी कृपा सदा ही बनी रहेगी।

परिषद् के वर्तमान् अध्यक्ष, डा० सत्यव्रत सिंह भी, जो इस समय लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के भी अध्यक्ष हैं, सदा ही परिषद् की सब प्रकार की सहायता करते रहते है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका का वर्तमान् रूप उन्हीं के पुनरीक्षण और संशोधन का परिणाम है।

इस ग्रन्थ की भूमिका गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक, श्री हेमचन्द्र जोशी ने लिखी है; अन्त में दी हुई शब्दानुक्रमणी का प्रणयन "श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी हिन्दी-संस्थान, आगरा" के प्राध्यापक डा० श्याम प्रकाश ने किया है और प्रेस कापी शोधछात्रा श्रीमती सरोजबाला खरे ने तैयार की है। इसके अतिरिक्त श्रीमती खरे ने प्रूफ-संशोधन में भी बड़ी सहायता की है। ग्रन्थ के प्रकाशन मे लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक, डा० जगदम्बा प्रसाद सिनहा और उत्तर प्रदेश शासन के भाषा-विभाग के विशेष कार्याधिकारी, श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव से भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है।

परिषद् के उपर्युक्त सभी हितैषियों ने सभी काम अत्यन्त लगन और सेवा-भाव से किया है। अतः हम इन सभी सज्जनों के अत्यन्त आभारी और कृतज्ञ हैं। हम स्टार प्रेस के स्वामी और व्यवस्थापक, श्री रामचन्द्र के भी कृतज्ञ हैं, क्योंकि उन्होंने इस ग्रन्थ के मुद्रण में जिस सहिष्णुता, सहयोग और तत्परता का परिचय दिया है वह सर्वथा सराहनीय है।

वसन्त-पञ्चमी
संवत् २०२० वि०

गोपालचन्द्र सिंह,
मन्त्री

VEDĀNTA PARIBHĀṢĀ:

THE 'BHAGAVATĪ' COMMENTARY

INTRODUCTION

The importance of Dharmarāja Adhvarīndra's Vedānta Paribhāṣā as a manual of Advaita logic and metaphysics can hardly be over-emphasised. It brings together in a systematic manner a good deal of matter that lies scattered in different works of Advaita philosophy. Nevertheless, the work bears unmistakable stamp of originality. As will be clear subsequently, the author was a great Naiyāyika. This, together with the fact that he wrote in the seventeenth century, constrained him to use the language of Nyāya. The work is divided into eight chapters. The first six chapters deal with the six 'Pramāṇas' or means of knowledge in the day-to-day world, admitted by the Advaitins, viz. 'Pratyakṣa' (perception), 'Anumāna' (inference), 'Upamāna' (analogy), Āgama (written tradition), Arthāpatti' (presumption) and 'Anupalabdhi' (non-apprehension). The remaining two chapters respectively deal with 'viṣaya' (subject-matter) and 'prayojana' (purpose of enquiry). This portion, though written with great profundity, is necessarily brief as the objective world with which it concerns itself, has only empirical existence. The chapter on 'Pratyakṣa' is the most detailed one and the author has brought all his philosophical acumen and dialectical skill to bear upon the discussion of the topic as it is the most important of all topics for an Advaitin.

'Brahma-jñāna' or the knowledge of Brahman is the summum bonum of one's life. It is reckoned as the 'parama puruṣārtha'. The mediate knowledge of Brahman is of no avail. It is the immediate knowledge or 'a-parokṣa jñāna' of the Absolute that is sought after by those who are desirous of attaining salvation. Instead of using the more familiar word 'pratyakṣa' the author uses the word 'a-parokṣa' for perception. It is, perhaps, due to the fact that the word 'pratyakṣa' somehow pre-

eminently brings to the mind the instrumentality of the sense-organs in the matter of perception and the word 'a-parokṣa' brings in the idea of immediacy to the fore more easily. Although in the case of the perception of external objects the instrumentality of the sense-organs is unquestioned, the mental perception of internal states of pain, pleasure and the like is not due to the instrumentality of sense-organs. 'Citta' (the same as the 'manas' of the Naiyāyikas) is not recognised to be an 'indriya' by Dharmarāja. Even if 'Citta' is regarded as an 'indriya' it could not give us the perceptual knowledge of the Brahman. The preceptual knowledge of Brahman is possible only through intuition and 'Citta' does not play any direct role in the task. The word 'a-parokṣa' conveys better the idea of immediacy, the common element of both intuition and ordinary perception.

Dharmarāja holds the view that immediate knowledge is possible through verbal statements also. This is true not only in the well-known example of 'daśamastvamasi' but also in the case of the 'mahāvākayas' viz. 'tat tvam asi' and the like! Here our author follows the view of the 'Vivaraṇa' school in the matter. According to Prakāśātman and others of the school 'Śravaṇa' or 'vākya-vicāra' is the principal means of liberation. 'Manana' and 'Nididhyāsana' are auxiliary to it. There is vedic imperative ('vidhi') with reference to 'Śravaṇa', 'Manana' and 'Nididhyāsana' and as such they are of the nature of mental operation.* According to Vacaspati neither is 'Śravaṇa'

† Pañcadaśī Tṛpti-dīpa-prakaraṇa-verses, 27, 69-70

त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥ 27 ॥
अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत् ।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥ 69 ॥
ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम् ।
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि ॥ 70 ॥

* Siddhānta-bindu—Acyuta Granthamālā-2nd Ed. p. 180

अत एव मनननिदिध्यासनसहिते श्रवणाख्ये वेदान्तवाक्यविचारे 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिविधिरुपपद्यते ।

directly conducive to immediate knowledge of Brahman nor is there vedic imperaive with regard to 'Śravaṇa' etc. for they are of the nature of mental states.‡

The author also points out that in the case of 'surabhi candanam', which is quoted as an instance of 'alaukika pratyakṣa' by the Naiyāyika, the cognition of the 'candana' is immediate whereas the cognition of its 'saurabha' or fragrance is mediate or 'parokṣa'. Similarly, in the case of the stock example of inference, viz., "the hill is fiery", the cognition of the hill is immediate—in case the hill is visible—while the existence of the fire is inferred. In the event of the hill (*i.e.* the pakṣa) also being invisible the cognition of both the hill and the existence of fire thereupon would be 'parokṣa' or mediate.

We have taken note of some of the special points raised by the author of the Vedānta Paribhāṣā. For a critical study of some of the other more important topics dealt with in the text the reader is referred to the excellent works of Dr. D. M. Datta (a) and Dr. V. P. Upādhyāya(b) on the subject.

Dharmarāja Adhvarīndra and His Works

Dharmarāja was a native of Kaṇḍaramāṇikkam village in the Tanjore District. His elder brother's name was Trivedi-Nārāyaṇa Yajvan and he belonged to the Kauṇḍinya gotra.[1] He was a Ṛg-vedin

---

‡ Bhāmatī on Śaṁkara's commentary on B. S. 3.IV. 26
अपि च चतस्रः प्रतिपत्तयो ब्रह्मणि। प्रथमा तावदुपनिषद्वाक्यश्रवणमात्राद् भवति। यां किलाचक्षते श्रवणमिति। द्वितीया मीमांसासहिता तस्मादेवोपनिषद्वाक्याद् यामाचक्षते मननमिति। तृतीया चिन्तासन्ततिमयी यामाचक्षते निदिध्यासनमिति। चतुर्थी साक्षात्कारवती वृत्तिरूपा, नान्तरीयकं हि तस्याः कैवल्यमिति।

(a) Six Ways of Knowing (Calcutta University 2nd ed.); (b) Lights on Vedānta (Chowkhambhā, Varanasi)

1. इति श्रीमत्कण्डरमाणिक्यग्रामवासिना त्रिवेदिनारायणयज्वानुजेन धर्मराजाध्वरीन्द्रेण कौण्डिन्येन विपश्चिता विरचिते तर्कचूडामणौ शब्दखण्डः समाप्तः।

Colophon of the ms. of his 'Tarka-cūḍāmani' vide Vol. XI of the Catalogue of Sanskrit mss. deposited in the Tanjore Library.

Prakāśikā. He was also a pupil of Dharmarāja.[1] It has been published by the Government of Travancore (1928).

3. Nārāyaṇa Bhaṭṭa Śāstrin wrote a commentary called Bhūṣaṇa. It has not been published yet.

4. Yet another commentary called 'Arthadīpikā' was written by Śivadatta. It is a brief but lucid commentary and has been published thrice in the Haridas Sanskrit Series (Banaras)

5. Pandit Krishṇanātha Nyāya-Pañcānana wrote a commentary called 'Āśubodhinī', a name which is in conformity with its lucid style. It has been published by the author himself (two editions).

6. His holiness, the Śaṅkarācārya of Śāradāpīṭha, also wrote a commentary called 'Padārtha-mañjūṣā'[2]

7. By far the most learned commentary on Vedānta Paribhāṣā published so far is 'Paribhāṣā' by Mahāmopadhyāya Paṇḍit N. S. Ananta Krishna Śāstri, one of the most renowned living authorites on Advaitā Vedānta. The commentary together with the text of the Vedānta Paribhāṣā has been twice published by the Calcutta University. The commentator has prefixed his commentary with a long introduction in Sanskrit dealing with the kindred topics of Vedānta.

8. The late Śrī Rām Varmā, a former Maharaja of Cochin, compiled a compendium of the different topics discussed in the Paribhāṣa. The compendium is called 'Paribhāṣā Saṁgraha' and has been published in the Cochin Sanskrit Series

---

1. यत्प्रसादप्लवेनैव शास्त्राब्धिमतरं सुखम् ।
तं धर्मराजाध्वरिणं वन्दे सर्वार्थसिद्धये ॥

II Introductory verse to Prakāśikā.

2 .... शान्त्यानन्दसरस्वती भूतपूर्वशारदापीठाधीशः पदार्थमञ्जूषया चायूयुजत् ।
Pandit Trayambaka Ram Sastri in his Introduction to the Vedānta Paribhāṣā and Arthadipikā' of Śivadatta.

9. Yet another useful edition of the text together with its English translation has been published by the Theosophical Library, Adyar. The editor Srī S. S. Suryanārāyana Śāstrī has added an informative introduction and notes to the text.

10. The latest commentry on the Paribhāṣā, the Bhagavatī by Nyāyācārya Paṇḍit Ānanda Jhā of the Oriental section of the Department of Sanskrit of the University of Lucknow, is being published by the Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. It comes from the pen of a scholar who is well versed in both the Navya-Nyāya and Vedānta Darśanas. He is a pupil of scholars of repute like M. M. Pandit Phaṇibhūṣaṇa Tarkavāgiśa, M. M. Pt. Balakrishna Jha and Pandit Vāmācharaṇa Bhaṭṭāchārya. He has several published and unpublished works to his credit. His Pādārthaśāstra, a work on Vaiśeṣika Philosophy written in Hindi, is a good introduction to the students of the Vaiśesika'. His commentary on the Paribhāṣā is being published for the first time. The 'Bhagavati' is written in simple Sanskrit and explains the text abounding in many knotty points admirably. The author has aptly pressed the Nyāya into the service af the Vedānta of the Śankara school. It will, undoubtedly, prove to be of immense use to the students and scholars alike.

वेदान्तपरिभाषा ।

(भगवतीसहिता)

(१)

चरणप्रणताऽशेष-हृदावरणवारिणी ।
उदेतु हृदये काऽपि सवीणा करुणा मम ।

(२)

यदीयवदनस्फुरन्नवनिशाकरप्रोज्ज्वला—
मुपास्य सुरभारतीमहमभूवमेतादृशः ।
तदीयचरणारुणाम्बुजपरागपुञ्जे कथं
न मत्प्रणतिसन्ततिर्भ्रमरभामिनीवोल्लसेत् ॥

प्रारब्धुमिष्टस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं मङ्गलमाचरन् शिष्यप्रवृत्तावुपयोगि विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिस्वरूपानुबन्धचतुष्टयप्रदर्शनं करोति तत्र भवान् धर्मराजाध्वरीन्द्रः—

यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः ।
तं नौमि परमात्मानं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥ १ ॥

यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः (भवन्ति) सच्चिदानन्दविग्रहं तं परमात्मानं नौमीत्यन्वयः । यस्याविद्या यदविद्या, यदविद्यायाः विलासः यदविद्याविलासः, तेन यदविद्याविलासेन । यस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः, स च मिश्रमते निष्ठत्वम्, विवरणकृन्मते तु विषयित्वं बोध्यम् । विलासस्तु ईक्षणसङ्कल्पात्मको वृत्तिविशेषः परिणामित्वं वा । भूतभौतिकसृष्टय इत्यत्र सृष्टिपदस्य प्रत्येकं सम्बन्धः । तथा च भूतानां सृष्टयः भौतिकानां सृष्टय इत्यर्थः । भूतसृष्टिः तन्मात्रसृष्टिः, भौतिकसृष्टिः स्थूलवियद्घटपटादिसृष्टिः । सृष्टय इत्यत्र बहुवचनं सृष्टिमात्रस्य आविद्यकत्वद्योतनाय । भूतसृष्टिरीश्वरकृता भौतिकसृष्टिर्हिरण्यगर्भकृतेतिमत-

निरासाय पृथक् भौतिकग्रहणम् । नौमीत्यस्य नमस्करोमीत्यर्थः । परमश्चासौ आत्मा परमात्मा, तं परमात्मानम् । परमत्वमुत्कर्षः स च जगदध्यासाधिष्ठानत्व जगत्परिणामिमायाधिष्ठानत्वं वा । सच्चिदानन्दविग्रहमित्यत्रापि विग्रहपदस्य प्रत्येकमन्वयः । अर्थस्तु तस्य स्वरूपम् । तथा च सत्स्वरूपं चित्स्वरूपं आनन्दस्वरूपम् इति तदर्थः । **तथा चायं समुदितार्थः—यदाश्रितायाः यद्विषयिण्या वा भावात्मिकायाः अविद्यायाः वृत्तिविशेषेण भगवदीयेनेक्षणेन सङ्कल्पेन च सम्भवन्ति समस्ताः सृष्टयः स्थितयः प्रलयाश्च तं सत्स्वरूपम् चित्स्वरूपम्** आनन्दस्वरूपं परमात्मानं नौमि, **तस्मै नमस्करोमीत्यर्थः** । विलासपदस्य परिणामित्वार्थकत्वे तु यदाश्रितायाः यद्**विषयिण्या वा मायायाः परिणामित्वाभिन्नाः समस्ताः सृष्टिस्थितिलयाः, तं परमात्मानं नौमि इत्यर्थः** । स्थितिसंहारयोः ग्रहणं सृष्टिपदस्य तयोरप्युपलक्षकतया । यद्यपि श्लोकपूर्वार्धेन जगतः मिथ्यात्वं, " परमात्मानम् " इत्यनेन जीवब्रह्मणोरैक्यं, सच्चिदानन्दविग्रहमित्यत्रानन्दपदेन मोक्षञ्च प्रतिपादयता अध्वरीन्द्रेण विषयप्रयोजने एव प्रदर्शिते । तथापि सम्बन्धाधिकारिणोरपि तत एव सुबोधतया न न्यूनता । **अयं भावः विषयेण सह ग्रन्थस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धो भवति । एवं यः प्रयोजनकामः स एव ग्रन्थाध्ययनाधिकारी भवति इति सुप्रसिद्धमेव । तथा च विषयप्रयोजनयोः स्पष्टीकरणे सम्बन्धाधिकारिणावपि स्पष्टीकृतावेव भवतः, इति पृथक् तदुभयस्य प्रकाशनप्रयासो व्यर्थ एव ।**

अद्वैततत्त्वस्यात्मनः विषयत्वे नौमीति नमस्कारोऽनुचितः । नमस्कार्यनमस्कर्तृभावस्य भेदाधीनत्वात् इति तु नाशङ्कनीयम्, कल्पितभेदसूचनार्थैव परमात्मानमित्यत्र परमपदप्रक्षेपात् ।

अत्र श्लोकार्धेन ब्रह्मणः तटस्थलक्षणं जगदुत्पत्तिस्थितिभङ्गकर्तृ त्वरूपम्, एव श्लोकोत्तरार्धेन तस्य स्वरूपलक्षणं सूचितं वेदितव्यम् । यत् लक्ष्यावृत्ति सत् लक्ष्यबोधकं तत् तटस्थलक्षणम्, यच्च लक्ष्याभिन्नं सत् लक्ष्यबोधकं भवति तत् स्वरूपलक्षणम् । जगदुत्पत्तिस्थितिभङ्गकर्तृत्वं न वस्तुतो ब्रह्मण्यस्ति तथापि ब्रह्म बोधयति अतो भवति तत् तटस्थलक्षणम् ब्रह्मणः ।

"जन्माद्यस्य यतः" इति शारीरकसूत्रमपि एवमेव तटस्थलक्षणं प्रतिपादयति । सतः चितः आनन्दाच्च नास्ति भेदो ब्रह्मणः, इति भवति तेषां स्वरूपलक्षणत्वं

ब्रह्मणः । अथवा यदविद्येति पद्यं अस्माभिः अन्यथैव विगृह्य व्याख्यायते यथा— **यस्याविद्या यदविद्या, यदविद्यायाः अविलासो यदविद्याविलासः । तस्मिन् यदविद्याविलासे (सति) भूतभौतिकसृष्टयो न भवन्ति सच्चिदानन्दविग्रहं तं परमात्मानं नौमीत्यन्वयः** । इतरो विचारः पूर्ववद् अवसेयः । **तथा च यदाश्रितायाः यद्विषयिण्या वा अविद्यायाः वृत्तिविशेषस्य विलासस्य, परिणामरूपस्य वा तस्य असत्त्वे भूतभौतिकसृष्टयो न भवन्ति, तं सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानं नौमीति सरलार्थः** । मङ्गलस्य क्वोपयोगः इति विचारः वैशेषिकदर्शनोपस्कारादिषु विलोकनीयः ।

परमगुरुं प्रणमति—

यदन्तेवासि-पञ्चास्यैर्निरस्ता भेदिवारणाः ।
तं प्रणौमि नृसिंहाख्यं यतीन्द्रं परमं गुरुम् ॥ २ ॥

यदन्तेवासिपञ्चास्यैः भेदिवारणाः निरस्ताः, तं यतीन्द्रं नृसिंहाख्यं परमं गुरुं प्रणौमि इत्यन्वयः । यस्य अन्तेवासिनः यदन्तेवासिनः, त एव पञ्चास्याः यदन्तेवासिपञ्चास्याः, तैः यदन्तेवासिपञ्चास्यैः । निरस्ताः इत्यस्य विजिताः इत्यर्थः । भेदिनः एव वारणा भेदिवारणाः द्वैतमतावलम्बिस्वरूपाः हस्तिनः इत्यर्थः । पञ्चास्यः सिंहः । नृसिंह इति आख्या यस्य तं नृसिंहाख्यं नरसिंहाश्रमनामानमित्यर्थः । यतीनाम् इन्द्रः यतीन्द्रः तं यतीन्द्रं, सन्यासिवर्यम् इत्यर्थ. । द्वितीयान्तपरमपदसमभिव्याहृतस्य द्वितीयान्तस्य गुरुपदस्य परमगुरुम् इत्यर्थः । परमगुरुः अध्यापकस्य अध्यापकः, तथा च परमगुरुम् इत्यस्य अध्यापकस्य अध्यापकम् इत्यर्थः । **एवञ्च शास्त्रकाननसञ्चारिभिः यस्य शिष्यसिंहैः सर्वे द्वैतवादिनो हस्तिनो निरस्ताः अर्थात् पराजयं प्राप्ता बभूवुः, सन्यासिश्रेष्ठं नरसिंहाश्रमनामानं तं परमगुरुं प्रकृष्टतया नौमि इति सरलोऽर्थः ।**

अत्र श्लोकपूर्वार्धेन इदं द्योत्यते यद् अस्मत्परमगुरवः न केवलं नाम्नैव सिंहाः आसन् अपितु द्वैतिगजगण्डकण्डूतिखण्डनपाण्डित्यगुणतोऽपि । कथमन्यथा तद्विद्यावंशसम्भूतैः अन्तेवासिपञ्चास्यैः कृतं स्याद् भेदवादिवारणानां वारणम् ?

स्वगुरुप्रभृतीन् तच्छिष्यान् पञ्चास्यान्, भेदवादिनश्च वारणान् ब्रुवता अध्वरीन्द्रेण ग्रन्थादस्मात् द्वैतमतनिरासस्य असन्दिग्धत्वं सूचितम् । पञ्चास्यस्य भगवतो महेश्वरस्य वारणाजिनावरणतायाः पुराणप्रसिद्धत्वात्, विजिगीषुकथाया प्रवर्तमानायां पञ्चास्यकर्तृकैकास्यनिरासस्य सर्वानुभवसिद्धत्वाच्च । भूयसी संभावना यदयं नृसिंह एव नरसिंहाश्रमः, येन संक्षेपशारीरकटीका भेदधिक्काराद्वैतदीपिकाद्यो दुरूहा ग्रन्थाः रचिता इति गवेषकाणां मतम् । एतस्य जीवनकालः शाकषोडश-शताब्दी । तेनासौ मधुसूदनसरस्वतीस्वामिनां निकटपूर्ववर्तीति लक्ष्यते । श्रूयते यत् किल पूर्वं वृद्धद्वैतवादी अप्पयदीक्षितः एतेनैवाश्रमचरणेन विचारद्वारा अद्वैतवादी सम्पादित इति ।

इदानीं गुरुं प्रणमति—

श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यान् विलङ्गडिनिवासिनः ।
जगद्गुरूनहं वन्दे सर्वतन्त्रप्रवर्तकान् ॥ ३ ॥

विलङ्गडिनिवासिनः सर्वतन्त्रप्रवर्तकान् श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यान् जगद्गुरूनहं वन्दे इत्यन्वयः । विलङ्गडिः दाक्षिणात्यो ग्रामविशेषः । यः खलु चोलभूमौ कावेरीनद्याः दक्षिणे कुम्भकोणस्य प्राच्यां विद्यते, तन्निवासिनः, तत्र निवासशीलान् । श्रीमद्वेङ्कटनाथ इति आख्या येषां ते श्रीमद् वेङ्कटनाथाख्याः, तान् । अथवा श्रीमत्त्वं आख्यायामेव विशेषणं बोध्यम् । आख्या = नाम । जगतां गुरवः जगद्गुरवः तान् जगद्गुरून् । जगत्पदम् अत्र तदानीतन [illegible]कं बोध्यम्, अन्यथा असङ्गत्यापत्तेः । अनन्तरभाविविद्वज्जनगुरुत्वस्य कथंचित् परम्परया संभवेऽपि भूतविद्वदवि[illegible]त् । जगद्गुरूणां स्वं प्रति गुरुत्वं तु कैमुतिकन्यायसिद्धम् । वेदान्तमात्रविदुषां कथम् अन्यशास्त्रविद्वद्गुरुत्वम् ? इत्याशङ्क्य विशिनष्टि "सर्वतन्त्रप्रवर्तकान्" इति । सर्वाणि तन्त्राणि सर्वतन्त्राणि, सर्वतन्त्राणां प्रवर्तकाः सर्वतन्त्रप्रवर्तकाः, तान् । तन्त्रं शास्त्रम् । प्रवर्तकत्वञ्चात्र व्याख्यातृत्वं अध्यापकत्वमिति यावत् । पण्डितप्रकाण्डेन श्रीमद्वेङ्कटनाथेन अनेन गीतायाः ब्रह्मानन्दी टीका रचिता । मन्ये विद्वद्वर्योऽयं तुरीये वयसि तुरीयाश्रमितामपि भेजे । अत एव जगद्गुरून् इति विशेषणदानस्यापि सङ्गतिः । तुरीयाश्रमिणां पूर्वाश्रमिगुरुत्वस्य स्वाभाविकत्वात् । अत्र जगद्गुरुपदेन शङ्करा-

चार्थपदारूढ़ता द्योत्यते इत्यपि केषाञ्चित् मतम् । अनेकत्र मधुसूदनवाक्यालोचनाया: अनेन कृततया मधुसूदनसमसामयिकत्वम् अल्पपरकालीनत्वम् वा इति लक्ष्यते ।

स्वकीर्त्यनुवृत्तये स्वस्य ग्रन्थस्य च नाम प्रदर्शयन् ग्रन्थनिर्माणस्य प्रयोजनं प्रतिपादयति—

येन चिन्तामणौ टीका दशटीकाविभञ्जिनी ।
तर्कचूडामणिर्नाम कृता विद्वन्मनोरमा ॥ ४ ॥

तेन बोधाय मन्दानां वेदान्तार्थावलम्बिनी ।
धर्मराजाध्वरीन्द्रेण परिभाषा वितन्यते ॥ ५ ॥

येन चिन्तामणौ दशटीकाविभञ्जिनी तर्कचूडामणिर्नाम विद्वन्मनोरमा टीका कृता, तेन धर्मराजाध्वरीन्द्रेण (मया) मन्दानां बोधाय वेदान्तार्थावलम्बिनी परिभाषा वितन्यते इत्यन्वयः । चिन्तामणौ इत्यत्र सप्तमी षष्ठ्यर्था । चिन्तामणेः टीका इत्यर्थः । चिन्तामणिः नव्यनैयायिकवर्यमैथिलगङ्गेशोपाध्यायरचितः तत्त्वचिन्तामणिग्रंन्थः । यद्यपि अध्वरीन्द्रैः तत्त्वचिन्तामणेः टीका न विहिता किन्तु कुसुमाञ्जलिप्रकाशमकरंदकृतः रविदत्तोपाध्यायस्य चिन्तामणिटीकायाः टीका रचिता, तथापि साक्षात् परम्परया वा चिन्तामण्यर्थप्रकाशकतया तर्कचूडामणि-टीकायाः चिन्तामणिटीकात्वोक्तिरिति पेद्दीक्षिताः । प्रभामयूखालोकादिदशटीकाः विभञ्जयतीति दशटीकाविभञ्जिनी । विभञ्जकत्वं त्वत्र तत्तट्टीकाप्रतिपाद्यदूषकत्वं, स्पष्टतया तत्तदधिकार्थप्रकाशकतया व्यर्थीकृतत्वं वा । तर्कचूडामणिरिति टीकायाः नाम । विदुषां मनांसि रमयतीति विद्वन्मनोरमा । मनः पदं त्वत्र अन्तःकरण-त्वसामान्यात् बुद्ध्यर्थकं बोध्यम् । अन्यथा सङ्कल्पविकल्पमात्रवतो मनसः सुखात्मक-रमणासम्भवेन असङ्गत्यापत्तेः । बोधायेत्यत्र बोधः ब्रह्मज्ञानोपयोगि वेदान्तप्रतिपाद्य-पदार्थज्ञानम्, न तु ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारः, एतद्ग्रन्थाध्ययनमात्रेण तदसम्भवात् । मन्दो बुद्धिविभवहीनः अप्राप्तबुद्धिप्रकर्ष इति यावत् । वेदान्ताः उपनिषदः शारीरक-सूत्राणि च, तदर्थानवलम्बते प्रतिपाद्यतया विषयीकरोति इति वेदान्तार्थावलम्बिनी । परिभाषा सङ्केतः । वितन्यते इत्यत्र विततनं विस्तारः नानाजनसम्बन्धः । तथा च वेदान्तप्रतिपाद्यविषयकसङ्केतः नानाजनसम्बद्धो विधीयते इति 'वेदान्तार्थाव-लम्बिनी परिभाषा वितन्यते इत्यस्यार्थः । अथवा वेदान्तार्थावलम्बिनी परिभाषा

वेदान्तपरिभाषानामकग्रन्थ., वितन्यते क्रियते इत्यर्थः । तथा च येन (मया) धर्मराजाध्वरीन्द्रेण अतिदुरूहन्यायशास्त्रग्रन्थे: दशटीका - खण्डिनी तर्कचूडामणिनाम्नी विद्वन्मनोरमा टीका रचिता, तेन मया वेदान्तार्थविषयकसङ्केतः नानाजनसम्बद्धो विधीयते । अर्थात् बहुजनकर्तृकनिरुक्तसङ्केतविषयकज्ञानानुकूलव्यापार: क्रियते । परिभाषाशब्दस्य ग्रन्थवाचकत्वे तु वेदान्तपरिभाषाग्रन्थो विरच्यते इति सरलार्थः । प्रकृतग्रन्थकर्तुः स्वस्य चिन्तामणिटीकाकर्तृत्वकथनेन गौतमीयन्यायाध्ययनं बिना न प्रकृतग्रन्थप्रतिपाद्यार्थज्ञानं भवितुमर्हतीति सूचितम् । चिन्तामणिकृतां गङ्गेशोपाध्यायानां अस्तित्वं शाकद्वादशशताब्द्यामासीदिति इतिहासविदां कथनम् । तिर्वनन्तपुरविमुद्रते परिभाषाकृच्छिष्यपेद्दीक्षितकृतटीकायुते पुस्तके पद्ययोरेतयोर्मध्ये–

टीका शशधरस्यापि बालव्युत्पत्तिदायिनी ।
पदयोजनया पञ्चपादिका व्याकृता तथा ॥

इत्यधिकपद्यमेकमुपलभ्यते । तत्पाठस्य प्रामाणिकत्वे, येन शशधरस्य बालव्युत्पत्तिदायिनी टीकापि कृता, तथा पदयोजनया पञ्चपादिकापि व्याकृता तेन, इत्यादिक्रमेणान्वयो बोध्यः । शशधरस्येत्यस्य शशधरकृतसिद्धान्तदीपाख्यग्रन्थस्य इत्यर्थः ।

टीकां विशिनष्टि–बालव्युत्पत्तिदायिनीति । व्युत्पत्तिर्बोधः, दातृत्वं त्वत्र समुत्पादकत्वं बोध्यम्, अन्यथा स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोपादनात्मकदानवाचिदानशब्दप्रयोगानुपपत्तेः । पदानां योजना पदयोजना तया । पञ्चपादिकेति शारीरकभाष्यव्याख्या-विशेषस्य नाम । व्याकृता इत्यत्र व्याकरणं व्याख्यानम् । एवञ्च व्याकृता इत्यस्य व्याख्याता इत्यर्थः ।

ननु किमत्र क्रियते ? निरूपणमिति चेत् कस्य ? ब्रह्मतज्ज्ञानप्रमाणानामिति चेत् । ब्रह्मप्रमाणयोः जगदुत्पत्तिज्ञप्तिप्रयोजनकत्वेऽपि ब्रह्मज्ञानस्य निष्प्रयोजनतया निरूपणं व्यर्थम् । मोक्षस्तत्प्रयोजनमिति चेत् त्रिवर्गफलकत्वमेव न कुतस्तस्य ? इत्याद्याशङ्काप्रक्षालनाय मोक्षात्मकप्रकृष्टफलस्य ब्रह्मज्ञानात्मकप्रकृष्टसाधनसाध्यत्वम् इति स्पष्टयन् निरूपणं प्रतिजानीते–

इह धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परम पुरुषार्थः, 'न च पुनरावर्तते' इत्यादिना तस्य नित्यत्वावगमात् । इतरेषां त्रयाणां प्रत्यक्षेण 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितोऽपि लोकः क्षीयते,' इत्यादिश्रुत्या अनित्यत्वावगमात् । स च ब्रह्मज्ञानात् इ ति ब्रह्म तज्ज्ञानं सत्प्रमाणञ्च सप्रपञ्चं निरूप्यते ।

शिखामणिकृद्भिस्तु निःश्रेयसप्रयोजनवत्या शारीरकमीमांसया सह स्वकीय-ग्रन्थस्य एककार्यकारित्वरूपा सङ्गति बोधयितु इहेत्यादिग्रन्थारम्भ इति प्रतिपादितम्, तत्तु विभावनीयमेव । एककर्तृकयोः अव्यवहितयोरेव निरूपणयोः प्रसङ्गादिसङ्गतेरपेक्षणात् । शारीरकमीमांसावेदान्तपरिभाषाग्रन्थयोस्तु भिन्नकर्तृक-त्वाद् अव्यवधानाभावाच्च तथाविधसङ्गत्यपेक्षाभावात् ।

आशुबोधिनी तु कस्य कस्य पदार्थस्यात्र निरूपणं करणीयमिति जिज्ञासया एतद्ग्रन्थारम्भ इति प्रतिपादयति, तदपि विवेचनीयमेव, सामान्यतो निरूपणप्रतिज्ञा-पूर्वम् तादृग्विशेषजिज्ञासायाः अनुद्रेकात् । उद्रेके वा 'ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं निरूप्यते' एतावन्मात्रस्यैव वक्तव्यत्वापातात् ।

पेद्दीक्षितैस्तु पुरुषार्थभेदप्रदर्शनाय ब्रह्मज्ञानस्य स्वर्गादिफलकत्वमेव कुतो न स्वीक्रियते इति प्रश्ननिरासाय वा एतद्ग्रन्थारम्भ इति प्रतिपादितम् । तदपि विभावनीयमेव । प्रथमकल्पे धर्मार्थकाममोक्षाख्याः चत्वारः पुरुषार्थाः एतावन्मा-त्रस्य वक्तव्यात्वापातात् । यदि च पुरुषार्थभेद इत्यत्र भेदो भिन्नता अर्थात् कर्मादिसाध्य-स्वर्गादिप्रतियोगिको भेदः, तदा धर्मार्थकाममोक्षेषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु इति प्रभेद-प्रदर्शनासङ्गतेः । द्वितीयकल्पे स्वर्गादिरेव कुतो न प्रयोजनं तेषामेव कुतो न परम-प्रयोजनत्वम् ? इति प्रश्नानन्तरमेव प्रकृतग्रन्थस्योत्थापनीयतया असङ्गतितादव-स्थ्यात् । पुरुषार्थभेदप्रदर्शनस्य विशेषतो निरूपणप्रतिज्ञायाश्च अनौचित्यापातात् ।

अलमिदानीं परकथाचिन्तया अध्वरीन्द्रप्रतिपाद्यार्थजिज्ञास्वनेकछात्रप्रार्थनया ग्रन्थव्याख्यामात्रप्रवृत्तस्य मम ।

इह=अत्र ग्रन्थे । सप्रपञ्चं इत्यस्य निरूप्यते इत्यनेन सम्बन्धः । न तु इहेत्यस्य जगति संसारे इत्याद्यर्थकत्वम्, वैयर्थ्यापत्तेः । न च 'खलु' शब्दवत्

वाक्यालङ्कारार्थकता, तदर्थं कुत्राप्यप्रयोगात् । नहि प्रत्यक्षप्रकरणे, इत्यप्यर्थः । परिच्छेदान्तराणामपि प्रमाणनिरूपकत्वात् । धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु इत्यत्र आख्यापदस्य प्रत्येकं सम्बन्धः । तथा च धर्माख्येषु अर्थाख्येषु इत्येवमर्थः धर्मो यागादि कर्म वा तज्जन्यादृष्टात्मकगुणो वा तज्जन्यं सुखं वा । अर्थः धनं तज्जन्यं सुखं वा । कामः विलक्षणसंयोगात्मिका रतिः तज्जन्यं सुखं वा । यद्यपि न्यायसूत्र-वृत्तिकृद्भिः "कामो रिरंसा, रतिश्च विजातीयः संयोगः, नारीगताभिलाषा इत्यपरे, तन्न स्त्रियाः कामेऽव्याप्तेः" इत्याद्युक्तम् तथापि नात्र तादृगर्थो विवक्षितः । इच्छायाः पुरुषार्थत्वानभ्युपगमात्, अत एव 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादिस्थले जिज्ञासायाः विचारलक्षकत्वावगमः । केचित्तु काम्यते इति कामः विषय इति यावत् इति वदन्ति, तन्नात्र समीचीनम्, धर्मार्थमोक्षाणामपि कामनाविषयत्वात् ।

मोक्षस्तु शुद्धब्रह्मात्मको निरतिशयानन्दरूपः । परमपुरुषार्थं इत्यत्र पुरुषार्थे परमत्वं तु नित्यत्वात्मक उत्कर्षः । 'न स पुनरावर्तते' इत्यत्र आवृत्तिः संसारः । तस्य मोक्षस्य । नित्यत्त्वावगमात् इत्यत्र अवगमो निश्चयः, तथा च नित्यत्वनिश्च-यादिति तदर्थः । 'इतरेषां त्रयाणाम्' धर्मार्थकामानाम् । त्रयाणामिति कथनं केवलं स्पष्टतायै, अनुक्तावप्यक्षतेः । 'प्रत्यक्षेण' प्रत्यक्षप्रमाणेन । तद्यथेहेति श्रुतौ 'इह' इत्यस्य मानुषाद्यदिव्यशरीरे इत्यर्थः, सप्तम्यर्थः अवच्छेद्यत्वम् । कर्मणा चितः सञ्चितः प्राप्तः इति कर्मचितः । लोक्यते इति लोकः फलम् प्रयोजनमिति यावत् । फलत्वं तु गाणमु[illegible] वेदितव्यम्, तेनोपायभूतानां स्रक्चन्दनवनितादीनां, उपेयभूतस्य सुखस्य च संग्रहः । अमुत्र स्वर्गादिदिव्यशरीरे । यद्यपि पुण्यचितस्यापि कर्मचितत्वात् भेदाभावात् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावानुपपत्तिः । तथापि कर्मचितत्वं अदृष्टाद्वारकं कर्मचितत्वं बोध्यमित्यदोषः, पुण्यचितस्यातथात्वात् । दुःखोत्पादका[illegible] पुण्यचितत्वस्याभावात् कर्मचित[illegible]ोः समनियतत्वाभावेन अभेदा-भावात् दोषासम्भव इति तु न सदुत्तरम्, श्रुतौ पुण्यपदस्य पुण्यापुण्यसाधारणा-दृष्टार्थकत्वस्य ध्रुवं वक्तव्यत्वात् । ननु इतरेषां त्रयाणां प्रत्यक्षेणेति लेखासंगतिः धर्मार्थकाममोक्षाणामित्यत्र धर्मपदस्य अन्तःकरणवृत्तिगुणवाचित्वे तस्यातीन्द्रियत्वेन तन्नाशस्यापि प्रत्यक्षायोग्यत्वात् इति चेत्, सत्यम्, अत एव तद्यथेहेत्यादिश्रुत्यात्मक प्रमाणान्तरप्रदर्शनम् ।

शिखामणिकृद्भिस्तु अत एव प्रत्यक्षेणेति 'प्रत्यक्षसिद्धकार्यत्वलिङ्गेन' इत्येवं व्याख्यातम्, तत्तु न मनोरमम्, क्लिष्टकल्पनापत्तेः। प्रत्यक्षशब्दस्यानुगानावाचितया लक्षणाया अवश्यमाश्रणीयत्वात् । 'यथायोगमिति पाठं पूरयित्वा अर्थकामयोः प्रत्यक्षेण, धर्मस्य श्रुत्या' इति प्रकाशिकाव्याख्यानं त्वसमञ्जसम्। प्रत्यक्षश्रुत्योः प्रमाणबलाबलविचारे क्रियमाणे, श्रुतेः प्रबलतायाः अवश्यमभ्युपेयतया पूर्वोक्तदिशा त्रयाणां तदाक्रान्तत्वे प्रत्यक्षस्याप्रसरात् बलवद्देशे दुर्बलाकिञ्चित्करत्वस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात् । तथा च श्रुत्या चेत्यत्र चकारो वाकारार्थः। तेन च प्रत्यक्ष-कल्पेऽस्वरसूचनं वेदितव्यम् । न च श्रुतौ पुण्यचितो लोकः क्षीयते इत्युच्यते न तु पुण्यं क्षीयते इति, तथा च कथं पुण्यापरनामधेयस्य क्षयित्वे श्रुतिः प्रामणमिति शङ्कनीयम्, प्राक्प्रदर्शितगौणमुख्यसाधारणफलत्वस्य पुण्येऽप्यक्षतेः । स च = मोक्षश्च । चस्त्वर्थे । तथा च धर्मार्थकाममोक्षाख्याः चत्वारः पुरुषार्थाः । तत्र नित्यतया मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वम्, यतः धर्मार्थकामानां पुरुषार्थत्रयाणाम् अनित्यत्वे प्रत्यक्षं श्रुतिश्च प्रमाणम् ।

परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्य साधनं तु ब्रह्मज्ञानम्, अतस्तन्निरूपणीयम् । तस्मिंश्च निरूपणीये ज्ञानविषयभूतस्य ब्रह्मणः निरूपणसाधनस्य च निरूपणमावश्यकं इति ब्रह्म, ब्रह्मज्ञानं प्रमाणं चात्र मया धर्मराजाध्वरीन्द्रेण निरूप्यते इति सरलार्थः। निरूप्यते इत्यत्र निपूर्वकरूपधात्वर्थो ज्ञानानुकूलो व्यापारः। मयेति अध्याहारः, तत्र तृतीयार्थः कर्तृकत्वम् । तच्च कृतित्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्य-तारूपम् । कृतित्वे मत्पदार्थस्य स्वाश्रिततताश्रित्वसम्बन्धेनान्वयः । जन्यत्वस्य व्यापारे स्वरूपसम्बन्धेन । निरूप्यते इत्यस्य त्रिरभ्यासः, प्रमाण-ब्रह्म-तज्ज्ञानैतत्त्रितय-विषयकस्य एकस्य निरूपणस्यासम्भवात् । तथा च ब्रह्म निरूप्यते तज्ज्ञानं निरूप्यते तत्प्रमाणञ्च निरूप्यते इत्यर्थः । रूपधात्वर्थैकदेशज्ञाने ब्रह्मतज्ज्ञानतत्प्रमाणानान्तु विषयितयाऽन्वयः। **'एवञ्च ब्रह्म निरूप्यते इति वाक्यात् स्वाश्रिताश्रितत्वसम्बन्धेन अस्मत्पदार्थविशिष्ट .तित्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्य-तावान् विषयितया ब्रह्मविशिष्टज्ञानानुकूलो व्यापारः इति शाब्दबोधः।** एवमेव तज्ज्ञानं निरूप्यते इत्यादावप्यूहनीयम् ।

व्यापारस्तूपदेशो ग्रन्थरचनात्मको विज्ञेयः। सप्रपञ्चमित्यत्र प्रपञ्चो विस्तारः, तस्य विशेषणत्वं धात्वर्थक्रियायाम् । पुण्यकृतस्यापि लोकस्य विशेषतः क्षयित्व-विवेचनं सांख्यतत्त्वकौमुद्यामवलोकनीयम् ।

पदार्थस्य लक्षणप्रतिपत्त्यधीनप्रतिपत्तिकतया लक्षणज्ञापनस्यापि च विभाजनवत् निरूपणैकदेशतया प्रमाणं लक्षयति—

तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम् ।

तत्रेत्यस्य तेष्वित्यर्थः । ब्रह्मतज्ज्ञानतत्प्रमाणेष्विति भावः । तत्रेत्यस्य प्रमाणे निरूपणीये इत्यर्थः इत्यपि वदन्ति केचित् । प्रमायाः करणं प्रमाणं इति षष्ठीसमासः । तथा च ब्रह्म तज्ज्ञानतत्प्रमाणाना मध्ये प्रमाणस्य प्रमाकरणत्वं सामान्यलक्षणमिति सरलार्थः । करणत्वं तु असाधारणकारणत्वम् । कारणतायामसाधारण्यं कार्यत्वन्यूनवृत्तिधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितत्वम् । तन्निवेशप्रयोजन धर्माधर्मात्मकादृष्टे प्रमाणलक्षणातिव्याप्तिवारणं वेदितव्यम् । प्रकृते प्रमापदसमभिव्याहारात् कार्यत्वन्यूनवृत्तिधर्मपदेन प्रमात्वस्य ग्रहणम् । तथा च प्रमात्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणत्वं प्रमाणत्वं इति लक्षणं सम्पद्यते । मनसि तु नातिव्याप्तिशङ्का, तस्य प्रमां प्रत्यपि हेतुत्वेन तन्निष्ठकारणतानिरूपितकार्यतायां प्रमात्वावच्छिन्नत्वाभावात् । एकाश्रयाश्रितावच्छेद्यावच्छेदकयोः समनियतत्वनियमाङ्गीकारात् । करणलक्षणे व्यापारवत्त्वस्य न निवेशः वैयर्थ्यात् । यत्तु लिङ्गपरामर्शेऽतिव्याप्तिवारणाय व्यापारवत्वं निवेशनीयमिति शिखामणिकृद्भिरुक्तं, यच्चेन्द्रियसन्निकर्षेऽतिव्याप्तिवारणाय तन्निवेश इति आशुबोधिन्यामुक्तं तत्तु चिन्तनीयमेव अध्वरीन्द्रैः परामर्शकारणत्वस्यैव खण्डनीयतया व्यापारवत्वांशानिवेशेऽपि तत्रातिव्याप्त्यभावात् । इन्द्रियसन्निकर्षस्य तु प्रमाणत्वाभ्युपगमेऽपि क्षत्यभावात् । प्राचीनैर्नैयायिकैरपि तथाभ्युपगमात् । तथा हि न्यायभाष्यम् :—

"यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानम्, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम् ।" इति । अयमर्थः—यदा विषयेन्द्रियसन्निकर्षः प्रमाणं तथा विषयज्ञानं प्रमा यदा तु विषयज्ञानं प्रमाणं तदा विषयधर्मिकहानोपादानोपेक्षाज्ञानं प्रमा इति । ननु "ननु चैतन्यमनादि तत्कथं चक्षुरादेः तत्करणत्वेन प्रमाणत्वमिति" ग्रन्थविरोधः, चक्षुरादेः प्रामाण्यानुपपत्तिशङ्कया चक्षुरादेः प्रामाण्याभ्युपगमसूचनात् इति चेत्, अस्वरससूचनायैव "आदिपददानात्" । तथा च—इन्द्रियसन्निकर्षस्यैव प्रमाणत्वं ग्रन्थकाराभिप्रेतम् । अत एव तदव्यवहितोत्तरमेव "तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जन्यते ।" इति ग्रन्थकृल्लेखः संगच्छते । अन्यथा इन्द्रियादिना जन्यते इत्येवोक्तं स्यात् । गौणकरणत्वाभिप्रायेण वा "कथं चक्षुरादेस्तत्करणत्वेन प्रमाणत्वं" इति ग्रन्थः ।

न च चक्षुषा पश्यतीति प्रयोगानुपपत्तिः, चक्षुषः करणत्वानभ्युपगमे तद्वाचकात् करणत्वार्थकतृतीयाभावापातात् इति वाच्यम्, हेतुत्वमात्रार्थे तृतीयाभ्युपगमात् ।

यदि च चक्षुरादेरिति यथाश्रुतपक्षपातः चक्षुरादेरित्यादिपदस्य चानुमानाद्यर्थकत्वाग्रहः, "इन्द्रियसन्निकर्षादिना जन्यते" अत्रैव च हेतौ तृतीयाभ्युपगमः तदा सन्निकर्षादिभिन्नत्वमेव निवेशनीयम्, व्यापारत्त्वापेक्षया तस्यातिलघुत्वात् । व्यापारत्वस्य तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूपतया व्याप्तिघटितजन्यताद्वयघटितत्वेनातिगुरुत्वात् । न चेन्द्रियसन्निकर्षस्य प्रमाणलक्षणलक्ष्यत्वपक्षे इन्द्रियेऽतिव्याप्तिः, तस्याप्यसाधारणकारणत्वात् इति वाच्यम्, तस्याप्रमां प्रत्यपि हेतुत्वेन तन्निष्ठकारणतायां प्रमात्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितत्वाभावात् । एवञ्च व्यापारवत्त्वनिवेशव्यासङ्गिनी प्रकाशिकापि प्रकाशमानीता वेदितव्या ।

एतेन ननु विषयेऽतिव्याप्तिः । तत्रापि प्रमाकरणत्वसत्त्वात् इत्यपि परास्तम्, तन्निष्ठकारणतायाः अपि प्रमात्वावच्छिन्नकार्यत्वानिरूपितत्वात् ।

ननु कार्यतायां प्रमात्वावच्छिन्नत्वनिवेशे असम्भवः, प्रत्यक्षादिप्रमाणानां मध्ये कस्यापि प्रमात्वावच्छिन्नयावत्प्रमां प्रति करणत्वाभावात् इति चेत्, तथा सति प्रमात्वावच्छिन्नकार्यतेत्यस्य प्रमात्वन्यूनवृत्तिधर्मावच्छिन्नकार्यतेत्यर्थकतायाः वक्तव्यत्वात् । यत्तु अन्यप्रमाणस्यान्यप्रमाणत्ववारणाय प्रमाकरणं प्रमाणमित्यत्र प्रमापदं प्रमितिविभाजकजात्यवच्छिन्नपरमिति प्रोक्तमाशुबोधिन्यां तत्त्वसमञ्जसम्, प्रमापदेन अन्यप्रमाग्रहणे तत्कारणताया एवान्यप्रमाणेऽभावात् । यदि च स्वीयप्रमाग्रहणं तदा तत्कारणतामादाय "प्रत्यक्षं प्रमाणम्", "अनुमानं प्रमाणम्", इति प्रमाणसामान्यव्यवहारस्तु इष्ट एव । अत्र प्रमाणसामान्यलक्षणस्यैव कृतत्वात् । एवञ्च प्रमात्वन्यूनवृत्तिधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताशालित्वं प्रमाणत्वं इति पर्यवसितोऽर्थः । प्रमात्वन्यूनवृत्तिधर्मः ज्ञानगतं प्रत्यक्षत्वम्, तद्धर्मावच्छिन्नकार्यता तत्रैव प्रमितौ, तादृशकार्यतानिरूपिता कारणता इन्द्रियार्थसन्निकर्षे इन्द्रिये वा, इति लक्षणसमन्वयः । एवमनुमानादिष्वपि ।

प्रमाणलक्षणस्य प्रमाघटितत्वेन प्रमात्वज्ञानं बिना प्रमाणत्वं दुरधिगमं इति किं नाम प्रमात्वमिति प्रश्नः स्वाभाविकः, तन्निरासाय प्रमात्वं लक्षणीयम् । किन्तु

प्रमात्वस्य स्मृतिसाधारण्ये विवादेन सर्ववादिसम्मतमेकं प्रमात्वलक्षणमसम्भवीति मतभेदेन लक्षणद्वयं प्रदर्शयति—

तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वमनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम् । स्मृतिसाधारणं त्वबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम् ।

तत्रेत्यत्र तत्पदेन प्रमाणलक्षणग्रहणम् । घटकत्वं सप्तम्यर्थः । तथा च प्रमाणलक्षणघटकं इत्यर्थः । प्रमात्वमित्यनेन सम्बन्धः । स्मृतेः व्यावृत्तं स्मृतिव्यावृत्तम् । व्यावृत्तिः अवृत्तित्वम्, वृत्तित्वाभाव इति यावत् । निरूपितत्वं पञ्चम्यर्थः, तथा च स्मृतिनिरूपितवृत्तित्वाभाववदित्यर्थः । अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वं तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वमित्याशयः ।

न अधिगतः अनधिगतः । न बाधितः अबाधितः । अनधिगतः अबाधितश्चासौ अर्थः अनधिगताबाधितार्थः । अनधिगताबाधितार्थो विषयो यस्य तत् अनधिगताबाधितार्थविषयकम्, तादृक् च ज्ञानं अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानम्, तत्त्वं अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम् । अनधिगतत्वं पूर्वोत्पन्नवृत्त्यात्मकज्ञानाविषयत्वम् । यदि च यत्र एकदा घटस्य प्रमात्मकोऽनुभवः, व्यवधाय दिनान्तरेऽपि च तद्घटविषयक एव द्वितीयः प्रमानुभवः, तत्र द्वितीयप्रमानुभवेऽव्याप्तिः । तस्य पूर्वदिनोत्पन्नानुभवविषयविषयकत्वेन अनधिगतत्वाभावात् इत्युच्यते, तदा पूर्वोत्पन्नज्ञानजन्यज्ञानाविषयत्वमनधिगतत्वमिति निर्वचनीयम् । तत्र प्रथमानुभवस्य द्वितीयानुभवाजनकतया निरुक्ताजन्यत्वस्य उक्तद्वितीयानुभवेऽक्षुण्णतया अव्याप्त्यभावात् । स्वपूर्वक्षणावच्छिन्नज्ञानविषयत्वमनधिगतत्वमिति केचित्, तच्चिन्त्यम् । अनधिगतपदानुक्तौ स्मृतावतिव्याप्तिः स्यात् । उक्तौ च तस्या अधिगतविषयकत्वेन अतिव्याप्त्यभावात् । फलतः अनधिगतपदानुक्तौ लक्षणस्य स्मृतिव्यावृत्तिहानिः स्यात् । अबाधितत्वं बाधाविषयत्वं, तदप्रवेशे बाधितस्य शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्यापि प्रमात्वापत्तिः । फलतः लक्षणेऽतिव्याप्तिः स्यात् अतः तत्प्रवेशः । विकल्पस्यापि स्वतंत्रवृत्तित्वाभ्युपगमपक्षे तत्रातिव्याप्तिवारणायार्थपदम् । अर्थपदप्रक्षेपे च विकल्पस्य 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इति पातञ्जलसूत्रानुसारं तस्य वस्त्वविषयकत्वेन तत्रातिव्याप्त्यभावः । विषयकत्वानुक्तौ त्वसंभव एव । आशुबोधिनी तु 'अर्थपदं स्वरूपकीर्तनमात्रम्' इति वर्णयति तच्चिन्त्यम् । मतान्तरेणापि संभवन्त्यां सार्थकतायां रूपान्तरेण निरर्थकत्वस्वीकारस्यान्याय्यत्वात् । 'अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रेति' योगसूत्रानुसारं निद्रायाः स्वतंत्रवृत्तित्वाभ्युपगमपक्षे तत्रातिव्याप्तिरतः ज्ञानपदम् । तदनुक्तौ

इच्छादौ तु नातिव्याप्तिसंभावना, अनधिगतपदेनैवेच्छाय[illegible]त् । इच्छा-प्रयत्नादीनामपि स्मृतेरिव अधिगतविषयकत्वात् । तेषामपि कारणीभूतज्ञानविषय-विषयकत्वनियमाभ्युपगमात् । शिखामणिकृतस्तु ज्ञानपदस्यानतिप्रयोजनकत्वमेव वर्णयन्ति ।

"तत्र स्मृतिव्यावृत्तम्" इत्यत्र तत्रेत्यस्य 'प्रमाणलक्षणावगमाय प्रमायां निरूपणी-यायां' इत्यर्थं निगदन्ति शिखामणिकृतः । 'प्रमाणे निरूपणीये' इति पेद्दृदीक्षिताः । स्वमतन्तु पूर्वमेवोक्तं मया ।

ननु तद्वति तत्प्रकारकानधिगतविषयकज्ञानत्वं प्रमात्वमिति नैयायिकपद्धत्यैव कथं न प्रमात्वलक्षणं निरुच्यते इति चेत्, तथा सति तत्त्वावेदकमहावाक्यजन्यबोधेऽ-व्याप्त्यापत्तेः, तस्य निर्विकल्पकतया किञ्चित्प्रकारविशेष्यकत्वाभावात् । यदुक्तमद्वैत-सिद्धौ मधुसूदनसरस्वतीस्वामिचरणैः 'श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचर' इति । धीयि अखण्डत्वं तु संसर्गाविषयकत्वरूपं निर्विकल्पकत्वमेवेति स्पष्टं प्रतिपादितं 'संसर्गाविषयकमनोवृत्तिविशेषविषयीभूत' इत्युक्तवद्भिः गौडब्रह्मानन्दपादैः । संसर्गाविषयकत्वे तु उक्तबोधस्य प्रकारत्वविशेष्यत्वानवगाहित्वं सुतरामेव ।

स्मृत्यवृत्तिप्रमात्वलक्षणमुक्त्वा स्मृतिसाधारणप्रमात्वलक्षणमाह—स्मृतिसाधारणे-त्यादि । स्मृतिसाधारण्यन्तु स्मृतिवृत्तित्वे सति स्मृतिभेदसामानाधिकरण्यम् । न बाधितः अबाधितः तादृशश्चासौ अर्थः अबाधितार्थः, सोऽस्ति विषयोऽस्य ज्ञानस्य इति अबाधितार्थविषयकं ज्ञानम् तत्त्वं इत्यर्थः । अबाधितत्वपरिष्कारः पूर्ववदवसेयः । रजतं विशेष्यीकृत्य जायमानात् 'इदं रजतम्' इत्याकारकज्ञानात्परं न भवति प्रामाणिकानां 'नेदं रजतम्' इति बाधनिश्चयः । अतस्तत्र रजतपदार्थस्याबाधिततया अबाधितार्थविषयकत्वस्य तत्रत्ये 'इदं रजतम्' इति ज्ञाने सत्त्वात् ल[illegible]ः । शुक्तौ जायमानात् 'इदं रजतम्' इति प्रातिभासिकरजतविषयकज्ञानात् परं प्रामाणिकानां नेदं रजतमिति व्यवहारभावेन तत्रत्यरजतस्य बाधिततया ज्ञानस्य बाधितार्थविषयकत्वेन अबाधितार्थविषयकत्वाभावात् नातिव्याप्ति[illegible]ति लक्षणस्य सौष्ठवम् । तत्तत्पदव्यावृत्तिः पूर्ववद् बोध्या ।

नन्वेवं सति व्यावहारिकार्थविषयकज्ञानत्वमेव प्रमात्वलक्षणमुच्यतामिति चेत् न । अहं ब्रह्मास्मीति वृत्तावव्याप्त्यापत्तेः । न च व्यावहारिकपारमार्थिकान्यतरविषयक-ज्ञानत्वमेव प्रमात्वलक्षणं वाच्यमिति वाच्यम् अन्यतरत्वस्य भेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगि-ताकभेदवत्त्वस्य गुरुशरीरस्य प्रवेशे गौरवात् । दृष्टिसृष्टिपक्षे व्यावहारिकसत्ता-

विरहेण तद्घटितलक्षणस्य निर्वक्तुमशक्यत्वाच्च । एवमपि अप्रातिभासिकार्थविषयकज्ञानत्वमेव प्रमात्वलक्षणं निर्वाच्यमिति चेत् सत्यम् । सत्ताभेदमनङ्गीकुर्वतामजानतां वा पुरतः तादृशलक्षणस्य दुरधिगमतया अन्यथा निर्वचनात् ।

अत्रेदं तत्त्वम् ये खलु प्रमाणकरणं प्रमाणमिति यथाश्रुतरीत्या प्रमाकरणत्वमात्रं प्रमाणत्वमङ्गीकुर्वन्ति तेषां मते स्मृतेः प्रमात्वाभ्युपगमे तत्करणानामनुभवानां प्रामणत्वापत्तिः न च सेष्टा, प्रत्यक्षानुमित्याद्यनुभवानां स्मृतिं प्रमात्वेनादाय तत्करणत्वस्वरूपप्रमाणत्वस्य इन्द्रियानुमानादिप्रमाणकरणकत्वरूपप्रमात्वस्य चानिरुद्धतया प्रमात्वप्रमाणत्वयोः विरोधाभावप्रसङ्गात् । कार्यत्वकरणत्वयोः विरोधस्य च सर्वानुभवसिद्धत्वेन प्रमाणत्वप्रमात्वयोर्विरोधस्य अवश्यं स्वीकर्तव्यत्वात् । अतस्ते प्रमालक्षणघटकार्थपदार्थे अनधिगतत्वं निवेश्य स्मृतेः प्रमात्वमेव खण्डयन्ति । तथा च स्मृतिकरणानामनुभवानां प्रमाणत्वाभावेन नोक्तविरोधाभावप्रसङ्गो न वा प्रमाणविभागव्याघातापत्तिः । परन्तु ये प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणे प्रमापदेन अनुभवात्मकप्रमायाः एव ग्रहणं कृत्वा प्रमानुभवकरणत्वे प्रमाणलक्षण एव अनुभवपदं प्रवेशयन्ति तेषां मते प्रमानुभवानां अनुभवकरणत्वाभावेनैव प्रमाणत्वापत्त्यसम्भवात्, प्रमात्वप्रमाणत्वयोर्विरोधाभावस्य प्रमाणविभागव्याघातस्य चाप्रसङ्गात् प्रमात्वस्य स्मृतिसाधारण्येऽपि क्षत्यभावः । इति सूक्ष्मेक्षिकयैव स्मृतिव्यावृत्त–तत्सावारण-लक्षणमुपक्षिप्तवान् तत्र भवानध्वरीन्द्रः ।

यत्र अव्यवधानेन क्रमिकैकविषयक - नानाज्ञानोत्पादः तत्र सर्वेषां ज्ञानानां समानविषयकत्वेन द्वितीयादिज्ञानानां पूर्वोत्पन्नज्ञानविषयविषयकत्वेन अधिगतविषयकत्वात् तेषु अनधिगतत्वघटितस्य प्रथमलक्षणस्याव्याप्तिः । सा क्षणभेदभिन्नस्य कालस्य प्रत्येकज्ञानविषयतां नवनवक्षणानाञ्च पूर्वपूर्वज्ञानविषयत्वेनानधिगतत्वम्, क्षणात्मकानधिगतार्थविषयकत्वञ्च धारावाहिकबुद्धिषूपपाद्य निराकर्तव्या । तत्र तार्किकैः नीरूपस्य कालस्य प्रत्यक्षाविषयत्वव्यवस्थापने तन्निराकरणं नोपपन्नं स्यात् अतः प्रथमं कालस्य प्रत्यक्षविषयत्वं व्यवस्थापयति–

नीरूपस्यापि कालस्येन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमेन–

अयं भावः नीरूपस्य सामान्यतः प्रत्यक्षाविषयत्वं चाक्षुषप्रत्यक्षाविषयत्वं वा अभिमतं तार्किकाणाम् ? आद्यं चेत् सगोत्रकलहः, रूपे व्यभिचारश्च, नीरूपस्य

वायोः स्पार्शनप्रत्यक्षस्य नव्यनैयायिकैरभ्युपगमात् । द्वितीयं चेत् रूपे व्यभिचारस्त-दवस्थः, गुणे गुणानङ्गीकारेण रूपे रूपाभावेऽपि तस्य चाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्वात् । न च विषयतासंबन्धेन द्रव्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति समवायसंबंधेन रूपं कारणमिति कार्यकारणभावाङ्गीकारात् काले रूपाभावेन चाक्षुषप्रत्यक्षाविषयत्व-मावश्यकमिति वाच्यम्, कार्यतावच्छेदककोटौ द्रव्यत्वप्रवेशे गौरवात् । यदि चानुभव-सिद्धतया गौरवमबाधकमिति प्रोच्यते, तदा इदानी घटः तदानी घटः इति प्रत्यक्षस्य सर्वानुभवसिद्धत्वेन इदानी इदानी इत्यादिरूपेण कालस्य प्रत्यक्षविषयत्वस्वीकारः आवश्यकः । न वयं वेदान्तिन एव कालस्य प्रत्यक्षविषयतां ब्रूमः, अपितु त्वत्सगोत्रा नव्यनैयायिका अपि कालप्रत्यक्षं स्वीकुर्वन्त्येव । तथा चानुभवितुराधिक्यात् अनुभवाधिक्येन नीरूपवाय्वादिप्रत्यक्षानुभववत् कालप्रत्यक्षानुभवस्त्वदनुभवापेक्षयाऽ-दुर्बल इति न त्वदनुभवसिद्धः विषयतया प्रत्यक्ष चाक्षुषप्रत्यक्षं वां प्रति समवायेन रूपं कारणमिति कार्यकारणभावः स्वीकार्यः ।

इन्द्रियेण वेद्यत्वं इन्द्रियवेद्यत्वं तस्याभ्युपगमः इन्द्रियवेद्यत्वाभ्युपगमः, तेन । इन्द्रियेण इत्यत्र तृतीया करणार्थे । वेद्यत्वघटकवेदनपदार्थे तदन्वयः । वेद्यत्वं वेदन-विषयत्वम् । अभ्युपगमः स्वीकारः । तथा च इन्द्रियकरणक-ज्ञानविषयत्वस्वीकारेण इति वाक्यार्थः । इन्द्रियकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षविशेषः । धारावाहिकी बुद्धिः धारावाहिक-बुद्धिः, तस्याः । बुद्धौ धारावाहिकत्वञ्च स्वाव्यवहितपूर्व-स्वाव्यवहितोत्तरान्य-न्यतरसंबन्धेन ज्ञानविशिष्टत्वम्, न तु अव्यवहितपूर्वापरीभावोत्पन्नज्ञानगतबहुत्वम् अव्यवहितोत्पन्नज्ञानद्वयासंग्रहेण तत्राव्याप्तितत्परिहारानुक्त्या ग्रन्थकर्तु-र्न्यूनतापातात् ।

द्वितीयादिज्ञानानाम् अनधिगतविषयकत्वं सम्पाद्य अव्याप्त्यभावं ख्यापयति—

धारावाहिक-बुद्धेरपि पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्तत्क्षणविशेषविषयकत्वेन न त्वव्याप्तिः ।

न विषयः अविषयः पूर्वपूर्वज्ञानानामविषयः पूर्वपूर्वज्ञानाविषयः तादृशश्चासौ तत्तत्क्षणविशेषः पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्तत्क्षणविशेषः, सोऽस्ति विषयो यस्याः सा पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्तत्क्षणविशेषविषयका, तत्त्वेन इत्यर्थः । अयं भावः सर्वत्र ज्ञानानां न केवलं घटपटादियत्किञ्चित्वस्तुविषयकत्वम् अपि तु यस्मिन् क्षणे ज्ञानमुत्पद्यते तत्क्षणविशिष्टघटादिवस्तुविषयकत्वम् । तथा च घटादियत्किञ्चिदेकविषयकाणा-

मपि क्रमिकक्षणोत्पन्नानां ज्ञानानां भिन्नभिन्नक्षणविशिष्टघटविषयकत्वेन अनधिगतविषयकत्वमव्याहतम् । अवच्छेदकभेदे अवच्छेद्यभेदध्रौव्यात् । एकत्वेन प्रत्यभिज्ञायमानस्यापि घटस्य ज्ञानोत्पत्तिक्षणात्मकावच्छेदकभेदेन भेदाभ्युपगमस्य युक्तिसिद्धत्वात् । एवञ्च न धारावाहिकबुद्धावव्याप्तिः ।

तथा चायं सरलार्थः—ननु धारावाहिज्ञानान्तर्गतद्वितीयादिज्ञाने स्मृत्यवृत्तिप्रमात्वलक्षणाव्याप्तिः, तस्य ज्ञानस्य पूर्वज्ञानविषयविषयत्वेन अधिगतार्थविषयकतया अनधिगतार्थविषयत्वाभावात् इति चेत् न । ज्ञाने घटादिविषयस्येव ज्ञानोत्पत्तिक्षणस्यापि भानाभ्युपगमेन उत्तरक्षणस्य पूर्वज्ञानाविषयतया तद्विशिष्टघटादेरपि अनधिगतत्वेन ज्ञानस्यानधिगतार्थविषयकत्वोपपत्तेः । न च कालात्मकस्य क्षणस्य रूपरहितत्वेन प्रत्यक्षाविषयतया तं विशेषणत्वेनादाय तद्विशिष्टघटादेरनधिगतत्वं संपाद्य ज्ञाने अनधिगतार्थविषयकत्वव्यवस्थापनमयुक्तमिति वाच्यम् । नीरूपवाय्वादेरिव कालस्यापि प्रत्यक्षविषयत्वाभ्युपगमात् । तादृशस्य चाभ्युपगमस्य नव्यनैयायिकैरपि समादरणीयतया अनुभवसिद्धत्वादापत्तेरभावात् इति । कालवदाकाशप्रत्यक्षापत्तिरिष्टैव, इहाकाशे वलाकेतिप्रतीतेः ।

ननु विषयतासंबधेन प्रत्यक्षत्वाच्छिन्नं प्रति समवायसामानाधिकरण्यान्यतरसंबन्धेन उद्भूतरूपस्पर्शान्यतरत्वेन कारणतेति कार्यकारणभावाङ्गीकारे रूपवाय्वादिप्रत्यक्षे व्यभिचारवारणसंभवात् धारावाहिकबुद्ध्यव्याप्तिर्दुर्वारा अयं भाव वायौ उद्भूतस्पर्शः समवायेन तिष्ठति, अतः तस्य स्पार्शनप्रत्यक्षे बाधकाभावः, स्वसामानाधिकरण्यस्वस्मिन्नक्षततया रूपेऽपि उद्भूतरूपं सामानाधिकरण्यसंबंधेन अस्तीति तत्प्रत्यक्षेऽपि न काचित् बाधा । परन्तु काले उद्भूतरूपं स्पर्शो वा न समवायेन न वा सामानाधिकरण्येन अस्तीति तस्य इन्द्रियवेद्यत्वम् अभ्युपेत्य द्वितीयादिज्ञानेऽनधिगतविषयकत्वसम्पादनयुक्ताव्याप्तिवारणमसंगतम् इत्यत आह—

किञ्च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः । किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावत् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव न तु नाना । वृत्तेः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात् । तथा च तत्प्रतिफलितचैतन्यरूपं घटादिज्ञानमप्येकमेवेति नाव्याप्तिशङ्कापि ।

सिद्धान्ते = वेदान्तसिद्धान्ते । ज्ञानस्य भेदो ज्ञानभेदः । घटस्य स्फुरणं घटस्फुरणम् । स्फुरणं स्फूर्तिः विषयत्वमिति यावत् । घटस्य इत्यत्र षष्ठ्यर्थो निष्ठत्वम् । तथा च यावद्घटस्फुरणमित्यस्य विषयता यावत्कालं घटनिष्ठा भवति इत्यर्थः । अन्तःकरणस्य वृत्तिः अन्तःकरणवृत्तिः, घटाकारा अन्तःकरणवृत्तिः घटाकारान्तःकरणवृत्तिः । वृत्तिः परिणामः । नानाभावमुपपादयति वृत्तेः स्वविरोधीत्यादिना । स्वस्य विरोधिनी स्वविरोधिनी, तादृशी च वृत्तिः स्वविरोधिवृत्तिः, तस्या उत्पत्तिः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिः, तत्पर्यन्तम् । स्थायित्वस्य अभ्युपगमः स्थायित्वाभ्युपगमः तस्मात् । स्थायित्व एकत्वम्, तस्य अभ्युपगमः स्वीकारः । वृत्तेरेकत्वेऽपि ज्ञानस्य कथं एकत्वं इत्याशङ्क्याह तथा चेति । तत्र प्रतिफलितं तत्प्रतिफलितं, तादृक् च चैतन्यं तत्प्रतिफलितचैतन्यं तद्रूपम् अर्थात् तदात्मकं यद् घटादेर्ज्ञानम् । अव्याप्तेः शङ्का अव्याप्तिशङ्का । तथा चायमर्थः यावत्कालपर्यन्तं घटादौ एका विषयता तिष्ठति तावत्कालपर्यन्तं इन्द्रियप्रणालिकया बहिर्निःसृत्य घटादिविषयाकारतामादधानस्य तैजसस्यान्तःकरणस्य परिणामात्मिका वृत्तिः एकैव स्वीकार्या, अनेकत्वे व्यर्थं गौरवापातात् । वृत्तेरेकत्वे च तत्प्रतिबिम्बितं चैतन्यात्मकं ज्ञानमपि लाघवात् युक्तिसिद्धत्वाच्च एकमेव स्वीकार्यम् । तथा च तद्विषयस्यानधिगतत्वेन ज्ञाने अनधिगताबाधितार्थविषयकत्वस्याक्षतेः अव्याप्तेरभावः ।

ननु वृत्तेः परिणामरूपत्वे तत्र चैतन्यस्य प्रतिफलतासंभवः अवस्थायाः अद्रव्यत्वात् अस्वच्छत्वाच्च इति चेत्, सत्यम्, पूर्वोक्तान्तःकरणपरिणामेत्यस्य परिणामात्मकमन्तःकरणमर्थो बोध्यः । तथा च तैजसे स्वच्छे च तत्र प्रतिफलनस्य संभवात् । समानविषयके व्यवहिते द्वितीयज्ञानादौ अव्यवहितपूर्वोक्तदिशैव निराकार्या अव्याप्तिः ।

द्विविधप्रमात्वलक्षणघटकं यदबाधितत्वं तस्य पारमार्थिकसत्त्वाभावरूपतामभिमत्य लक्षणद्वयस्य अव्याप्तिमाश ङ्कते—

ननु सिद्धान्ते घटादेर्मिथ्यात्वेन बाधितत्वात् कथं तज्ज्ञानं प्रमाणम् ?

सिद्धान्ते—वेदान्तसिद्धान्ते । मिथ्यात्वेन अध्यस्तत्वेन । बाधितत्वात् पारमार्थिकत्वाभावात् । तस्य ज्ञानं तज्ज्ञानं घटज्ञानमित्यर्थः । प्रमाणं प्रमा । तथा चायम्

प्रश्नाशयः यत्,यद् अध्यस्तं न कथमपि तत् परमार्थसत् भवितुमर्हति। एवञ्चेत् प्रपञ्चमात्रस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन पारमार्थिकत्वाभावरूपं बाधितत्वं प्रपञ्चान्तःपातिनो घटादेः अबाधितम् इति घटादिज्ञानस्य बाधितार्थविषयकत्वेन अबाधितार्थविषयकज्ञानत्वस्वरूपं अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वस्वरूपं वा प्रमात्वलक्षणं तत्र तत्राव्याप्तम्, इत्यव्याप्तिदोषदुष्टतया कथं प्रोक्तलक्षणयोः साधुता ? इति।

प्रकृते बाधितत्वं न केवलं पारमार्थिकत्वाभावरूपं विवक्षितं अपि तु व्यावहारिक-सत्त्वाभावसमानाधिकरणपारमार्थिकत्वाभावरूपम्, प्रातिभासिकसत्त्वरूपं वा इत्याशयेन दोषमुद्धरति—

उच्यते, ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं हि घटादीनां बाधः। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्कं केन पश्येत्" इति श्रुतेः। न तु संसारदशायां, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितरः इतरं पश्यति' इति श्रुतेः। तथा चाबाधितपदेन संसारदशायामबाधितत्वं विवक्षितमिति न घटादिप्रमायामव्याप्तिः।

उच्यते इत्यस्य मयेत्यादिः। कारकपदं विना क्रियापदस्य बोधासामर्थ्यात्। ब्रह्मणः साक्षात्कारो ब्रह्मसाक्षात्कारः, तस्य अनन्तरं इति ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरम्। बाध इत्यनन्तरं भवतीत्यध्याहारः पूर्वोक्तहेतोः। बाधः—ब्रह्मात्मकाधिष्ठाने अध्यस्तत्वनिश्चयः। श्रुतौ यत्रेत्यस्य यदेत्यर्थः। यस्यामवस्थायामिति फलितोऽर्थः। सर्व=भिन्नतया अवभासमानः प्रपञ्चः, आत्मैवाभूत्=अध्यासाधिष्ठानभूतात्मदृष्टि-विषयताङ्गतः, अर्थात् अधिष्ठानभूतस्य आत्मन एव दर्शनेन दृष्टिविषयत्वाभाववान् जातः। तत्=तदा कं=घटादिविषयं, केन=करणेन पश्येत् ? इत्यर्थः। न तु इत्यत्र तुकारो भिन्नक्रमः। घटादीनां बाध इत्यनुषङ्गः तथा च संसारदशायां न तु बाध इत्यन्वयः। दशा=अवस्था। यत्र हीत्यादिश्रुतौ पूर्वश्रुतिवत् यत्रेत्यस्य यदेत्यर्थः। द्वैतमिवेत्यत्र सादृश्यार्थक इवशब्दो द्वैतस्यापारमार्थिकत्वद्योतनाय। पूर्ववत् तदित्यस्य तदेत्यर्थः। इतरः इतरं पश्यतीत्यस्य द्रष्टृदृश्यभावो भवतीत्यर्थः। फलितार्थं वक्ति तथा चेति। संसारदशा=अज्ञानकालः एवञ्चाबाधितत्वघटकबाधे अज्ञानकालिकत्वविशेषणं देयं इति सरलार्थः।

तथा चायं भावः, सत्यं घटादीनां बाधितत्वम्, किन्तु न संसारदशायां, अपि तु 'अहं ब्रह्मास्मीति' वृत्त्यात्मकब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरम् । अन्यथा 'यत्र त्वस्य' 'यत्र हि द्वैतमि' त्यादिश्रुतिविरोधापातात् । लक्षणद्वये च सांसारिक-बाधाविषयत्व रूपमेवाबाधितत्वम् अर्थात् व्यावहारिक-पारमार्थिकान्यतर-सत्ताव[illegible] प्रविष्टम् । तथा च क्वाव्याप्तिः ? व्यावहारिकसत्त्वस्य घटादौ सत्त्वेन तेषामप्य-बाधितत्त्वात्, घटादिज्ञानस्याबाधितार्थविषयकज्ञानत्वाक्षतेरव्याप्त्यभावः । तथा च अनुभवाजन्यज्ञानविषयत्वसमानाधिकरणव्यावहारिक - पारमार्थिकान्यतर-सत्त्ववदर्थ-विषयकज्ञानत्वं स्मृतिव्यावृत्तस्य प्रमात्वस्य, व्यावहारिकपार[illegible]रसत्त्व-वदर्थविषयकज्ञानत्वं स्मृतिसाधारणस्य प्रमात्वस्य लक्षणम् । यदि च अन्यतरत्व-प्रवेशे गौरवबोधः तदा व्यावहारिक-पारमार्थिक-सत्त्वान्यतरवत्वस्थले प्रातिभासिक-सत्त्वाभावरूपमेवाबाधितत्वम् अर्थविशेषणं बोध्यम् । एतेन दृष्टिसृष्टिकल्पे व्यावहारिकसत्तानभ्युगमात् व्यावहारिकसत्त्वघटितमबाधितत्वं दु[illegible] परास्तम् ।

यद्वा ननु दृष्टिसृष्टिवादे व्यावहारिकसत्ताया अभावेन घटादेरपि प्राति-भासिकतया शुक्तिरूप्यवन्मिथ्यात्वेन बाधितत्वात् घटादिधारावाहिकबुद्धेरपि प्रमात्वलक्षणालक्ष्यतया तत्राव्याप्तिदानम्, कालस्य प्रत्यक्षताम्, [illegible] षयताम-भ्युपेत्य, धारावाहिकबुद्धीनमेकत्वं वा स्वीकृत्य तद्वारणं सर्वमेवासङ्गतम् इत्यभिप्रायेण आशङ्कितम् 'ननु सिद्धान्ते घटादेर्मिथ्यात्वेनेत्यादि' । श्रुतिसाहाय्येन प्रतिकर्मव्यवस्थामभ्युपेत्य दृष्टिसृष्टिपक्षानादरेण व्यावहारिकसत्तां पुरस्कृत्य समाहितम्, उच्यते, इत्यादिना, इत्यभिनवः पन्थाः । व्याख्या पूर्ववद् बोध्या ।

ननु विषयसन्निकर्षस्थलविशेषे अध्वरीन्द्रेणापि अन्यथाख्यात्यभ्युपगमात् तस्याश्च व्यावहारिकसद्विषयकत्वेन तत्र प्रमात्वलक्षणद्वयातिव्याप्तिः दुर्वारा, अबाधितार्थ-विषयकत्वस्याक्षतेः इति चेत् सत्यम् । तथा सति अविद्यातिरिक्तदोषाजन्यत्वेनापि ज्ञानं विशेषणीयम् तस्या आगन्तुकदोषजन्यतया तदजन्यत्वस्वरूपाविद्यातिरिक्त दोषाजन्यत्वाभावेन अतिव्याप्तेर्वारणात् ।

अभियुक्तोक्तिमुपक्षिपति—

तदुक्तं—

देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥

देहे आत्मप्रत्ययः देहात्मप्रत्ययः । देहविशेष्यक: आत्मत्वप्रकारकः प्रत्ययः । प्रत्ययो ज्ञानम् । अथवा आत्मनः प्रत्ययः आत्मप्रत्ययः, देहेन आत्मप्रत्ययः देहात्मप्रत्ययः । वैशिष्ट्ये तृतीया । तथा च देहविशिष्टतया आत्मप्रत्ययः इत्यर्थः । यद्वा देहो देहधर्मः स्थौल्यकार्श्यादिकम्, तद्विशिष्टतया आत्मप्रत्ययो देहात्मप्रत्ययः । 'अहं स्थूलः' 'अहं कृशः' इत्यादि प्रत्यय इति फलितोऽर्थः । यद्वत् = यथा । प्रमाणत्वेन = प्रमात्वेन । कल्पितः = निश्चितः, स्वीकृत इति यावत् । सर्वैरिति शेषः । तद्वत् = तथा । लौकिकं अर्थात् व्यावहारिकं इदं घटादिज्ञानम्, आ आत्मनिश्चयात् = आत्मनिश्चयपर्यन्तं, फलतः ब्रह्मसाक्षात्कार-पर्यन्तं प्रमाणम् अर्थात् प्रमा एव भवतीति शेषः ।

अयं भावः अज्ञानावस्थायां यथा अहं गौरः अहं कृशः इत्यादिज्ञानमपि प्रमा अभ्युपेयते, तथा ब्रह्मसाक्षात्कारात् प्राक् जायमानम् 'अयं घटः, अयं पटः अयं मठः' इत्यादिज्ञानमपि प्रमैव भवति । ज्ञाने प्रमात्वम् अप्रमात्वञ्च आपेक्षिकमाभ्युपयते । ऐकात्म्यज्ञानापेक्षया अयं घटः इत्यादिज्ञानानाम् अप्रमात्वेऽपि शुक्तौ 'इदं रजतं', इति शुक्तिरूप्यज्ञानापेक्षया प्रमात्वमभ्युपेतं इति गूढाशयः ।

'आत्मनिश्चयात्' इत्यत्र आ आत्मनिश्चयात् इति विग्रहं स्पष्टयति ब्रह्मात्म-निश्चयादित्यादि । लौकिकमित्यस्य लौकिकसन्निकर्षजन्यार्थकत्वे अलौकिकप्रत्यक्षस्य अनुमित्यादेश्च प्रमात्वमबोधितं भवेत् अतः लौकिकं इत्यस्यार्थमाख्यापयति टादीति ।

उद्दिष्टस्य लक्षणं लक्षितस्य विभागवचनम् इत्यभियुक्तोक्त्यनुसारं प्रमाण-लक्षणानन्तरं अवान्तरधर्मपुरस्कारेण कथनात्मकं विभागं करोति तानि चेत्यादि । अवान्तरधर्म्मो व्याप्यधर्म्मः । प्रकृते प्रामाणत्वव्याप्यधर्म्माः प्रत्यक्षत्वादयः :-

तानि च प्रमाणानि षट् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धि-भेदात् ।

प्रत्यक्षानुमानेत्यत्र द्वन्द्वः समासः । "द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंवद्ध्यते" इति नियमात् भेदादित्यस्य . प्रत्येकमन्वयः । तथा च प्रत्यक्ष भेदात् अनुमानभेदात् इत्येवमन्वयः प्रमाणानि षट् इत्येव पाठः शोभनः तानि चेत्यस्य वैयर्थ्यात् । पूर्वं यत्पदाश्रुतेः तानीतिनित्यसापेक्षतत्पदप्रयोगस्यासंगतेश्च ।

यदि च प्रकृततत्पदस्य प्रसिद्धार्थकता ततो नासंगतिरित्युच्यते तथापि न साधुता । यतः तर्हि अप्रसिद्धानामन्येषां प्रमाणानां स्वीकृतिसूचनापातः । अशंखचक्रो हरिरिति कथनेन सशंखचक्रस्य हरेरन्यत्रसत्त्वसूचनमिव अत्रापि अप्रसिद्ध-प्रमाणास्तित्वसूचनमबाधितं स्यात् । तच्चानिष्टम् ।

ज्येष्ठत्वात् प्रमाणान्तरोपजीव्यत्वेन श्रेष्ठत्वात् सर्ववादिनामविप्रतिपत्तिकत्त्वाच्च प्रथमं प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणमुपक्षिपति—

तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् । तत्रेत्यस्य तेषु प्रत्यक्षादिषु प्रमाणेषु मध्ये इत्यर्थः,

प्रत्यक्षमेव प्रमा प्रत्यक्षप्रमा, तस्याः, प्रत्यक्षप्रमायाः प्रत्यक्षात्मिकायाः प्रमायाः इत्यर्थः । करणलक्षणं तु पूर्वमेव प्रतिपादितम् । तथा च प्रत्यक्ष-प्रमात्वावच्छिन्न-कार्यता-निरूपितकरणत्वं प्रत्यक्षप्रमाणत्वम् । इन्द्रियसन्निकर्षस्य प्रत्यक्षप्रमाणत्वं नानिष्टमित्यादिकं पूर्वस्मादनुसंधेयम् । लक्षणे प्रत्यक्षपदानुक्तौ अनुमानादावतिव्याप्तिः, अनुमित्याद्यात्मकप्रमायाः करणत्वस्य अनुमाना-दावक्षतेः । प्रमापदानुक्तौ प्रत्यक्षप्रमाणकरणस्यापि प्रत्यक्षप्रमाणत्वभ्रमापत्तिः, अतस्तदुक्तिः । करणत्वमपहाय कारणत्वमात्रप्रवेशे कालादिसाधारणकारणा-नामपि प्रत्यक्षप्रामाण्यापत्तिः । तन्निवेशे च करणत्वस्यासाधारणत्वघटिततया कालादावसाधारणकारणत्वविरहेणापत्तेरभावात् ।

ननु शब्देऽतिव्याप्तिः, महावाक्यात्मकशब्दात् प्रत्यक्षात्मक - प्रमाभ्युपगमेन प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वस्य तादृशशब्देऽपि सत्त्वात्, इति चेत् इष्टत्त्वात् । यदि च महावाक्यजबोधस्य प्रत्यक्षप्रमात्वेऽपि महावाक्स्य प्रत्यक्षप्रमाणत्वम् आगमत्व प्रत्यक्षत्वयोः विरोधानुभवबाधिततया न रुचिविषयं तदा प्रत्यक्षप्रमायां महावाक्यज - बोध - भिन्नत्वं विशेषणं देयम् । यत्तु इन्द्रियार्थ - सन्निकर्षजं ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमेति तार्किकलक्षणमभिप्रेत्य प्रत्यक्ष - प्रमाणलक्षणकरणं ग्रन्थकर्तु रिति तदसत्, अव्यवहितोत्तरमेव प्रत्यक्षप्रमा तु आत्मचैतन्यमेवेति प्रतिपादनात् ।

ननु प्रत्यक्षप्रमायाः ज्ञानं विना तत्करणतापन्नं प्रत्यक्षप्रमाणं दुरधिगमम् अतः प्रथमं प्रत्यक्षप्रमैव लक्षणीया, तदभावे कुतः प्रत्यक्ष - प्रमाण - ज्ञानम् ? अत आह—

प्रत्यक्षप्रमात्वत्र चैतन्यमेव ।

एवकारः अन्ययोगव्यच्छेदार्थः । व्यवच्छेद्यभूतोऽन्यपदार्थ :— इन्द्रियार्थ-मन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमितिसूत्र-सूचिनः इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य-ज्ञान-पदार्थः । तथा च इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य-ज्ञानत्व प्रत्यक्षप्रमात्वमिति न प्रत्यक्षलक्षणम् । अपि तु आत्मचैतन्यमेवेति भावार्थः । न चात्र बीजाभावः "तदैक्षत" इति श्रुति-सिद्धे महावाक्यजे च प्रत्यक्षे अव्याप्त्यापत्तेः । अकरणकत्वेन पूर्वस्य, शब्दकरणकत्वेन चापरस्य इन्द्रियार्थ - सन्निकर्षजत्वाभावात् । न च तर्हि ज्ञानाकरणक - ज्ञानत्वं प्रत्यक्ष-प्रमात्वमित्येव लक्षणमास्ताम्, उभयोर्ज्ञानकरणकत्वाभावेन ज्ञानाकरणक - ज्ञानतया लक्षणसंगमनादिति वाच्यम्, आत्मचैतन्येऽव्याप्त्यापत्तेः । किञ्च ज्ञानाकरणकं ज्ञानमित्यत्र उत्तरज्ञानपदेन किमभिप्रेतम् ? वृत्त्यात्मकं ज्ञानं स्वरूपज्ञानं वा ? आद्यञ्चेत् आत्मचैतन्ये अव्याप्तिः, तस्य वृत्त्यनात्मकत्वात् । द्वितीयञ्चेत् विशेषण-वैयर्थ्यम् ।

ननु चैतन्यस्य प्रत्यक्षप्रमात्वमेवाप्रामाणिकम् इत्याशंक्य श्रुति-प्रमाणेन तस्य प्रत्यक्ष-प्रमात्वं साधयितु श्रुतिमुपन्यस्यति—

यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म इति श्रुतेः । अपरोक्षादित्यस्यापरोक्ष-मित्यर्थः ।

यत् साक्षादपरोक्षं तद् ब्रह्म इति श्रुत्यर्थः । साक्षादित्यस्य प्रत्यक्षज्ञानम-पुरस्कृत्य इत्यर्थः । तेन विषयसाधारणप्रत्यक्षत्वव्युदासः । विषय - प्रत्यक्षत्वस्य ज्ञानगत - प्रत्यक्षत्वप्रयुक्तत्वात् । ननु पंचम्यन्तात् अपरोक्षशब्दात् कथं प्रथमान्त-ब्रह्मपदबोध्यस्य आत्मचैतन्यस्य अपरोक्षरूपत्वं लब्धुं शक्यम् ? इत्यत आह अपरोक्षादित्यस्य अपरोक्षमित्यर्थ इति । प्रथमार्थे एव पंचमीप्रयोग इति भावः । अपरोक्षत्वं प्रत्यक्षत्वम् ।

यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मेति श्रुत्या ब्रह्मापरपर्यायस्य नित्य-ब्रह्मचैतन्यस्य प्रत्यक्ष-प्रमाणरूपताया स्वीक्रियमाणायां प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणस्यासंभवः । नित्यपदार्थं प्रति करणासंभवेन चक्षुरादीनां नित्य - चैतन्यात्मकप्रमां प्रति करणत्वासंभवात् । इत्याशयेन शङ्कते—

ननु चैतन्यमनादि तत्कथं चक्षुरादेः तत्करणत्वेन प्रमाणत्वम् ?

अत्र यद्यपि प्रमायाः करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्य - लक्षणस्याप्यव्याप्तिः वक्तुमुचिता । तदभावात् ग्रन्थकर्तुर्न्यूनता दुर्वारा, तथापि विशेषलक्षणासंभवस्य सामान्यलक्षणाव्याप्तिव्याप्यता स्वाभाविकी इति कैमुतकन्यायसिद्धैव सामान्यलक्षणाव्याप्तिरित्यभिप्रेत्य प्रत्यक्षलक्षणासंभव एवात्र दर्शितः ।

केचित्तु कथं चक्षुरादेः तत्करणत्वेन प्रमाणत्वमिति प्रामाणस्यैव प्रतिक्षेपणात् प्रमाण-सामान्य-लक्षणासंभव एव ग्रन्थतात्पर्यम् । अन्यथा कथ चक्षुरादेः तत्करणत्वेन प्रत्यक्षप्रमाणत्वमित्येवोक्तं स्यादिति वदन्ति । तदसत्, एवं सति प्रमाण-सामान्यविचारावसर एव प्रकृतविचारस्य उचिततया तथापि ग्रन्थकर्तुर्न्यूनतायाः अपरिहार्यत्वात् । चक्षुरादेरित्यत्रादिपदेन घ्राणादीनामुपग्रहः । तत्करणत्वेन = प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वेन । तृतीयार्थः प्रयुक्तत्वम्, तस्य प्रमाणत्वपदार्थे अन्वयः । प्रमाणत्वमित्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणत्वमित्यर्थः । तथा च कथं चक्षुरादीनां प्रत्यक्ष-प्रमाणत्वमिति शङ्का-ग्रन्थार्थः ।

शङ्कां निरस्यति–

उच्यते, चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यंजकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षादिना जायते इति वृत्तिविशिष्टचैतन्यमादिमदित्युच्यते ।

अनादेर्भावः अनादित्वं नित्यत्वमित्यर्थः । अनादेः प्रागभावस्य ध्वंसप्रतियोगित्वेनानित्यतया अनादित्वनित्यत्वयोरभेदासंभव इति तु नाशंकनीयम् । सिद्धान्ते प्रागभावानगीकारात् । तस्याभिव्यंजिका तदभिव्यंजिका, अन्तःकरणस्य वृत्तिः अन्तःकरणवृत्तिः । तदभिव्यञ्जिका चासौ अन्तःकरणवृत्तिः तदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिः । तत्पदेन चैतन्यस्य ग्रहणम्, तथा च तदभिव्यञ्जकेतिपदस्य चैतन्याभिव्यञ्जकेत्यर्थः । इन्द्रियञ्च अर्थश्च इति इन्द्रियार्थौ, तयोः सन्निकर्षः, इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, तदादिना इत्यर्थः । जायते इत्यत्र जातिः उत्पादः । आदिपदेन सन्निकर्ष द्वारीकृत्य कारणतामादधतां इन्द्रियाणां संग्रहः । सन्निकर्षादिनेत्यत्र तृतीया करणत्वे हेतुमात्रे वेति विचारः पूर्वोक्तो वेदितव्यः । इतिशब्दो हेतुवाची । वृत्तिभिर्विशिष्टं वृत्तिविशिष्टम्, तादृक् च चैतन्यं वृत्तिविशिष्टचैतन्यम् । वैशिष्ट्यमवच्छिन्नत्वम्'

तथा च वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमित्यर्थः । आदिमत् = सकारणकम् । इत्युच्यते इत्यत्र इतिशब्दो एवमर्थः । उच्यते इत्यस्य उपचर्यते इत्यर्थः । तथाचायं "उच्यते" इत्यादिग्रन्थभावार्थ :—

सत्यं यद्यपि चैतन्यमनाद्येव इति निरवच्छिन्नस्य तस्य न किञ्चित्करणकत्वम् । तथापि याभिरन्तःकरणवृत्तिभिः तदभिव्यज्यते, अभिव्यञ्जिकानां तासामिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायमानत्वेन सादितया, सादिभूत - तादृश - वृत्तिविशिष्ट चैतन्यमपि भजते "आदिमत्" पदव्यवहारमिति व्यावहारिकं सादित्वं तत्र वक्तव्यमेव । सति चैवं तत्करणत्वमपि व्यावहारिकमर्हत्येव भवितुमिन्द्रियाणाम्, तत्सन्निकर्षाणां वा, इति प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वस्य तत्राक्षतेः न प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणासंभवः प्रमाणसामान्यलक्षणाव्याप्तिर्वेति ।

अभियुक्तोक्तिप्रदर्शनपूर्वकं प्रकृतोपयोगिनीं चैतन्यावच्छेदकतां व्यवहारेण द्रढयति—

ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे— "अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात् ।" इति ।

ज्ञानं चैतन्यं तदवच्छेदकत्वात् । उपचारः व्यवहारः । तथा च वृत्तौ व्यावहारिकं ज्ञानत्वमिति सरलार्थः । विवरणे = पञ्चपादिकाविवरणाख्यग्रन्थे । एतेन वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारस्वीकारेऽपि न प्रकृतसिद्धिः, शुक्तौ रजतत्वोपचारेऽपि ततो राजतकार्यानिष्पादात् इति परास्तम् । प्रकृते औपचारिकत्वस्य व्यवहारिकत्वपर्यवसिततया शुक्तिरूप्ये तादृग्रूपत्वे वा व्यावहारिकत्वाभावात् । दृष्टान्तदार्ष्टन्तिकयोः सामग्र्याभावात् ।

चैतन्याभिव्यञ्जिका अन्तःकरणवृत्तिः, तस्याः सादित्वात् चैतन्येऽपि तदवच्छिन्ने सादित्वमौपचारिकमित्युक्तं, तत्र का नाम वृत्तिः ? तस्याः परिस्पन्दात्मकत्वे "अन्तःकरणं घटाद्याकारेण परिणमते" इति स्वसिद्धान्तविरोधः । परिणामरूपत्वे तु अन्तःकरणवृत्ति - शब्दस्य बाधितार्थत्वम् । नित्यस्य परमाणुपरिमाणस्य मनसः एवान्तःकरणपदार्थतया निरवयवस्य तस्य परिणामासंभवात् इत्याशयेन शङ्कते—

ननु निरवयवस्यान्तःकरणस्य परिणामात्मिका वृत्तिः कथम् ?

तथा चायं प्रश्नाशय :— अन्तःकरणम् अपरिणामि, निरवयवद्रव्यत्वात् इत्यनुमानेन अन्तःकरणस्य परिणामित्वसिद्धौ परिणामात्मिकायाः तद्वृत्तेरभावात् "वृत्तेः सादिता, तया च तद्विशिष्टचैतनस्यौपचारिकी सादिता, तत्-करणतया इन्द्रियादेः प्रामाण्यम्" इत्यादि सर्वमेवाकुलितमिति ।

अन्त.करणमपरिणामि निरवयवद्रव्यत्वात् इत्यत्र स्वरूपासिद्धिमुद्भाव्य समाधत्ते—

इत्थम्, न तावत् अन्तःकरणं निरवयवम् सादिद्रव्यत्वेन सावयवत्वात् ।

अयं भाव :— अन्तःकरणं सावयवं सादिद्रव्यत्वात् इत्यदुष्टेनानुमानेन अन्तःकरणस्य सावयवत्वसिद्धौ सावयवस्य च द्रव्यस्य परिणामसंभवात् संभवितुमर्हति तस्य परिणामात्मिका वृत्तिः, तया चावच्छेदमप्यर्हति चैतन्यम्, इति तत्करणतया इन्द्रियस्य प्रमाणत्वमनाकुलम् ।

अन्तःकरणस्य सादित्वासिद्धौ सादिद्रव्यत्वात्मकविशिष्टहेतो : पक्षे असिद्धतया "अन्तःकरणं सावयवम् सादिद्रव्यत्वात्" इत्यनुमानमपि स्वरूपा-सिद्ध्यात्मक - दोषग्रस्तमेवेति पूर्वोक्ता सर्वा आकुलता तदवस्थैव, अतः मनोपर-पर्यायस्य अन्तः करणस्य सादित्वं श्रुत्या समर्थयति—

सादित्वञ्च "तन्मनोऽसृजत" इत्यादिश्रुतेः ।

तत् = ब्रह्म, मनः असृजत सृष्टवत् इति श्रुत्यर्थः । मनः पदस्य प्रकृते द्वितीयान्ततया ब्रह्म मनस. सृष्टिञ्चकार इति भावार्थः ।

"ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः" इत्यनेन वृत्ते; गौणं ज्ञानत्वमिति प्रतिपादितम् । अन्तःकरणस्य ज्ञानात्मिका वृत्तिरित्यनेन ज्ञानस्य अन्तःकरण-धर्मत्वं प्रतिपादितम्, तदसङ्गतम् । ज्ञानस्यान्तःकरणधर्मत्वे प्रमाणाभावात् इत्यत आह—

वृत्तिरूपज्ञानस्य मनोधर्मत्वे च कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा, धृतिरधृतिः ह्रीः धीः भीः सर्वं मन एव" इति श्रुतिर्मानम् ।

कामः कामना, इच्छेति यावत् । सङ्कल्पः "इदं मया अनेन कर्मणा साधनीयमि"-त्याकारा वृत्तिः । विचिकित्सा संशयः । श्रद्धा विश्वासः । अश्रद्धा अविश्वासः । धृतिः धैर्यम् सहनशीलतेति यावत् । अधृतिः अधैर्यम् असहिष्णुतेत्यर्थः । ह्रीर्लज्जा, अप्रतिभतेति यावत् । धीः ज्ञानं निश्चय इति यावत् । भीः भयम् । मन एव मनसः एव इत्यर्थः । मन एवेति कथनं धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षया तेन नासंगतिः । यद्यपि मनसः अन्तःकरणप्रभेदतया तस्य च सङ्कल्पमात्र-वृत्तिकत्वाभ्युपगमेन व्याख्यायाः सम्प्रदायविरोधापत्तिः, तथापि मनो-बुद्ध्यहङ्कारचित्तेतिप्रभेदस्य औपाधिकत्वं न तु तेषां वस्तुतो भेदः वेदान्ताभिमत इत्यत्र श्रुतितात्पर्यात् नासंगतिः एवं व्याख्यायाम् ।

ननु श्रुतौ ज्ञानपदस्याश्रवणात् ज्ञानस्यान्तःकरणधर्मत्वमप्यसिद्धमेव इत्यत आह—

धी शब्देन ज्ञानाभिधानात् । अत एव [illegible] मनोधर्मत्वम् ।

धीः शब्देन = ह्रीः धीः भीरिति श्रुतिस्थ - धीशब्देन । ज्ञानस्य अभिधानं ज्ञानाभिधानं तस्मात् । अभिधानं अभिलपनं कथनमिति यावत् । अत एव इत्यस्य निश्चयात्मकज्ञानस्य मनोधर्मत्वादेव इत्यर्थः । कामादेरित्यत्र आदि-पदेन सङ्कल्पविचिकित्सादीनां धीभिन्नानां संग्रहः । अयं भावः यत्रैव पूर्वं सङ्कल्पो विचिकित्सा वा तत्रैव पश्चात् निश्चयः, तत्रैव च पश्चात् इच्छा, एतेषां सामानाधिकरण्यात् । न त्वन्यः सन्दिग्धे निश्चिनोति चान्यः, इच्छति चापरः । तथा च [illegible]यत्वानभ्युपगमे कामाद्यधिकरणत्वमप्यन्तःकरणस्य न स्यात् अतः तदधिकरण[illegible]पि स्वीकर्त्तव्यमेवान्तःकरणस्य ।

तथा च इत्थं—न तावदन्तःकरणमित्यारभ्य कामादेरपि मनोधर्मत्वम् इत्युत्तरग्रन्थस्यायं भावः— यत् कामसंकल्पादीनामन्तःकरणधर्मत्वं श्रुतिसिद्धम् । धर्मता च न परिणामत्वान्या । एवञ्च सिद्ध एव अन्तःकरणस्य परिणामः । परिणामाभावसाधकं निरवयत्वं तु—"अन्तःकरणं निरवयत्वाभाववत् सादि-द्रव्यत्वात्" इत्यनुमान-बाधिततया स्वरूपासिद्धमिति न तस्य परिणामाभाव-साधकत्वम् । सादित्वं तु अन्तःकरणस्य "तन्मनोऽसृजत" इति श्रुतिसिद्धम् । ननु कामसंकल्पयोः को भेदः द्वयोरपि इच्छास्वरूपत्वात् इति चेत् सत्यम्, सत्यप्युभयो-रिच्छारूपत्वे लौकिकत्वालौकिकत्वाभ्यां भेदात् । अर्थात् शास्त्रानिषिद्धेच्छा सङ्कल्पः । शास्त्रनिषिद्धेच्छा कामः इति ।

ननु कथं कामादेरन्तःकरणधर्मत्वम् ? यतः अहं जानामि अहं न जानामि इत्यादिप्रत्यक्षविरोधः । अतः सत्यामपि कामः संकल्प इत्यादिश्रुतौ तस्याः औपचारिकत्वमस्तु इत्यभिप्रायेण शङ्कते—

ननु कामादेरन्तःकरणधर्मत्वेऽहं इच्छामि अहं जानामि अहं विभेमि इत्याद्यनुभवः आत्मधर्मत्वमवगाहमानः कथमुपपद्यते ।

अन्तःकरणस्य धर्मत्वं अन्तःकरणधर्मत्वम् । षष्ठ्यर्थो निष्ठत्वम् । धर्मत्वं वृत्तित्वम् । तथा च अन्तःकरणनिरूपितवृत्तित्वे इत्यर्थः । स्वीक्रियमाणे इति शेषः । आत्मनो धर्मत्वं आत्मधर्मत्वम् आत्म-निरूपित-वृत्तित्वमित्यर्थः । इच्छादेरिति शेषः । अवगाहमानः=विषयीकुर्वन् । **तथा चायं सरलार्थः—यदि इच्छादेरन्तःकरणधर्मत्वमभ्युपेयते तदा कथमहमिच्छामि इत्यादि प्रत्ययः सङ्गतः ? अस्मत्पदस्य वेदान्तमतेऽपि प्रमातृवाचकतया अन्तःकरणावाचकत्वात् । अतो न कामादेरन्तःकरणधर्मत्वम् । श्रुतिस्तु औपचारिकी इति ।**

श्रुतेरौपचारिकत्वकल्पनापेक्षया अनुभवस्यैव औपचारिकत्वकल्पना न्याय्या इत्यभिप्रायेण उत्तरयति—

अयःपिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासात् यथा अयो दहति इति व्यवहारः तथा सुखदुःखाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासात् अहं सुखी अहं दुःखी इत्यादिव्यवहारः ।

अयःपिण्डस्य इत्यत्र षष्ठी सप्तम्यर्था । दग्धृत्वं दाहनिमित्तत्वम्, तस्याभावः दग्धृत्वाभावः तस्मिन् सति इत्यर्थः । दग्धृत्वाश्रयो वह्निः दग्धृत्वाश्रयवह्निः, तेन तादात्म्याध्यासः, तस्मात् । अध्यास आरोपः । सुखदुःखाद्याकारेण परिणमते इति सुखदुःखाद्याकारपरिणामि, तादृक् चान्तःकरणं सुखदुःखाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणम्, तेन सह ऐक्याध्यासः । ऐक्यमभेदः । तथा च ऐक्याध्यासोऽभेदाध्यासः तस्मात् । व्यवहारः अनुभवः ।

तथा चायं भावार्थः, वह्निना असंपृक्तस्य लौहस्य न दाहकत्वमिति सर्वानुभूतम्, परन्तु तस्य वह्निसंयोगे सति द्वयोर्भेदमवधूय लौहं वह्नित्वेनाभिमत्य यथा लौहस्थवह्निर्दहति इति प्रत्ययं व्यवहारं वा अकृत्वा लोकः "अयो दहति" इति प्रत्ययं

व्यवहारं वा करोति, तथा अन्त:करणचैतन्ययोः अवच्छेद्यावच्छेदकभावमवधूय एकत्वमध्यस्य अहं सुखी अहं दुःखी इत्यादिव्यवहारं प्रत्ययं वा विदधाति लोकः । अन्त:करणावच्छिन्नचैतन्यात्मकस्य प्रमातुरेवाहमर्थतया चैतन्यावच्छेदकीभूतान्त:-करणधर्मस्य सुखादेरवच्छिन्नताशालिचैतन्यधर्मत्वेन प्रत्ययो व्यवहारो वा निरुक्ताध्यासशीलस्य जनस्य सुकर एव ।

चक्षुरादिवत् अतीन्द्रियतया अन्त:करणस्य विषयगत-प्रत्यक्षत्वाभावेन तद्विशिष्टचैतन्यरूपस्य प्रमातुः प्रत्यक्षत्वमसङ्गतम् । न हि दण्डस्याप्रत्यक्षत्वे दण्डी पुरुष इति विशिष्टप्रत्यक्षं कस्याप्यनुमतम् । तथा च कथं निरुक्तप्रमातारमव-गाहमानः अहं सुखी इत्यादिप्रत्ययः संभवमर्हतीत्यभिप्रायेण शङ्कते—

ननु अन्त:करणस्य इन्द्रियतया अतीन्द्रियत्वात् कथं प्रत्यक्ष-विषयता ?

इन्द्रियत्वं अतीन्द्रियत्वे हेतुः । कथमित्याक्षेपः । तथा च न प्रत्यक्षविषयता भवितुमर्हत्यन्त:करणस्य इत्यर्थः । प्रत्यक्षविषयता विषयगत-प्रत्यक्षता । अयं भावः, अधिष्ठाने आरोप्य-धर्मभानं सार्वत्रिकम्, एवञ्च आरोप्यान्त:करणधर्मस्यैव भानमन्त:करणावच्छिन्नचैतन्यात्मक-प्रमातरि अहंपदवाच्ये वाच्यम्, तदसम्भूतम् । प्रत्यक्षत्वस्य [illegible]करणधर्मत्वाभावात् ।

अन्त:करणस्य इन्द्रियत्वमेव नास्ति, कुतस्तन्मूलकमतीन्द्रियत्वम् ? कथञ्च तदधीना अप्रत्यक्षता ? एवञ्च नोक्तप्रश्नः सावकाशः इत्याशयेन समाधत्ते—

उच्यते, न तावदन्त:करणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति ।

मानं प्रमाणम् । तथा च अन्त:करणस्य अतीन्द्रियत्वाभावेन प्रत्यक्षतायाः सुवचतया तदवच्छिन्नचैतन्यात्मकप्रमातर्यपि ऐक्याध्यासमूलकः अहं सुखी अहं दुःखी इत्यादि व्यवहारः प्रत्ययो वा निराबाध इति भावः ।

अन्त:करणस्य इन्द्रियत्वे भगवद्गीतावचनं प्रमाणत्वेनादाय ततो विरोध-माशंक्य अविरोधमुद्भावयति—

"मनःषष्ठानीन्द्रियाणि" इति भगवद्गीतावचनं प्रमाणमिति चेत् न, अनिन्द्रियेणापि मनसा षट्त्वसंख्या-पूरणाविरोधात् । नहीन्द्रियगत-संख्यापूरणमिन्द्रियेणैवेति नियमः ।

अनिन्द्रियेण इन्द्रियभिन्नेन इत्यर्थः । षट्त्वमेव संख्या षट्त्वसंख्या तस्याः पूरणं पूर्तिः सम्पत्तिरिति यावत् । ततो अविरोधः विरोधाभावः । इन्द्रियगता संख्या इन्द्रियगतसंख्या, तस्याः पूरणम् । अयं भावः, अन्तः करणस्य अनिन्द्रियत्वं मनः-षष्ठानीन्द्रियाणीति भगवद्गीता - वचनविरुद्धं फलतः तद् बाधितमिति नाशङ्कनीयम् । यतः मनःषष्ठानि इत्यादिगीतावाक्यस्य मनः षष्ठं येषामिन्द्रियाणां तानि मनःषष्ठानि इति विग्रहानुसारं मन आदाय षष्ठानि अर्थात् षट्त्वसंख्यावन्ति इन्द्रियाणि इत्यर्थकतया मनसः अन्तःकरणस्य अनिन्द्रियत्वेऽपि तदादाय पंच-ज्ञानेन्द्रियाणां षट्त्वसंख्यापूर्तेः योग्यतया प्रोक्तभगवद्गीतावाक्यस्य इन्द्रियत्व-व्यवस्थापकत्वम् नास्ति । मनःषष्ठानि इत्यत्र मनसः षष्ठानि मनःषष्ठानि इति वा विग्रहः । तृतीयार्थः प्रयोज्यत्वम्, तच्च प्रकृते मनोधर्मिकापेक्षाबुद्धिजन्यत्वरूपं बोध्यम् । अन्वयश्च तस्य षट्त्वे ।

सजातीय-गतसंख्या-संपादनस्य सजातीय-साध्यत्व-नियमे पुनः, अन्तः-करणस्य इन्द्रियत्वमुक्तगीता-वचन-प्राप्तमित्याशंक्य प्राप्तो नियमः खण्डितो नहीन्द्रियेत्यादिना । तत्र नियमस्य व्याप्तिरूपतया तदभावस्य व्यभिचारनैयत्येन व्यभिचारप्रदर्शनं विना व्याप्त्यभावो नासन्दिग्ध इति व्यभिचारमुद्भावयति—

"यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति" इत्यत्र ऋत्विग्गतपञ्चत्व-संख्यायाः अनृत्विजापि यजमानेन—

"वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्" इत्यत्र वेदगतपञ्चत्व-संख्यायाः अवेदेनापि भारतेन पूरणदर्शनात् ।

यजमानः पञ्चमः=पञ्चत्वसंख्यापूरको येषां ते यजमानपञ्चमाः । ऋत्विज इति विशेष्यवाचकपदाध्याहारः । इडां=यज्ञसम्बन्धि-द्रव्य-प्रभेदम् । अनृत्विजा=ऋत्विग्भिन्नेन । यजमानेन इत्यस्य "पूरणदर्शनात्" इति व्यवहितेन सम्बन्धः । महाभारतपञ्चमान् वेदान् अध्यापयामास इत्यन्वयः, अत्रापि विग्रहः पूर्ववत् । अवेदेनापि भारतेन वेदगतपञ्चत्व-संख्यायाः पूरणदर्शनात् इति योजना ।

अयं भावः, संख्यापूर्तिः सजातीयगतैकत्वप्रकारक-बुद्धिस्वरूपापेक्षाबुद्धिसाध्यै-वेति यदि नियमोऽभ्युपेयते, तदा यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति इति वैदिक-वचन-बाधः । न हि यजमानः ऋत्विक्त्वधर्मवान् येन सजातीयतया तमादाय तद्-विशेष्यकैकत्वप्रकारक-बुद्धि-साध्य-पञ्चत्व - संख्या ऋत्विग्गता भवितमर्हेत ।

न केवलं वैदिक-वाक्य-स्थल एव उक्त-नियम-व्यभिचारः-अपितु "वेदान् अध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्" इति भारतवाक्यस्थलेऽपि । न हीतिहासभूतस्य महाभारतस्य भगवद्द्वैपायनप्रणीतस्य कथमपि वेदत्वम् । सत्यप्येवं महाभारत-विशेष्यकापेक्षाबुद्धि-साध्य-पञ्चत्व-संख्या वेदे प्रोक्तवचनेन बोध्यते । एवञ्च "मनः षष्ठानीन्द्रियाणीत्यस्य अनिन्द्रिय-मनोविशेष्यकापेक्षा - बुद्धिसाध्य - षट्त्व-संख्यायाः इन्द्रियगतषट्त्वव्यापकत्वाभ्युपगमेन दोषानवकाशात् । न च पुरुषत्वमादाय यजमानस्य शास्त्रत्वमादाय महाभारतस्य च ऋत्विग्वेदसाजात्यमक्षुण्णयमिति वक्तव्यम्, पञ्चत्व - कथन - विरोधापातात् । अध्यस्तत्वादि यत्किञ्चिद्धर्ममादाय अनिन्द्रिय-स्यापि मनसः इन्द्रियसाजात्यस्य सुवचतया संख्यापूर्तिः साजातीयेनैवेति नियमाभ्यु-पगमेऽपि प्रोक्त-गीता-वचन-बलेन मनसः इन्द्रियत्वासिद्धेः । एवं न चातीन्द्रियत्वा-धीना इन्द्रियत्वसिद्धिः यया प्रत्यक्षविषयत्वाभावापादमनन्तःकरणस्येति ।

युक्त्या मनसः इन्द्रियत्वाभावमुपपाद्य श्रुत्या तदुपपादयति—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।" इत्यादिश्रुत्या मनसोऽनिन्द्रियत्वाभ्युपगमात् ।

शिष्टैरिति शेषः । श्रुत्या इत्यत्र तृतीया हेतौ । तथा च इत्यादिश्रुत्या शिष्टैः मनसः अनिन्द्रियात्वाभ्युपगमात् इति योजना । शेषानभ्युपगमे श्रुत्येत्यत्र तृतीयायाः कर्तरि वक्तव्यतया अभ्युपगमपदवाच्ये स्वीकारे वेदकर्तृकत्वासंभवेन अयोग्यत्वापातात् । अथवा अभ्युपगम - पदस्य प्रतिपादने लक्षणा, तत्र श्रुति-कर्तृकत्वस्यान्वयः ।

ननु इन्द्रियावधिकोत्कर्षवन्तः अर्थाः, अर्थावधिकोत्कर्षवन्मनः इत्यस्यैव इन्द्रियेस्य इति श्रुत्यर्थतया, तस्याः श्रुतेः प्रकर्षमात्रबोधकत्वं, न त्विन्द्रिय-भिन्नत्वरूपमनिन्द्रियत्वबोधकत्वम् यदि चोत्कर्षापकर्षौ भेदनियतौ, न चान्तरेण भेदम्, उत्कर्षापकर्षौ संभवतः, अतः इन्द्रियभिन्नत्वं मनसः, तदा युक्त्यैव तत्साधनमिति श्रुत्येति लेखासङ्गतिरिति चेत् सत्यम्, श्रुत्येत्यस्य श्रुतिमूलक-युक्त्या इत्यर्थकरणाददोषात् । आदिपदेन ज्ञानेन्द्रियपञ्चक-कर्मेन्द्रियपञ्चकबुद्धिमनोयुक्तं लिङ्गशरीरम्, इत्यादे-र्ग्रहणमवगन्तव्यम् ।

ननु मनसः इन्द्रियत्वं वक्तव्यमेव । अन्यथा सुखदुःखादेः प्रात्यक्षिक-विषयत्वानुपपत्तेः । न हि बाह्येन्द्रियाणां सुखदुःखाद्यान्तर - पदार्थप्रकाशकता-

संभवः । सुखदुःखादेः प्रात्यक्षिकविषयत्वानभ्युपगमे सुखं साक्षात्करोमीत्याद्यनुव्यवसायाभावप्रसङ्गः । न चेदं वक्तुं शक्यं यत् अनिन्द्रियमनोजन्यत्वादेव अहं सुखी इत्यादि ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्, यतः इन्द्रियजन्य - ज्ञानत्वं प्रत्यक्षत्वमित्येव सर्वविदितम् इति शङ्कामपनयति—

न चैवं मनसोऽनिन्द्रियत्वे सुखादिप्रत्यक्षस्य साक्षात्त्वं न स्यादिति वाच्यम्

न चेति वाच्यमिति परेणान्वयः। सुखादेः प्रत्यक्षं सुखादिप्रत्यक्षम्, तस्य । आदिपदात् दुःखेच्छादीनामुपग्रहः । तथा च अहं सुखी, अहं दुःखी, अहं जाने, अहं यते इत्यादिप्रत्यक्षस्य इत्यर्थः । साक्षात्त्वं प्रत्यक्षत्वम् ।

अवाच्यतायां हेतुमाह—

न हीन्द्रियजन्यत्वेन ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् ।

हिः हेतौ । तथा च यत इति तदर्थः । तृतीयार्थः प्रयोज्यत्वम् । ज्ञानस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थो विषयत्वम् । तथा च ज्ञाननिष्ठप्रत्यक्षत्वं यस्मात् नेन्द्रिजन्यत्वप्रयोज्यम् इत्यर्थः । अयं भावः इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् इति प्रत्यक्ष-लक्षणमभ्युपेत्य अहं सुखी इत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वाभावापादनं यत् क्रियते तन्न समीचीनम् । यतः प्रत्यक्षस्य नोक्तं लक्षणमस्माभिर्वेदान्तिभिः अभ्युपेयते । एवं च मनसः इन्द्रियत्वाभावेऽपि मनोजन्यस्य "अहं सुखी" इत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षतायां न किञ्चिद्, बाधकम् इति ।

ननु कुतो नोक्तप्रत्यक्ष - लक्षणाभ्युपगमः ? इत्याशङ्कायामाह—

अनुमित्यादेरपि मनोजन्यतया साक्षात्त्वापत्तेः ।

आदिपदेन उपमितिशाब्दबोधाद्यनुभवस्मृतीनां उपग्रहः। अयमभिप्रायः— न खलु मनोरूपान्तःकरणं विना काचन वृत्तिरुदेति । इति मनसः इन्द्रियत्ववादिनां मते वृत्तिमात्रे प्रत्यक्षत्वापत्तिः, प्रत्यक्षलक्षणातिव्याप्तिर्वा दुर्वारा । मनसः इन्द्रियत्वेन सकलानुमित्यादि - ज्ञानेच्छा - प्रयत्नादीनामिन्द्रियजन्यत्वात् । ज्ञानपद - प्रक्षेपेण इच्छादीनां तद्वारणेऽपि अनुमित्यादि - ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वं दुर्वारम् ।

ननु इन्द्रियजन्यमित्यस्य इन्द्रियत्वावच्छिन्न - जनकता - निरूपित-जन्यताशालीत्यर्थः । तत्र जनकता करणतारूपा विवक्षिता । एवं च इन्द्रियत्वावच्छिन्न-करणता-निरूपितकार्यता - शालिज्ञानं प्रत्यक्षम् इत्यस्यैव पर्यवसन्नप्रत्यक्ष - लक्षणतया नानुमित्यादिज्ञाने प्रत्यक्षत्वापत्तिः । अनुमित्यादि - ज्ञानं प्रति मनसः मनस्त्वेन कारणत्वेऽपि इन्द्रियत्वेनाकारणत्वात् । तेन रूपेण तस्य कारणत्वाभ्युपगमेऽपि अनुमित्यादि - कार्यं प्रति मनसः करणत्वानभ्युगमात् । वेदान्तिभिरपि व्याप्तिज्ञान-स्वरूपानुमानादीनामेवानुमित्यादिकरणत्वाभ्युपगमात् । इत्यतो दोषान्तरमाह—

ईश्वरज्ञानस्याजन्यस्य साक्षात्त्वानापत्तेश्च ।

ईश्वरस्य ज्ञानं ईश्वरज्ञानम् । षष्ठ्याः सम्बन्धोऽर्थः स च कर्त्तृत्वरूपोऽवसेयः । अजन्यत्वं नित्यत्वम् । आपत्तिरापादनं सम्पादनमिति तदर्थः, न तु दोषरूपा आपत्तिः । तथा च अनापत्तिः अनुपपत्तिः । अजन्यस्येति हेतुत्वगर्भं विशेषणम् । तथा च ईश्वरकर्त्तृकस्य ज्ञानस्याजन्यत्वात् प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । अयं भावः — विशेषाभावः सामान्याभावनियतः । सत्येवं नित्यतया जन्यत्व - सामान्याभाववति किञ्चिद्विशेषजन्यत्वाभावः अवश्यंभावी । सति चैवं भगवत्प्रत्यक्षे मनोजन्यत्वाभावो दुर्वारः । यत्र च मनोजन्यत्वमेव नास्ति तत्र का प्रत्याशा मनःकरणकत्वस्य ? इति इन्द्रियत्वाभावेन तस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तिः स्यात्, यदीन्द्रियजन्यत्वस्य प्रत्यक्षताप्रयोजकत्वमभ्युपेयात् । अव्याप्तिर्वा स्यात् प्रोक्तलक्षणस्य भगवत्प्रत्यक्षे । न चेष्टापत्तिः शक्यते कर्त्तुम्, भगवतः परोक्षज्ञानानभ्युपगमात् ।

इन्द्रियजन्यत्वस्य प्रत्यक्षत्व - प्रयोजकता नाभ्युपेयत चेत् [illegible] किं ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् ? आहोस्वित् अभ्युपेयते किञ्चित् तत्प्रयोजकम् ? अभ्युपेयते चेत् किं तत् इति पृच्छति—

सिद्धान्ते प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किम् ।

सिद्धान्ते = वेदान्त-सिद्धान्ते, तव मते इत्यर्थः । प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं प्रत्यक्षत्व-प्रयोजकम् । किमित्यस्य जिज्ञास्यमित्यर्थः । ममेति शेषः । तथा च वेदान्त-सिद्धान्त सिद्धं प्रत्यक्षत्व-प्रयोजकं मम जिज्ञास्यमित्यर्थः । विकल्प्य उत्तरयति—

इति चेत् किं ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं छिपृच्छ किं वा विषयगतस्य ?

इतीत्यस्य एवमित्यर्थः । चेत् इत्यस्य यदीत्यर्थः । तथा च प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं मम जिज्ञास्यमिति यत् त्वयोक्तं तत्रोत्तरदानाय प्रथमं ममापि इदं जिज्ञास्यं यत् "घटस्य मे प्रत्यक्षं ज्ञान" इत्यनुभवसिद्धस्य ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं तव जिज्ञास्यम्, आहोस्वित् "घटो मे प्रत्यक्षः" इत्याद्यनुभवसिद्धस्य घटादिविषयगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य ? इति सरलार्थः । **अयं भावः प्रत्यक्षत्वं द्विविधं** विषयिगतं विषयगतञ्च, उभयविधस्य प्रत्यक्षत्वस्य नैकं प्रयोजकं यत् "प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं किम्" इति सामान्यतः प्रत्यक्षत्व - प्रयोजकविषयकस्य प्रश्नस्य एकमुत्तरमहं दद्याम् । अतः विशिष्य प्रश्नो युक्तः । यद्यपि ज्ञानगत-प्रत्यक्षत्वविचारस्यैव प्रस्तुतत्वात् प्रश्ने तत्प्रयोजकविषयकत्वस्य प्रकरण - प्राप्तत्वात् विकल्पोऽयमसाधुरिव भाति, तथापि ज्ञान-गत-प्रत्यक्षत्वस्येव विषयगत-प्रत्यक्षत्वस्यापि प्रयोजकं न ज्ञानगतमिन्द्रियजन्यत्वं इति ज्ञापनाय विकल्पः, इति मन्तव्यम् । आद्यपक्षं जिज्ञास्यत्वेनादायोत्तरयति—

आद्ये, प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभेद इति ब्रूमः ।

अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम् । विषयावच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम् । प्रमाणचैतन्यस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थो निष्ठत्वम् । विषयचैतन्यात् अभेदः विषयचैतन्याभेदः । चैतन्यात् इत्यत्र पञ्चम्यर्थः प्रतियोगिकत्वम् । अभेदः अवच्छेदकयोरेकदेशस्थतामूलकम् अवच्छेद्यैक्यम् । प्रत्यक्षत्वप्रयोजकमिति शेषः । **अयं भावः अन्तःकरणं तैजसं वस्तु । गृहात् वायुसंश्लिष्टाग्निकण इव इन्द्रियसंश्लिष्टं तत्, शरीरात् बहिर्निर्गच्छति । निर्गतं विषयदेशं प्राप्नोति, ततः अन्तःकरणस्य तस्य तद्बहिर्देशस्थ - घटादि - विषयाकाराकारिता भवति । सैव विषयाकाराकारिता, वृत्तिविशेषात्मकज्ञानविशेषरूपा ।**

किं च चैतन्यं ब्रह्म एकमेव व्यवहारकल्पित-घट-पट-वृत्त्याद्यवच्छेदकभेदादेव घटाकाशपटाकाशादिवत् व्यवहारकल्पितं घटावच्छिन्नचैतन्य-पटावच्छिन्नचैतन्यादिरूपेण भिन्नं भवति । अर्थात् वृत्त्यवच्छिन्न - चैतन्य - घटावच्छिन्नचैतन्ययोः वृत्ति-घटांशयोरेव भेदः, न तु चैतन्यांशे । फलतः अवच्छेद्यमेकमवच्छेदकमनेकम् । एवञ्च अन्तःकरणस्य विषयाकाराकारिता यदि इन्द्रियद्वारेण बहिरेत्य भवति, तदा एकदेशस्थतामूलकं ऐक्यम्, तदाकाराकारितात्मकवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपप्रमाणचैतन्यस्य घटादि - विषयावच्छिन्नचैतन्यात् स्फुटीभवति । अतः तादृशी तदाकारा-

कारिता रूपा वृत्तिः प्रत्यक्षपदवाच्यतां भजते । अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य इन्द्रिय-द्वारेण विषयदेशगमनमिति न वृत्तिविषययोः चैतन्यावच्छेदकयोः एकदेशस्थता, तन्मूलकैक्यस्फुटीभवनं वा इति नानुमित्यादौ प्रत्यक्षत्वापत्तिः, इति फलतः वृत्ति - देशस्थ - विषयनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतावत् - चैतन्याभिन्नचैतन्यनिष्ठावच्छेद्यता - निरूपितावच्छेदकतावत्त्वमेव इन्द्रियद्वारकान्तःकरणवृत्तिरूपस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्, तत् प्रयोजकं वा इति । अवच्छेदकत्वं भेदकत्वम् अवच्छेद्यत्व भेद्यत्वम् ।

ननु सिद्धान्ते ब्रह्मात्मकस्य चैतन्यस्य एकत्वेन भेदाभावात् प्रमाणचैतन्यविपयचैतन्येत्यादेः वक्तुमशक्यत्वेन "प्रमाणचैतन्यस्य विपयचैतन्याभेद इति ब्रूमः" इति कथनासंगतिः अत आह—

तथा हि त्रिविधं चैतन्यं, प्रमातृ-चैतन्यं प्रमाण-चैतन्यं विषयचैतन्यञ्चेति । तत्र घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यं विषयचैतन्यम् । अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्यं प्रमाण-चैतन्यम् । अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम् ।

तिस्रो विधाः सन्ति अस्येति त्रिविधम् । विधा=प्रकारः प्रभेद इति यावत् । तथा च त्रिविधमित्यस्य त्रिप्रकारमित्यर्थः । चैतन्यं त्रिविधमिति व्यत्यासेनान्वयः । तेन न "अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्" इत्यभियुक्तोक्तिविरोधः । तत्र इत्यस्य तेषु इत्यर्थः । अन्तःपातित्वं सप्तम्यर्थः तस्य प्रतिचैतन्यमन्वयः । घटादीत्यत्र आदिपदेन पटमठतटादिविषयाणां ग्रहणं वेदितव्यम् । यद्यपि घटपटादीनां अवच्छेदक - पदार्थानाम् असंख्यत्वात् विषयचैतन्यं असंख्यं इति त्रित्वमनुपपन्नम्, तथापि विषयत्वेन विषयान् अनुगमय्य तन्निष्टावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यताशालित्वेन विषय - चैतन्यमेकमिति गीयते, नातः त्रित्वव्याघात-शङ्का । एवमेव चैतन्यान्तरेऽपि बोध्यम् । अन्तःकरणस्य वृत्तिः अन्तःकरणवृत्तिः, तया अवच्छिन्नं अन्तःकरण - वृत्त्यवच्छिन्नं तादृक् च चैतन्यं अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यम् । अन्तःकरणावच्छिन्नमित्यत्रापि अन्तःकरणेन अवच्छिन्नं इति विग्रहः । अन्तःकरणवृत्तिः प्रमाणम्, तदवच्छिन्नचैतन्यं प्रमाण - चैतन्यम् । अन्तः करणमेव प्रमातृ तदवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृ - चैतन्यम् इत्यभिप्रेतोऽर्थः । तथा चायं भावः- सत्यपि स्वरूपचैतन्यस्यैकत्वे तदभ्यस्तानां विषयान्तःकरणवृत्त्यन्तःकरणानां

व्यवहाराय कल्पितानां अवच्छेदकानां भेदात् तदवच्छिन्नचैतन्यमपि शक्यते वक्तुं भिन्नतया, इति नोक्त - शंकावकाशः । यद्यपि त्रिविधमित्यादि विभागावसरे प्रमातृ-चैतन्यस्यैव प्रथममुल्लेखात् तल्लक्षणमेव प्रथममुपन्यसनीयम्, न विषयचैतन्यस्य । तथापि विषयदेशे एव अन्तःकरणतद्वृत्त्योः धावनात् प्रत्यक्षस्थले विषयस्य तदवच्छिन्नचैतन्यस्यैव च प्राधान्यमिति द्योतनाय प्रथमं विषयचैतन्यमेव विवृतमिति। इतोऽपि च विषयचैतन्यस्य प्राधान्यं प्रत्यक्षस्थले भवति यद् अन्तः-करणवृत्तिः अन्तःकरणञ्च अनुमित्यादौ अपि उपयोगं भजते, विषयस्तु प्रत्यक्ष एवेति । न च वृत्तिनिर्विषयत्वानभ्युपगमेन अस्त्येवोपयोगो विषयस्यानु-मित्यादावपीति वाच्यम् । सत्यपि अनुमित्यादीना सविषयकत्वे, न तदानीं विषय-सत्त्वापेक्षा, अतीतानागत-साध्ययोरप्यनुमानात् ।

ननु चैतन्ययोः कीदृशोऽभेदः प्रत्यक्षत्वप्रयोजकः,किञ्चित्प्रयुक्तः किञ्चिदप्रयुक्तोवा? नाद्यः एकस्यैव चैतन्यस्य सर्वाध्यासाधिष्ठानत्वेन किञ्चिद्प्रयुक्तस्य तस्य सार्वदिकतया अनुमित्यादेरपि प्रत्यक्षत्वस्य दुर्वारतापत्तेः । द्वितीयञ्चेत् प्रयोजक-प्रदर्शनमुचितम् । अन्तःकरणस्य घटाद्याकारपरिणमनात्मिका वृत्ति. प्रयोजिकेति चेत्, अन्तःकरणस्य शरीरे विषयस्य च बहिः सत्त्वेन अन्तःकरणस्य विषयाकारधारणाद्यसम्भवः इत्यादि समाशङ्क्य आह—

तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति, तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाद्याकारेण परिणमते । स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते ।

तत्र इत्यस्य प्रत्यक्षस्थले इत्यर्थः। तड़ागः=कासारः, तस्य उदकं = जलम् । कुल्या = जलप्रणाली, तदात्मना तद्द्वारेण। केदारः = क्षेत्रम्। तद्वदेव = क्षेत्रवदेव । अयम्भावः न किञ्चिदप्रयुक्तः चैतन्याभेदः प्रत्यक्षत्वप्रयोजकः स्वीक्रियते, अपि तु किञ्चित्प्रयुक्त एव । किं नामाभेदप्रयोजकं तत् इति चेज्जिज्ञासा, चैतन्यावच्छेदकयोः वृत्ति-विषययोः एकदेशता, इत्यवधार्यताम्, सैव कथमिति चेदित्थम् । यथा ससुषिरस्य तडागस्य जलं निर्गमार्थनिर्मितया प्रणाल्या तडागात् क्षेत्रं समेत्य, क्षेत्राकाराकारि भवति । अर्थात् क्षेत्रं यदि त्रिकोणं भवति, तर्हि जलमपि त्रिकोणाकारं भवति । क्षेत्रं चेत् चतुष्कोणं भवति, जलमपि चतुष्कोणाकारम् । तथा सच्छिद्रात् अन्तःकरणाशयात् शरीरात् चक्षुः प्रणाल्या

बहिः निर्गतमन्तःकरणं विषयदेशं गत्वा विषयाकाराकारि भवति। सत्येवं अन्तःकरणवृत्ति-स्वरूपस्य प्रमाणस्य पटाद्यात्मकविषयस्य च चैतन्यावच्छेदकस्य सम्पान्नायां एकदेशस्थताया तत्प्रयुक्तः प्रमाणावच्छिन्नचैतन्य-विषयावच्छिन्नचैतन्ययोः अभेदः स्वीक्रियते । स एवाभेदः वृत्यात्मक-ज्ञाननिष्ठ-प्रत्यक्षत्वप्रयोजकः अङ्गीक्रियते । परिणमते = परिणतं भवति । सत्यप्यन्तःकरणस्य परिणामे अन्तःकरणवृत्तेः किं जातम् ? इति शङ्कानिरासायोक्तं "स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते" इति। परिणामस्यैव वृत्तित्वात् विषयाकाराकारित्वरूपायाः तस्याः विषयैकदेशस्थताया न सन्देहावकाश इति ।

अनुमित्यादिपरोक्षवृत्तिस्थले कथं न प्रमाणचैतन्य-विषयचैतन्ययोरभेदः ? इत्याशङ्कामपनयति—

अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य बहिर्देशगमनम् । वह्न्यादेः चक्षुराद्यसन्निकर्षात् ।

आदिपदेन उपमिति-शाब्दार्थापत्त्यानुपलब्धिक-वृत्तीनां ग्रहणम् । क्षेत्रपर्यन्तं प्रणाल्याः अभावे यथा न जलं क्षेत्रपर्यन्तं गच्छति, न वा तदाकाराकारितां लभते, तथैव व्यवहित-विप्रकृष्टाऽतीतानागतविषयैः सह चक्षुषः सन्निकर्षाभावेन कथं चक्षुरादिद्वारा भवितुमर्हति बहिर्देशगमनमन्तःकरणस्य ? कथं वा स्वीकर्तुं शक्यते विषयाकाराकारितारूपा वृत्तिः ? सति चैवं कुतः सम्भावना चैतन्याभेदप्रयोजकस्य वृत्तिविषययोरेकदेशस्थत्वस्य ? इति नानुमित्याद्यात्मक-वृत्तौ ज्ञानगत-प्रत्यक्षत्वावकाशः ।

ननु "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" इति टीकाकृदुक्तेः इन्द्रियसन्निकृष्टविषयकानुमितौ प्रत्यक्षत्वापत्तिः कथं वारणीयेति चेत् टीकाकृदुक्तेर्मतान्तराभिप्रायकतया, तादृशस्थलेऽनुमित्यनभ्युपगमेन तदापत्त्य-सम्भावात् । अत एव पर्वतो वह्निमानित्यनुमितेः पर्वतांशे प्रत्यक्षत्वमिति वक्ष्यति ग्रन्थकार अनुमानपरिच्छेदे । यद्वा अन्यवृत्त्यसहकृतस्यैव निरुक्तचैतन्याभेदस्य ज्ञप्तिगत-प्रत्यक्षत्व-प्रयोजकतया प्रोक्तानुमितिस्थलीयचैतन्याभेदस्य व्याप्त्य-नुभवात्मकवृत्तिसहकृतत्वेन तदसहकृतत्वाभावात् तत्रत्यस्य चैतन्याभेदस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वाभावात् न प्रोक्तदोषावकाशः ।

ननु अव्यवहितस्य किञ्चिद्दूरवर्त्तिनोऽपि पदार्थस्य चाक्षुषप्रत्यक्षोत्पत्त्या विषयसन्निकर्षार्थं विषयदेशपर्यन्तं रश्मिरूपेण चक्षुर्गमनस्य, तत्प्रणाल्या अन्तःकरणस्यापि च बहिर्विषयदेशगमनस्यावश्यकत्वेऽपि, प्रत्यक्षान्तरस्थले विषयस्यैवेन्द्रियदेशसमागमस्यानुभवसिद्धतया कथमिन्द्रियप्रणाल्या अन्तःकरणस्य बहिर्देशगमनमिति चेत्, न तादृशस्थले सन्निकर्षार्थं विषयस्यैव समागमनाभ्युपगमेऽपि इन्द्रियाधिष्ठानभूतपिण्डदेश एवागमनम्, न त्वतीन्द्रियस्येन्द्रियस्य देश इति इन्द्रियस्थानभूतपिण्डसंयुक्तेन विषयेण सह सम्बन्धार्थं इन्द्रियस्य तद्दूरेणान्तःकरणस्य च निर्गमस्यावश्यमभ्युपेयतया प्रश्नानवकाशात् । न चैवं द्रव्यप्रत्यक्षस्थलेऽन्तःकरणस्य विषयाकाराकारित्व - सम्भावनायामपि "इदं रूपम्" इत्यादिगुणविषयकप्रत्यक्षस्थले तदाकाराकारिताया अभावेन प्रत्यक्षलक्षणाव्याप्तिर्दुर्वारेति वाच्यम् । सिद्धान्ते गुणगुणिनोरभेदेन रूपादेरप्याकारयुक्ततया अन्तःकरणस्य तदाकाराकारितासम्भवात् ।

ज्ञप्तिगत - प्रत्यक्षत्व - प्रयोजको यः चैतन्याभेदः तत्प्रयोजकं अवच्छेदकयोरेकदेशस्थत्व दर्शयति—

तथा चायं घट इति प्रत्यक्षस्थले घटादेः तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्र देशे समवधानात् तदुभयावच्छिन्नचैतन्यमेकमेव ।

समवधानं = स्थितिः ततः, । तदुभयावच्छिन्नचैतन्यं = घटावच्छिन्नचैतन्यं अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं चेति ।

ननु अवच्छेदकत्वं विशेषणत्वनियत, विशेषणत्वं च भेदकत्वनियतम् तथा चावच्छेदकत्वेन भेदकयोरन्तःकरणवृत्ति-घटादि - विषययोः कथम् अवच्छेद्यभूतचैतन्याभेदप्रयोजकत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—

विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्ति-घटादिविषययोः एकदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वात् ।

विभाजकयोरित्यस्य भेदकयोरित्यर्थः । भेदाजनकत्वं = भेदजनकत्वाभावः । भेदजनकत्वं = भेदज्ञापकत्वम् । तथा च भेदाजनकत्वादित्यस्य भेदज्ञापकत्वाभावात् इत्यर्थः । अयं भावः न त्ववच्छेदकयोर्भेदकत्वनियमः अपि तु व्यधि-

करणयोस्तयोः । प्रकृते तु प्रागुक्तक्रमेण द्वयोरेकदेशस्थत्वात् वैयाधिकरण्याभावेन न भेद[illegible] । व्यधिकरणयोरेवावच्छेदकयोरवच्छेद्य-भेदकत्वं इत्यत्र प्रमाणं दर्शयति—

अत एव मठान्तर्वर्त्तिघटावच्छिन्नाकाशो न मठाकाशाद् भिद्यते।

अत एव = अवच्छेदकयोरेकदेशस्थयोर्भेदाजनकत्वादेव इत्यर्थः । मठस्यान्तः वर्त्तते इति मठान्तर्वर्त्ती, स चासौ घटः मठान्तर्वर्त्तिघटः, तदवच्छिन्नाकाश इत्यर्थः । घटाकाशात् = घटावच्छिन्नाकाशात् । अयं भावः—व्याप्यदेशे व्यापकसत्त्वस्यावश्यकतया व्याप्यस्य मठान्तर्वर्त्तिनो घटस्य देशे व्यापकस्य मठस्य विद्यमानतया वैयधिकरण्याभावेन यथा न मठघटयोः आकाशभेदकत्वं तथा प्रकृतेऽपि बहिरेकदेशे विद्यमानतया अप्यधिकरणयोः अन्तःकरणवृत्तिघटयोरपि न चैतन्यभेदकत्वमिति । मठान्तर्वर्त्तिघटाकाशो मठाकाशात् भिन्न एवेति न तं दृष्टान्तीकृत्य चैतन्याभेदः सुसम्पाद्यः, इति तु नाशङ्कनीयम् । भेदाभ्युपगमस्यानुभवविरोध-गौरवदोषाभ्या पराहतत्वात् ।

शिष्यसुबोधाय स्थान-विशेषं परिगृह्य ज्ञप्तौ प्रत्यक्षत्वं विशदयति—

तथा च "अयं घटः" इति प्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया घटावच्छिन्नचैतन्यात् तद्वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्यस्याभिन्नतया तत्र घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम् ।

घटाकारा वृत्तिः घटाकारवृत्तिः, तस्याः । वृत्तिपदेन अन्तःकरणस्य वृत्तिर्विवक्षिता । तथा च घटाकाराया अन्तःकरणवृत्तेः इति तदर्थः । "घटसंयोगितया" इत्यनेन चैतन्याभेदप्रयोजकस्य वृत्तिघटयोरेकदेशस्थत्वस्य प्रदर्शनम् । तत्रेति घटांशे इत्यस्य विशेषणम् । ननु ज्ञानात्मिकाया वृत्तेरद्रव्यत्वेन, तदवयवाभावेन, कथं "घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम्" इति कथनं सङ्गतम् ? अंशशब्दस्य अवयवशब्दापरपर्यायत्वात् इति चेत् न, सिद्धान्ते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदाभ्युपगमात् तैजसस्यान्तःकरणस्य सांशतया तद्वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्य सांशत्वकथनासङ्गत्यभावात् । तथा च तद्विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नचैतन्यावच्छेदकतावती अंतःकरणवृत्तिः तदंशे प्रत्यक्षमिति सरलं निर्वचनं ज्ञप्ति-प्रत्यक्षस्य ।

न च "तदंशे" इति कथनं व्यर्थम् । तथा सति "अयं घट" इति चाक्षुषज्ञानस्य घटगतगुरुत्वांशेऽपि प्रत्यक्षत्वापत्तेः । न च सा कथमपीष्टा गुरुत्वस्यातीन्द्रियत्वात् । न च हस्तन्यस्तवस्तूनां गुरुत्वस्य त्वचा समुपलम्भात् कथमतीन्द्रियत्वं गुरुत्वस्येति वाच्यम् । तुलास्थल इव तत्रापि गुरुत्वानुमानस्यैवाभ्युपगमात् । कथञ्चिन्नयायलीलावतीकृदुक्तदिशा तत्स्पार्शनाभ्युपगमेऽपि वृत्तेः तदंशे चा[illegible]स्य कथञ्चिदपि स्वीकारानर्हतया तद्वारणाय "तदंशे" इति कथनस्य सर्वथा सार्थक्यात् ।

ननु "अहं सुखी" इति सुखप्रत्यक्षे अव्याप्तिः, तत्र वृत्तिविषयस्य सुखस्य [illegible] चक्षुरादिसन्निकर्षस्य, चक्षुरादिद्वारा अन्तःकरणनिर्गमस्य चाभावेन सुखावच्छिन्नचैतन्यान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदप्रयोजकस्य सुखतद्वृत्त्योर्बहिरेकदेशस्थत्वस्याभावात्, इत्याशंक्याह—

सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य च नियमेन एकदेशस्थितोपाधिद्वयावच्छिन्नत्वात् नियमेनाहंसुखी" इत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् ।

तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य = सुखवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य । नियमोऽव्यभिचारः । तथा च, अव्यभिचरितभावेन एकदेशे स्थितं यत् उपाधिद्वयं, तदवच्छिन्नत्वात् इति "नियमेनैकदेशे" त्यादिपञ्चम्यन्तवाक्यार्थः अयंभावः—न बहिरेकदेशस्थत्वं अवच्छेदकयोः, अवच्छेद्याभेदप्रयोजकमस्माभिरुच्यते, अपि तु एकदेशस्थत्वमात्रम् । एकश्च देशो वाह्यो वा भवतु, आन्तरो वा, इत्यत्र नाग्रहः । तथा च अहं सुखी इति वृत्तिस्थले वृत्तिनिर्गमाद्यभावेऽपि, शरीरान्तरेव अन्तःकरणात्मकैकदेशे, सुखात्मकविषयतद्वृत्त्योरस्तितया चैतन्यावच्छेदकयोः एकदेशस्थत्वेन प्रयोजकसत्त्वात् चैतन्ययोरभेदात् "अहं सुखी" इत्यादिज्ञाने प्रत्यक्षत्वस्य सूपपादत्वात् । "नियमेनाह" मित्यत्र नियमेन इत्यस्य प्रत्यक्षत्वेन सम्बन्धः । नियमोक्त्या नाव्याप्तिश[illegible]कलङ्कलेशोऽपीति सूचितम् ।

अवच्छेदकयोः एकदेशस्थत्वमात्रस्य अवच्छेद्याभेदप्रयोजकत्वे तादृशचैतन्यात्मकावच्छेद्याभेदस्य च प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वे, "अहं सुखी" इतिप्रत्यक्षजन्ये अतीतसुखविषयके "अहं सुखी" इति स्मरणे प्रत्यक्षत्वापत्तिर्दुर्वारा । सुखतद्वृत्त्योः

अन्तःकरणात्मकैकदेशस्थत्वेन सुखावच्छिन्नचैतन्यतद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदात् इत्यभिप्रायेण शङ्कते—

स्ववृत्ति-सुखादि-स्मरणस्यापि सुखाद्यंशे प्रत्यक्षत्वापत्तिः ।

सुखादेः स्मरण सुखादिस्मरणम् । स्ववृत्ति तत् सुखादिस्मरणं स्ववृत्तिसुखादिस्मरणम्, तस्य । अन्यदीयसुखविषयकस्य अन्यदीयस्मरणस्य भिन्नान्तःकरणात्मकदेशस्थत्वेन एकदेशस्थत्वाभावात् आपात्तिरसङ्गता स्यादतः स्ववृत्तीत्युक्तम् । **अयं भावः— अहं सुखीति प्रत्यक्षात्मकवृत्ति — तद्विषयसुखयोर्यथा अन्तःकरणात्मकैकदेशस्थता अहंसुखीति स्मरणात्मकवृत्ति— तद्विषयसुखयोरपि तथैवैकदेशस्थता । सति चैवं तत्तदवच्छिन्नचैतन्ययोरप्यभेदो निराबाधः इति, कथं न "अहं सुखी' इति स्मरणस्य प्रत्यक्षत्वापत्तिः ? इति ।**

उत्तरयति

इति चेन्न । तत्र स्मर्यमाणसुखस्यातीतत्वेन, स्मृतिरूपान्तःकरणवृत्तेर्वर्त्तमानत्वेन तत्रोपाध्योर्वर्त्तमानकालीनतया तत्तदवच्छिन्नचैतन्ययोर्भेदात् । उपाध्योरेकदेशस्थत्वे सति एककालीनत्वस्यैव उपधेयाभेदप्रयोजकत्वात् ।

स्मर्यमाणं च तत् सुख, स्मर्यमाणसुखम्, तस्य । स्मृतिरूपा अन्तःकरणवृत्तिः, सुखस्मृतिरूपान्तः करणवृत्तिः, तस्याः । तदवच्छिन्नचैतन्ययोरित्यस्य सुखावच्छिन्नचैतन्यतद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोः इत्यर्थः । उपाध्योः अवच्छेदकयोः । सति सप्तम्याः वैशिष्ट्यमर्थः, तथा च एकदेशस्थत्वविशिष्टैककालीनत्त्वस्य इत्यर्थः । उपधेयाभेदः अवच्छिन्नपदार्थभेदः । तस्य प्रयोजकत्वात् । **अयं भावः— न खलु एकदेशस्थत्वमात्रं अवच्छेदकयोः अवच्छेद्यभेदप्रयोजकं अपि तु एककालिकत्वसहितं तत् । एवं सति सुखस्मृतिकाले सुखस्यातीतत्वेन सुखतत्स्मृत्यात्मकवृत्त्योः एककालिकत्वाभावेन, एककालिकत्वविशिष्टैकदेशस्थत्वस्वरूपभेदचैतन्याप्रयोजकस्याभावात्, सुखप्रत्यक्षस्थले तु तदानीं सुखस्य वर्त्तमानतया सुखतद्वृत्त्योरेककालिकत्वेन तद्विशिष्टैकदेशस्थत्वस्य तयोः सत्त्वात् नातिव्याप्त्यव्याप्तिशङ्कावसरः इति ।**

अतिव्याप्तिवारणोपायान्तरमाह—

यदि चैकदेशस्थत्वमात्रमुपधेयाभेदप्रयोजकं तदा "अहं सुखी"-त्यादिस्मृत्यतिव्याप्तिवारणाय वर्त्तमानत्वं विषयविशेषणं देयम् ।

देयमित्यनन्तरं "प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभेदं ब्रूमः" इत्यत्रेति शेषः । **तथा च अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य वर्त्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभेदः ज्ञप्तिगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजक इति सरलार्थः । एवं च सु[illegible] विषये सुखे वर्त्तमानत्वाभावेन अन्तःकरणवृत्त्यात्मकप्रमाणावच्छिन्नचैतन्यस्य सुखावच्छिन्नचैतन्याभेदेऽपि वर्त्तमानसुखावच्छिन्नचैतन्याभेदाभावात् प्रत्यक्षत्वप्रयोजकाभावेनातिव्याप्त्यभावात् न दोषावकाश इत्यभिप्रायः । यदि चेत्यनेनास्वरस सूचनम्** । तद्बीजं तु इदमवगन्तव्यम्—न हि विभिन्नकालिकयोः कयोश्चित् सम्भूय किञ्चित्कार्यकारित्व क्वचिदुपलभ्यम्, इति कथं विभिन्नकालीनयोरेकदेशस्थयोरुपाध्योः उपधेयाभेदात्मककार्यकारित्वम् ? अतः एकदेशस्थत्वे सति एककालिकत्वं विशेषणं दातव्यमेवेति विफला तावदुपायान्तरचिन्ता इति ।

एककालीनत्वे सत्येकदेशस्थत्वस्य अवच्छेदकद्वयगतस्य अवच्छेद्याभेदप्रयोजकत्वे प्रमाणावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठवर्त्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभेदस्य ज्ञप्तिगत-प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वेऽपि च स्वीकृते स्वगतधर्माधर्मविषयकशाब्दबोधे प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति शङ्कते—

नन्वेवमपि स्वकीयधर्माधर्मौ वर्त्तमानौ यदा शब्दादिना ज्ञायेते तदा तादृशशाब्दादावतिव्याप्तिः । तत्र धर्माद्यवच्छिन्नचैतन्यतद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोरेकत्वात् ।

एवमपि = एकदेशस्थत्वे एककालिकत्वविशेषणस्य, विषये वर्त्तमानत्व-विशेषणस्य वा दानेऽपि । स्वकीयधर्माधर्मौ वर्त्तमानौ इत्यत्र व्यत्यस्य "वर्त्तमानौ स्वकीयधर्माधर्मौ" इत्यन्वयः । "शब्दादिना" इत्यत्र आदिपदेन अनुमानार्थापत्त्योरुपग्रहः । तादृशशाब्दादौ = तादृशशाब्दबोधादौ । आदिपदेन अनुमित्यर्थापत्त्योर्ग्रहणं वेदितव्यम् । धर्माद्यवच्छिन्नेत्यत्र आदिपदेन अधर्मस्य ग्रहणम् । **अयं भावः—कमपि धार्मिकं पुरुषं सम्बोध्य यत्र "अहो भवान् धार्मिकः" इति केनाप्युक्तम्, तेन च वाक्येन तस्य धार्मिकस्य "अहं धार्मिकः" इति वाक्यार्थबोधो जातः, तादृशे शाब्दबोधे, प्राप्तफलकशुभाचरणादिहेतुके "अहं धार्मिक":**

इत्यनुमितौ, "अहं धर्माधर्मवान् जीवनान्यथानुपपत्तेः" इत्यर्थापत्तौ चातिव्याप्तिः । यतो वर्त्तमानधर्माधर्मावपि अन्तःकरणधर्मौ, तद्विषयिणी निरुक्तवृत्तिरपि अन्तःकरणस्यैव धर्मः, इति विषयवृत्त्योः एककालीनत्वे सति एकदेशस्थत्वं नराबाधम् । एवं च तत्तदवच्छिन्नचैतन्ययोरपि अभेदो निराबाध इति ।

समावत्ते—

इति चेन्न, योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात् ।

अयं भावः । न केवलं वर्त्तमानत्वं विषयविशेषणम्, अपि तु योग्यत्वमपि । तथा च प्रमाणावच्छिन्नचैतन्यस्य वर्त्तमान-योग्य-विषयावच्छिन्नचैतन्याभेदः प्रत्यक्षत्वप्रयोजक इति पर्यवसितार्थो भवति । धर्माधर्मयोस्तु कदाचिदपि प्रत्यक्षविषयत्वस्याभावेन योग्यत्वाभावात् योग्यवर्त्तमानविषयपदेन धर्माधर्मयोरग्रहणात् न तत्तद्वृत्तिषु प्रत्यक्षत्वापत्तिः । उक्ततत्तद्वृत्त्यात्मक-प्रमाणावच्छिन्नचैतन्यस्य वर्त्तमान-योग्यविषयावच्छिन्नचैतन्याभेदाभावात् । या या योग्यता सा सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नेति नियमात् । किं नाम योग्यतावच्छेदकमिति चेत् अनतीन्द्रियत्व तद्वेदितव्यम् ।

ननु काम-सङ्कल्प-विचिकित्सादेः अन्तःकरणधर्मस्य योग्यत्वमिव, धर्माधर्मयोरपि योग्यत्वमेवोचितम् । कथमयोग्यत्वम् ? इत्याशङ्क्याह—

अन्तःकरणधर्मत्वाविशेषेऽपि, किञ्चत् योग्यं किञ्चदयोग्यम्, इत्यत्र फलबलकल्प्यः स्वाभाव एव शरणम् ।

अन्तःकरणधर्मत्वं = अन्तःकरणवृत्तित्वम् । अविशेषः = साम्यम् । किञ्चित् = कामसङ्कल्पादिकम्, योग्यं = प्रत्यक्षयोग्यम् । किञ्चित् = धर्माधर्मात्मकमदृष्टं अयोग्यम् । फलं = कार्य्यं, तस्य बलं = सामर्थ्यम्, अनुमापकत्वम् । कल्प्यः इत्यस्य साध्यः इत्यर्थः । कल्प्य इत्यत्र कल्पनापदस्य अर्थापत्तिपरत्वे फलस्य बलं उपपाद्यत्वरूपं ग्राह्यम्, तथा च "धर्माधर्मात्मकमदृष्टं प्रत्यक्षायोग्यत्वानुकूलस्वभाववत्, विषयत्वसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-प्रत्यक्षाभाववत्वात्" इत्यनुमानम्, "अदृष्टप्रत्यक्षायोग्यत्वानुकूल-स्वभाववत् प्रत्यक्षाभावान्यथानुपपत्तेः" इत्यर्थापत्तेर्वा स्वभावसिद्धिः । अतः अन्तःकरण-धर्मत्वाविशेषेऽपि, धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षायोग्यत्वम् । काम-सङ्कल्पादेस्तु तथा स्वभावाभावात् न तत्प्रयोज्यमयोग्यत्वमिति भावः ।

स्वभावस्य नियामकत्वानङ्गीकारे दोषमाह—

अन्यथा न्यायनयेप्यात्मधर्मत्वाविशेषात् सुखादिवत् धर्मादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिर्दुर्वारा ।

"अन्यथा" इत्यस्य किञ्चिद्धर्मेण साम्येऽपि, स्वभावविशेषात् किञ्चिद्रूपेण वैषम्यमपीति स्वीकाराभावे इत्यर्थः। नयो मतम् । आत्मधर्मत्वेन अविशेषः आत्मधर्मत्वाविशेषः, तस्मात् । अविशेषः साम्यम् । धर्मत्वं तु वृत्तित्वरूपमविशेषात् । सुखादीत्यत्र आदिपदेन दुःखेच्छादीनाम्, धर्मादीत्यत्र च अधर्मस्य उपग्रहः । **तथा चायं सरलार्थः—न्यायमते काम-सङ्कल्पधर्माधर्मादीनां, अन्तःकरणधर्मत्वानङ्गीकारेण तदादाय धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षयोग्यत्वापादनानवकाशेऽपि, आत्मधर्मत्वस्य कामसङ्कल्पधर्माधर्मादिषु सर्वेषु तैरभ्युपगमात् आत्मधर्मत्वेन साम्यात् कुतो न धर्मादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः ? विलक्षणः स्वभाव एवायोग्यत्वप्रयोजकः प्रोक्तापत्तिवारणसमर्थ इति चेत्, तदा अस्माकमपि मते तथैव धर्मादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः सुवारा इति क्व दुर्वारता तदापत्तेः ? इति ।** धर्मादेरित्यस्य धर्मादिविषयकवृत्तेरित्यर्थः, तेन नासङ्गतिः । अन्यथा ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वविचारसञ्चारे ज्ञेयगत प्रत्यक्षत्वापत्तिदानस्यायुक्तत्वापातात् ।

यदा देवदत्तः सुखी, तदा यदि यज्ञदत्तः तं सम्बोध्य, "त्वं सुखी" इति वाक्यं ब्रूते, तदा तादृशवाक्यजन्ये देवदत्तीये "अहं सुखी" इति शाब्दबोधे, कथं न प्रत्यक्षत्वापत्तिः ? तदानी सुखात्मकस्य विषयस्य वर्त्तमानत्वेन, सुखात्मकवर्त्तमानविषय-तद्वृत्त्योः, अन्तकरणात्मकैकदेशस्थत्वस्य अवच्छेद्यचैतन्याभेदप्रयोजकस्य अक्षुण्णत्वात् इत्याशङ्कां इष्टापत्त्या परिहरति—

न चैवमपि सुखस्य वर्त्तमानतादशायां "त्वं सुखी" तिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यादिति वाच्यम्, इष्टत्वात् ।

न चेति वाच्यमिति परेणान्वयः । इतिपदं एतत्परम्, नत्वाकारपरम्, वाक्ये आकाराभावात् । तथा च "त्वं सुखी" एतत् वाक्यं, त्वं सुखीति वाक्यम्, तेन जन्यं ज्ञानं तज्जन्यज्ञानं, तस्य । यद्वा इति पदमाकारपरमेव, वाक्याकारस्त्वानुपूर्व्येव, इति नासङ्गतिः । इष्टत्वात् = अभ्युपेयत्वात् ।

ननु वाक्यार्थबुद्धित्वं प्रत्यक्षत्वं च विरुद्धम्, इति कथ इष्टता ? तथा सति एकशेषापत्तिः । सति चैवं शब्दप्रत्यक्षयोः पृथक्प्रमाणत्वाभ्युपगमोप्यसगतः इति विचिन्त्याह—

दशमस्त्वमसीत्यादौ सन्निकृष्टविषये शब्दादप्यपरोक्षज्ञानाभ्युपगमात् ।

इत्यादौ = इत्यादिवाक्यप्रयोगस्थले । आदिपदेन सन्निकृष्टघटादिविषयकबोधमुद्दिश्य प्रयुक्त "अयं घट" इत्यादिवाक्यप्रयोगस्थलपरिग्रहः । अपरोक्षं च तत् ज्ञानम्, अपरोक्षज्ञानं प्रत्यक्षज्ञानम्, तस्याभ्युपगमः, स्वीकारः, तस्मात् । अयं भावः—यत्र दश जनाः कांचन नदीं सन्तर्तुमारब्धाः, परपारगमनानन्तरं तदन्तर्गतः कश्चित् स्वं विस्मृत्य गणयन् संख्यापूर्त्तिमलभमानो विषीदति । तत्र अन्यः कश्चन "दशमस्त्वमसि" इति यदा कथयति, तदा विषीदतस्तस्य "दशमोऽहमिति" यज् ज्ञानं जायते, तत्, शब्दजन्यतया शाब्दं भवदपि, प्रत्यक्षरूपमेव भवतीति मन्तव्यमेव । अन्यथा अवभासे स्फुटत्वापलापप्रसंगात् । "दशमत्वेन आत्मानमहं साक्षात्करोमि" इति अनुव्यवसायाभावप्रसङ्गाच्च । एवं च तद्वदेव "त्वं सुखी" इति वाक्यजन्ये "अहं सुखी" इति ज्ञानेऽपि प्रत्यक्षत्वमभ्युपगन्तव्यमेवेति ।

विषयसन्निकर्षे विद्यमाने ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं मन्तव्यमेवेति स्पष्टयति—

अत एव पर्वतो वह्निमान् इत्यादिज्ञानमपि वन्ह्यंशे परोक्षम्, पर्वतांशेऽपरोक्षम् ।

अत एव इत्यस्य सन्निकृष्टविषयकज्ञाने प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमादेव इत्यर्थः। अपिकारो भिन्नक्रमः । तथा च "इत्याद्यपि ज्ञानम्" इति इत्यादिज्ञानमपीत्यस्यार्थः । आदिपदेन सन्निकृष्टविषयकज्ञानान्तरग्रहणम् वह्न्यंशे इत्यत्रासन्निकृष्टे, पर्वतांशे इत्यत्र च सन्निकृष्टे इति शेषः ।

पर्वतांशे अपरोक्षत्वप्रयोजकमुद्घाटयति—

पर्वताद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चाभेदात् ।

पर्वतादिना अवच्छिन्नं पर्वताद्यवच्छिन्नं, तादृक् च चैतन्यम्, पर्वताद्यवच्छिन्न-चैतन्यम्, तस्य। अन्त.करणस्य वृत्तिः अन्त.करणवृत्तिः, बहिर्निःसृता अन्तःकरणवृत्तिः बहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्तिः, तया अवच्छिन्नं चैतन्यम्, तस्य। अभेदात् इत्यस्य भेदाभावात् इत्यर्थः। **अयं भावः—"प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभेदमिति ब्रूमः" इत्यनेन अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यविषयचैतन्ययोः अभेदः, ज्ञप्तिगत-प्रत्यक्षत्वप्रयोजकः इति पूर्वमेव प्रतिपादितम्। तादृशस्य चैतन्याभेदरूपस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकस्य विद्यमानतया "पर्वतो वह्निमान्" इत्यनुमितेः पर्वतांशे अपरोक्षत्वे को नाम सन्देहावसरः ? इति।**

निरुक्तानुमितेः वह्न्यंशे कुतो न प्रत्यक्षत्वम् इति स्पष्टयति—

वह्न्यंशे त्वन्तःकरणवृत्तिनिर्गमाभावेन, वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमाणचैतन्यस्य च परस्परं भेदः -

अन्तःकरणस्य वृत्तिः, अन्त.करणवृत्तिः, तस्या. निर्गम., तस्य अभावः। प्रमाण = अन्तःकरणवृत्तिः, तदवच्छिन्न चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्, तस्य। **अयं भावः—विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावे नेन्द्रियद्वारा अन्तःकरणवृत्तिनिर्गमनसम्भवः, अतः पर्वतो-वह्निमानित्यनुमितिस्थले वह्नेर्व्यवहिततया इन्द्रियसन्निकर्षाभावात् नान्तःकरणस्य वह्न्याकाराकारितासम्भवः। तथा च वह्नितद्वृत्त्योरवच्छेदकयोः एकदेशस्थत्वा-भावेन, प्रयोजकाभावेन न वह्न्यवच्छिन्नचैतन्य-तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदः। सति चवं का सम्भावना निरुक्तज्ञानस्य वह्न्यंशे अपरोक्षत्वस्य ? पर्वतांशे तु चक्षुस्सन्निकर्षस्याबाधतया, इन्द्रियद्वारा अन्तःकरणवृत्तेः बहिर्निर्गमात्, पर्वततद्वृत्त्योरेकदेशस्थत्वेन पर्वतावच्छिन्नचैतन्यतद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदात् निरुक्तज्ञानस्य पर्वतांशे अपरोक्षत्वं निराबाधमिति।** ननु इन्द्रियसन्निकृष्ट-त्वाच्चेत् पर्वतांशे प्रत्यक्षत्वं तदा वह्निना सह सन्निकर्षस्थले सत्यामपि वह्न्यनुमित्साया ज्ञानस्य वह्न्यंशे प्रत्यक्षत्वापत्तिर्दुर्वारा। इन्द्रियसन्निकर्षस्य वह्नौ सत्त्वेन प्रोक्तप्रकारेण अवच्छिन्नचैतन्यद्वयस्याभेदात् इति चेन्न, इष्टापत्तेः। तदंशे परोक्षज्ञानं प्रति तदंशे अपरोक्षज्ञानसामग्र्या प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमात्। न खलु वयमक्षचरणपक्ष-रक्षिण इव पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञानस्य पर्वतांशेऽपि अनुमितित्वमभ्युपगच्छामः येनानुमित्सामुत्तेजकीकृत्य तद्विरहवैशिष्ट्येनावश्य विशेषणीया स्यात् प्रतिबन्धक-त्वेनाभिप्रेता अपरोक्षसामग्री।

परम्पर भेद इत्यत्र भेदस्य सप्रतियोगिकत्वरव्यापनाय परस्परग्रहणम् । अन्यथा भेदशब्दम्य प्रकारवाचित्वात् स्यात्कस्यचन भ्रान्तिः । इति ।

एकस्या वृत्तौ अशभेदेन परोक्षत्वापरोक्षत्वे न विरुद्धे इत्यत्र अनुभवं प्रमाणयति—

तथा चानुभवः, पर्वतं पश्यामि वह्निमनुमिनोमीति ।

अंशभेदेनापि परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः विरोधाभ्युपगमे, नायमनुभवः सर्वजन-साक्षिकः सम्पत्तिमर्हतीति भावः ।

ननु न्यायमतेऽपि दोषाभाव इत्याशङ्क्याह—

न्यायमतेऽत्र पर्वतमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायापत्तिः ।

चस्त्वर्थे, आपत्ति. प्रसङ्गः । यद्यपि "वह्निमत्तया पर्वतमनुमिनोमि" इत्य-नुव्यवसाय स्वीकुर्वन्त्येव तार्किकाः । तथापि "पर्वतमनुमिनोमि" इति न स्वीक-र्तुमर्हन्ति । **अयं भावः—व्यवसायीयविषयतायाः व्याप्यत्वं अनुव्यवसायीय-विषयतायाः व्यापकत्वम् । सति चैवं "वह्निमनुमिनोमि" इतीव "पर्वतमनु-मिनोमि" इत्यनुव्यवसायः कथं न स्यात् ?** न चोद्देश्यताख्य-विषयताभिप्राय एव व्यवसायीयविषयतायाः तथाविधानुव्यवसायीयविषयताव्याप्यत्वम्, सामान्य-रूपेण व्याप्यव्यापकभावसम्भावनाया विशेषरूपेण तदनभ्युपगमात् । एवमपि च "संयोगमनुमिनोमि" इत्यनुव्यवसायापत्तेः दुर्वारत्वात् ।

ननु तर्हि वेदान्तमते किं सकलानुमितिस्थले पक्षांशे अपरोक्षत्वं विधेयांशमात्रे अनुमितित्वमभिमतम् ? तथा सति, "पिशाचः स्तम्भभिन्नः, मृदनुपादानत्वात्" इत्यत्र पिशाचांशे अपि प्रत्यक्षत्वापत्तिः । एवं "वह्निः एतत्पर्वतनिष्ठः जनकता-सम्बन्धेन एतद्धूमविशिष्टत्वात्" इत्यत्र असन्निकृष्टवह्न्यंशेऽपि प्रत्यक्षत्वापत्तिः, अत आह—

असन्निकृष्टपक्षकानुमितौ सर्वांशेऽपि ज्ञानं परोक्षम् ।

न सन्निकृष्टः असन्निकृष्टः, तादृशः पक्षो यत्र, तादृशी अनुमितिः, असन्निकृष्ट-पक्षकानुमितिः, तस्याम् । अपिः एवार्थकः । तथा च सर्वांशेपि इत्यस्य सर्वांशे एव,

इत्यर्थः । अयमाशयः— क एवमाह यत् सर्वत्रानुमिते पक्षांशे प्रत्यक्षत्वमिति ? अतः अनुक्तोपालम्भनमेतत् यत् पिशाचस्य व्यवहितस्य वा पक्षस्य प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति । यत्र प्रत्यक्षत्वे प्रयोजकसम्भवः तत्र प्रत्यक्षत्वमेव, नानुमितित्वमित्येवास्माकं वक्तव्यम् इति ।

नन्वेवं सति "सुरभि चन्दनम्" इति ज्ञानस्य सौरभांशे प्रत्यक्षत्वं न स्यात्, धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षत्ववारणाय प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभेदात्मके प्रत्यक्षत्वप्रयोजकशरीरे विषये योग्यत्वविशेषणस्य प्रोक्तत्वात् इत्याशङ्का इष्टापत्त्या परिहरति—

सुरभि चन्दनमित्यादिज्ञानमपि चन्दनखण्डांशेऽपरोक्षम्, सौरभांसे तु परोक्षम् । सौरभस्य चक्षुरिन्द्रियायोग्यतया योग्यत्वघटितस्य निरुक्तलक्षणस्याभावात् ।

आदिपदेन "घटो वायुमान्" "घटो गुरुः" इत्यादिज्ञानपरिग्रह. । घटितत्वं त्वत्र योग्यत्वप्रत्ययव्यतिरेक-प्रतियोगिप्रत्ययकत्वरूपमवज्ञेयम् । ननु सौरभांशे परोक्षमित्यस्य कोऽर्थः ? न तावदनुमितिरूपमिति । सौरभव्याप्तहेत्वज्ञानात् । न च चन्दनत्वमेव हेतुः, सुरभि चन्दनमितिज्ञानस्यैकतया, तत्पूर्वं चन्दनत्वानुपस्थितेः हेत्वज्ञानात् तावताप्यनुपपादनात् । एतेन अर्थापत्तिरूप तत् इत्यपि निरस्तम्, उपपाद्यान्यथानुपपत्त्या तदुपपादककल्पनस्यैवार्थापत्तिप्रमाणतया, प्रकृते सौरभोपपाद्यस्य कस्यचित् ज्ञानाभावेन तदन्यथानुपपत्त्या सौरभकल्पनायाः असम्भवात् । न च चन्दनत्वमेवोपपाद्यम्, सुरभि चन्दनमितिज्ञानस्यैकतया चन्दनत्वरूपस्योपपाद्यस्यापि पूर्वमज्ञातत्वात् । न चाज्ञातेनोपपाद्येनोपपादककल्पनम्, अतिप्रसङ्गात् । चन्दनत्वस्य वालचन्दनपादपेऽपि सत्त्वात् तत्र सौरभाभावेन उपपाद्योपपादकभावस्याप्यभावात्, इति चेत् मैवम्, सौरभांशे स्मृतिरूपताभ्युपगमात् । यद्यपि संस्कारोद्बोधकाभावात् तथाभ्युपगमस्यापि दुष्करतैव, तथापि स्मारकादृष्टस्योद्बोधकतामभ्युपेत्य तस्य सुवचत्वात् ।

परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः एकज्ञाननिष्ठत्वाभ्युपगमे तयोः साङ्कर्यरूपात् वाधकात् जातित्वाभावापत्तिः, इत्याशङ्का इष्टापत्त्या परिहरति—

न चैवमेकत्र ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरभ्युपगमे तयोर्जातित्वं न स्यादिति वाच्यम्, इष्टत्वात् ।

न चेनि वाच्यमिति परेणान्वयः । एकत्रेति ज्ञानविशेषणम् । तथा च एकस्मिन् ज्ञाने, इत्यर्थः । नयोः = परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः । साङ्कर्यादिति शेष. अयं तावदत्राशयः पूर्वपक्षिणः, यत्.

व्यक्तरेभेदः तुल्यत्वं, सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जाति-बाधक-संग्रह ॥

इत्यत्र साङ्कर्यस्यापि जातिबाधकत्वाङ्गीकारात्, परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः प्राप्तसाङ्कर्ययोः न जातित्व शक्यं म्यादभ्युपगन्तु भूतत्व-मूर्तत्वयोरिव । एकत्र ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरङ्गीकारे भवति तयोः साङ्कर्यमिति वेदान्तसिद्धान्ते तयोः जातित्वं न स्यात् । तथाहि—परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरेकत्र समावेशः साङ्कर्यमिति नल्लक्षणम् । अय घटः इति केवलापरोक्षज्ञाने परोक्षत्वं विहाय अपरोक्षत्वमस्ति, अप्रत्यक्षपक्षसाध्यके सर्वाशानुमितौ अपरोक्षत्वं विहाय परोक्षत्वमस्तीति तयोः परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यम् । इदानीं पर्वतो वह्निमान् इति प्रत्यक्षपक्षके ज्ञाने परोक्षत्वमपरोक्षत्वञ्चाङ्गीक्रियते, इति एकत्र समावेशः । एव च साङ्कर्यलक्षणसद्भावात् साङ्कर्यापत्त्या परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः जातित्व न स्यात् इति ।

इष्टत्वे हेतुमाह—

जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकलप्रमाणागोचरतया अप्रामाणिकत्वात् ।

नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं जातित्वम्, जातिभिन्नानुगतधर्मत्वं उपाधित्वम्, इति या नैयायिकसङ्केतरूपा परिभाषा, तस्याः । सकलप्रमाणागोचरतया इत्यस्य तत्तत्प्रमाणगोचरत्वाभावकूटवत्तया इत्यर्थः । तेन न हेत्वर्थकतृतीयाया असङ्गतिः । अन्यथा सकलप्रमाणागोचरत्वस्यैवाप्रामाणिकत्वपदार्थतया ज्ञाप्यज्ञापकभावोक्त्यसङ्गत्यापत्तेः । अप्राणिकत्वं प्रमाणगोचरत्वसामान्याभावः । विशेषाभावकूटस्य सामान्याभावहेतुता प्रसिद्धैव । वस्तुतस्तु साङ्कर्यस्य जातिबाधकत्वमेव नास्ति । नव्यवैशेषिकैरपि तथोक्तेः । तथा च नापत्तिगन्धोऽपि ।

ननु जातौ प्रत्यक्षप्रमाणगोचरत्वसत्त्वात् कथं उक्तविशेषाभावकटसिद्धिः ? अत आह—

घटोयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानम्, न तु तस्य जातित्वेऽपि ।

आदिपदेन पटोऽयम्, मठोऽयम् इत्यादिप्रत्यक्षपरिग्रहः । घटत्वादीत्यादिपदेन पटत्वादिपरिग्रहः । सद्भावे = अस्तित्वे । मानं = प्रमाणम् । **अयमाशयः— धर्मिप्रत्यक्षं न धर्ममविषयीकृत्य भवितुमर्हतीति, घटोऽयमिति प्रत्यक्षं न घटत्वमविषयीकृत्य भवितुमर्हति । तथा च प्रत्यक्षमेव घटत्वजातौ प्रमाणमिति यत् पूर्वपक्षिणामभिप्रेतं तन्न युक्तम् । यतः धर्मिप्रत्यक्षे धर्मस्य विषयत्वेऽपि घटत्व जातिरिति न सिद्धिमर्हति, घटत्वस्य उपाधित्वेऽपि विषयत्वाक्षतेः ।**

ननु तथापि न तत्प्रमाणगोचरत्वाभावकूटात्मक-सकलप्रमाणागोचरत्वहेतोः सिद्धिः, घटत्वादौ जातित्वस्यानुमानप्रमाणगम्यत्वात् । किमाकारकमनुमानमिति चेत् "घटत्वं जातिः घटत्वत्वात् इति ज्ञायताम् अत आह—

जातित्वरूपसाध्याप्रसिद्धौ तत्साध्यकानुमानस्याप्यनवकाशात् ।

जातित्वरूपं यत्साध्यं, तस्याप्रसिद्धौ । अपिना अर्थापत्तेः परिग्रहः । अवकाशः = सम्भवः । अनवकाशः = असम्भवः, तस्मात् । प्रसिद्धस्यैव साध्यस्य प्रसिद्धे पक्षे अनुमितिर्भवति, नाप्रसिद्धस्य । पटत्वादावपि सर्वत्र जातित्वप्रसिद्धमेवेति कथं घटत्वे जातित्वस्य साधनं सुशक्यं कर्तुमिति । इदमत्रानुसन्धेयम्— "घटत्वं जातिः घटत्वत्वात्" इत्यस्य नानुमानत्वम्, अन्वयदृष्टान्ताभावेन अन्वयित्वाभावात् । केवलव्यतिरेक्यनुमानस्य वेदान्तिभिरनभ्युपगमात् । न चेदमपि वक्तव्य यत् अर्थापत्त्यैवास्तु घटत्वस्य जातित्वसिद्धिरिति, घटत्वत्वजातित्वयोः उपपाद्योपपादकभावाभावात् । उपपाद्यज्ञानेन उपपादककल्पनमेवार्थापत्तिः । न च तस्याः सम्भवः प्रकृते ।

ननु नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं जातित्वम्, तादृशस्य जातित्वस्यास्ति घटत्वे सिद्धिसम्भवः । अनुमानाकारस्तु घटत्वं नित्यं सदनेकसमवेतम्, अनुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वात् पटत्ववदिति । दृष्टान्तेऽपि च दृष्टान्तान्तरेण साध्यसिद्धिः, अत आह—

समवायासिद्ध्या ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्चस्यानित्यत्वात् च नित्यत्वसमवेतत्वघटितजातित्वस्य घटत्वादावसिद्धेश्च ।

समवाय: अयुतसिद्धप्रतियोग्यनुयोगिक: सम्बन्ध:, तस्या: सिद्धि:, तया । निखिल: प्रपञ्चो निखिलप्रपञ्च:, ब्रह्मभिन्नश्चासौ निखिलप्रपञ्च: ब्रह्मभिन्ननिखिलप्रपञ्च: तस्य अनित्यता, तया । प्रपञ्चो विस्तार: मायापरिणाम:, तस्य ब्रह्मभिन्नत्वेनासिद्धावपि परिणामिन्या: मायाया: ब्रह्मभिन्नत्वं न निराकृतं भवतीति निखिलपदग्रहणम् । परिणामिन: परिणामानुस्यूते: तस्य निखिलत्वमिति बोध्यम् । अन्यथा निखिलपदोपादानानर्थक्यापत्ते: । अनित्यत्वं ध्वंसप्रतियोगित्वम् । नित्यत्वं च समवेतत्वं च नित्यत्वसमवेतत्वे, ताभ्यां घटितं यत् जातित्व तस्य । नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वरूपस्य जातित्वस्येत्यर्थ: । घटत्वादावसिद्धे: = घटत्वादावभावात् । अयमाशय:—घट: गुणवान्, घट: क्रियावान् इत्यादिविशिष्टबुद्धि: विशेषण-विशेष्य-सम्बन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वात् दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत् इत्यनुमानेन यत् समवायसिद्धिमुद्घोषयन्ति तार्किकवैशेषिका: तन्न मनोरमम् । तत: सम्बन्धमात्रसिद्धे: । स्वरूपस्यापि तादृशसम्बन्धत्वसम्भवात् न तत: समवायसिद्धि: । यच्च लाघवज्ञानसहकृतेनोक्तानुमानेन समवायसिद्धिरिति कथनं तदपि न शोभनम्, समवायस्यैकत्वाभ्युपगमेनैव लाघवज्ञानसम्भवेन, रूपस्पर्शसमवाययोरभेदात् वायू रूपवानिति प्रतीत्यापत्ते: । समवायस्य एकत्वेऽपि प्रतियोग्यनुयोगिभेदात् औपाधिकं तद्भेदं प्रकल्प्य, कल्पितस्यैव च तादृशसमवायस्य विशिष्टप्रतीतिनियामकत्वमिति चाभ्युपेत्य प्रोक्तापत्तिवारणमपि न मनोरमम्, अस्मन्मते ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्यैव कल्पितत्वेन स्वरूपस्यापि कल्पितत्वात् भिन्नतया कल्पितेन स्वरूपेण गुणवद्द्रव्यमित्यादिप्रतीतिनिर्वाहे यतो न समवायसिद्धि: । सति चैवं समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतारूपस्य समवेतत्वस्याप्यभावात् न नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वरूपस्य जातित्वस्य सिद्धिसम्भावना । प्रलये गोघटादिध्वंसे निष्पद्यमाने गोत्वघटत्वादिध्वंसोप्यनिवार्य एव । न हि तदानीं गोघटाद्यनाश्रित्यापि गोत्वघटत्वादिकं तिष्ठतीति वाच्यम्, अगोरपि गोत्वप्रसङ्गात् । अघटस्यापि च घटत्वप्रसङ्गात् । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुत्यापि जातेर्नित्यत्वाभाव: स्वीकर्त्तव्य: ।

नन्वास्तां जातित्वपरिभाषाया: असिद्धि:, उपाधित्वपरिभाषाया: कुत: अप्रामाणिकत्वम् ? अत आह—

एवमेवोपाधित्वमपि निरसनीयम् ।

एवकारो भिन्नक्रम: । निरसनीयमित्यनन्तरं तस्य योजना । एवमित्यस्य तथा सतीत्यर्थ: । अयं भाव:—जातिभिन्नानुगतधर्मत्वमुपाधित्वम् इत्येवोपाधित्व-

परिभाषा कार्या । सा च जातित्वसिद्ध्यधीना, अतः जातित्वासिद्धिमुपदर्श्य तदपि निरसनीयमिति ।

ननु तिष्ठतु जात्युपाधिकथा । पर्वतो वह्निमान् इत्यत्र विरुद्धयोः परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः कथमेकत्र सम्भवः ? इत्यत आह–

पर्वतो वह्निमान् इत्यादौ च पर्वतांशे वह्न्यंशे च वृत्तिभेदाङ्गीकारेण तत्तद्वृत्त्यवच्छेदकभेदेन परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः एकत्र चैतन्ये वृत्तौ न विरोधः ।

तत्तद्वृत्तिरेवावच्छेदकधर्मः, तस्य भेदेनेत्यर्थः । वृत्तौ = अस्तित्वे । न विरोधः = नानुभवविरोधः । **अयमभिप्रायः— अन्तःकरणनिर्गमानिर्गमाभ्यां पर्वताकारायाः वह्न्याकारायाश्च वृत्तेः भेदः आवश्यकः, किन्तु तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यं एकमेव । तथा च एकस्मिन्नेव वृक्षे यथा शाखावच्छेदेन कपिसंयोगः मूलावच्छेदेन तु कपिसंयोगाभावः, तथा एकत्र चैतन्ये वृत्त्यात्मकावच्छेदकभेदेन परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः अव्याप्यवृत्तितया सत्त्वे न काऽपि बाधेति । "अत एव पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमपी" त्यादि स्थले ज्ञानपदेन वृत्तिद्वयावच्छिन्नं एकं चैतन्यं ग्राह्यम्, ततो नासङ्गतिः ।**

ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षलक्षणमुपसंहरति –

तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्य—वर्तमान-विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तद्वृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् ।

तथा च = योग्यत्व-वर्तमानत्वादीनां निवेशे परोक्षत्वापरोक्षत्वयोरवच्छेदकभेदादेव एकज्ञानवृत्तित्वस्वीकारे च । तत्तत् इन्द्रियं, तत्तदिन्द्रियं, तस्य योग्यः, तत्तदिन्द्रिययोग्यः, तथाविधो यो वर्तमानो विषयः, तदवच्छिन्नं यच्चैतन्यं तस्मादभिन्नत्वम् । सा सा वृत्तिः, तत्तद्वृत्तिः, तया अवच्छिन्नं यत् ज्ञानं, अर्थात् चैतन्यं तस्य । **इदमत्रावधातव्यम् — ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वमित्यत्र ज्ञप्तिपदेन चैतन्यस्य ग्रहणे स्वावच्छेदकवृत्तिविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं प्रत्यक्षत्वमिति लक्षणं बोध्यम् । तथा हि—अयं घट इति प्रत्यक्षस्थले स्वं = अयं घट इति वृत्त्यात्मकज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यं तदवच्छेदिका वृत्तिः अयं घट इति वृत्तिः,**

तद्विषयो घटः, तादृशघटावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं अयं घट इति वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यात्मकज्ञप्तेः, इति लक्षणसमन्वयः। कुतः चैतन्ययोः तयोः अभिन्नत्वमिति प्रश्नोत्थितौ, अवच्छेदकयोर्द्वयोरेकदेशस्थत्वं चैतन्यद्वयाभेदप्रयोजकमित्यादिपूर्ववृत्तस्मरण विधेयम् । निरुक्तज्ञप्तिपदेन वृत्तेर्विवक्षणे तु स्वविषय-निष्टावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतावच्चैतन्याभिन्नचैतन्यनिष्ठावच्छेद्यतानिरूपितावच्छेदकत्वं प्रत्यक्षत्वमितिलक्षण वेदितव्यम् । तथा हि – अयं घट इतिवृत्तेः प्रत्यक्षत्वे । विवक्षिते स्वं तादृशी वृत्तिः, स्वविषयो घटः, तन्निष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतावत्, चैतन्यं, तदभिन्नं चैतन्यं "अय घट" इतिवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं, तन्निष्ठावच्छेद्यता निरूपितावच्छेदकता "अय घट" इति वृत्तौ, इति लक्षणसमन्वयः ।

किं ज्ञानगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकं पृच्छसि किं वा विपयगतस्य ? इत्येवं विकल्पितस्य विपयगतस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रयोजकमाह–

घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमातृचैतन्याभिन्नत्वम् ।

घटादेरित्यत्र विशेषणविभक्त्यर्थः अभेदः । तथा च घटाद्यभिन्नविषयस्येत्यर्थः । विशेषणविभक्तेः सर्वत्र साधुत्वमात्रार्थकत्वे अभेदस्य संसर्गतया भानं बोध्यम् । विषयस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थो निष्ठत्वम् । विशेष्यसंगतस्य तुकारस्य अन्ययोगव्यवच्छेदोऽर्थः । तेन पूर्वोक्तज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वनिरासः । प्रमातृचैतन्यं अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम्, तस्मादभिन्नत्वम् । तथा चान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं घटादिविषयनिष्ठं प्रत्यक्षत्वमित्यर्थः । ननु ग्रन्थकृदुक्तिरियं "आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे" इति लोकोक्तिविषयतामेव भजते । न खलु प्रयोजकप्रश्ने प्रयोज्यचर्चात्मकमुत्तरं युक्तम्, इति चेत्, सत्यम् । प्रत्यक्षत्वमित्यस्य प्रत्यक्षत्व प्रयोजकमित्यर्थकत्वात् असङ्गत्यभावः । यद्वा "प्रत्यक्षत्वं तु" इत्यत्र तुकारेण न ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वस्य व्यवच्छेदोऽभिप्रेतः, अपि तु इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वस्य । तथा च "घटो मे प्रत्यक्षः" इत्यनुभवसिद्धं घटगतप्रत्यक्षत्वं किमिति प्रश्ने, "इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्व" तदिति वदन्ति स्म नैयायिकाः, तन्निरासायैव प्रतिपादयन्त्यध्वरीन्द्राः घटादेर्विषयस्येत्यादि । तथा चायं भावः–विषयगतप्रत्यक्षत्वं नेन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वम् । तथा सति पर्वतांशे प्रत्यक्षरूपता इन्द्रियाजन्यज्ञानपदेन "पर्वतो वह्निमान्" इत्यनुमितिज्ञानमादाय तद्विषयत्वस्य वह्नावपि सत्त्वात् वह्नेरपि प्रत्यक्षत्वापत्तेः । अपि तु प्रमातृचैतन्याभिन्नत्वं तथा च न वह्नावतिव्याप्तिरिति ।

जडस्य घटादेः एव प्रकाशात् चैतन्यात् कथमभेदः ? इत्याशङ्कते–

ननु कथं घटादेः अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याभेदः ? अहमिमं जानामीति भेदानुभवविरोधात् ।

अन्तःकरणेन अवच्छिन्नं चैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं, तस्मादभेदः, तादृशचैतन्याभेदः । भेदस्यानुभवो भेदानुभवः तेन विरोधः, बाधः । तथा च भेदानुभवबाधात् इत्यर्थः । **अयमाशयः—अहमिमं जानामीत्यत्र अस्मदर्थतदर्थयोः भेदः अवश्यं वक्तव्यः । तथा च भेदानुभवेनानेन बाधितं घटादेः जडस्य स्वप्रकाशात् चैतन्यादभिन्नत्वम्, इति कथं ग्रन्थकृदुक्तिर्युक्ता । यद्यपि 'अयमहमायातः" इत्यादिवाक्यप्रयोगस्थले दृश्यत एवैकार्थबोधकत्वमस्मदिदमोः, तथापि असमान-विभक्ति-प्रकृतिभूतयोस्तयोः नैकार्थबोधकत्वम्** । यदि च "अहमिममात्मानं जानामि" इत्यादिप्रतीतिरनुभवसिद्धा, तदा निरुक्तस्थले अस्मत्पदस्य स्वप्रकाशार्थकत्वम्, इदमश्च जडार्थकत्वमभ्युपेत्य ग्रन्थः सङ्गमनीयः, जडाजडयोरभेदासम्भवात् ।

उत्तरयति—

प्रमात्रभेदो नाम न तावदैक्यम् किन्तु प्रमातृसत्तातिरिक्त-सत्ताकत्वाभावः ।

प्रमात्रा अभेदः प्रमात्रभेदः । ऐक्य तादात्म्यम्, अभिन्नत्वमित्यर्थः । प्रमातुः सत्ता प्रमातृसत्ता, ततोऽतिरिक्ता, अर्थात् तद्भिन्ना या सत्ता, सा प्रमातृसत्तातिरिक्त-सत्ता, तत्कत्वं तदात्मकत्वम्, तदभावः, प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः, स एव प्रमात्रभेदपदार्थः । सत्ता चात्र न न्यायवैशेषिकसमयसिद्धा जातिः, न वा बौद्धबुद्ध्युपारूढा अर्थक्रियाकारिता, अपि तु वस्तुत्वम् । तथा च अन्तःकरणा-वच्छिन्नचैतन्यगतवस्तुत्वाश्रयत्व घटपटादेर्विषयस्य प्रमात्रभिन्नत्वमित्यर्थः । सिद्धान्ते चैतन्यस्यैवैकस्याकल्पितस्य वस्तुत्वेन घटादिविषयेषु अधिष्ठानभूत-चैतन्यगतमेव वस्तुत्वं कथञ्चिदवभासते, न तेषां स्वातन्त्र्येण वस्तुत्वम् इत्यभ्यु-पगमात् । घटपटादिविषयावच्छिन्नं अन्तःकरणावच्छिन्नं च चैतन्यमेकमेवेति स्वावच्छिन्नचैतन्याध्यस्तमपि घटपटादिकं फलतः अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य एवाध्यस्तमिति स्वीकारात् अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यात्मकवस्तुगतमेव वस्तुत्वं

घटादौ विद्यमाने, न तदतिरिक्तं वस्तुत्वमिति अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यगत-वस्तुत्वातिरिक्तवस्तुत्वानाश्रयत्वस्वरूपः प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः सुसम्पन्नो घटादिष्विति ।

अत्रेदं चिन्तनीयम् — यद्यपि अतिरिक्तसत्तायाः कुत्राप्यभ्युपगमे तत्रैव प्रत्यक्षत्व-प्रयोजकाभावापातः, अनवगमे तत्कत्वाभावज्ञानाभावापातः, प्रतियोगिबुद्धिमवधूय अभावज्ञानाभावात्, न च गुरुत्वाद्यतीन्द्रियपदार्थगता सत्ता अतिरिक्तसत्तापदेन धर्त्तुं शक्या, तत्र तत्कत्वाभावाभावेऽपि क्षत्यभावात् तेषामप्रत्यक्षत्वादिति वाच्यम्, द्वैतापत्तिभिया गुरुत्वादावप्यतिरिक्तसत्ताभ्यु-पगमासम्भवात् तथापि प्रमातृगतसत्ताप्रकारकारोपविशेष्यतैवात्र ग्रन्थकृद-भिप्रेता, अतो नासङ्गतिः ।

प्रकृतमुपपादयति—

तथा हि घटादेः स्वावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्ततया विषयचैतन्यसत्तैव घटादिसत्ता ।

आदिना पटादीनां ग्रहणम् । स्वावच्छिन्नचैतन्ये घटाद्यवच्छिन्नचैतन्ये । अयमर्थः—वेदान्त-सिद्धान्ते चैतन्यातिरिक्तत्वेनाभिमताना समस्तवस्तूनां चैतन्ये अध्यस्तता । अतः न तेषु पारमार्थिकी सत्ता । सति चैव घटादौ चैतन्यसत्तातिरिक्त-सत्ताकत्वाभावः सुसम्पन्नः । ननु कथं तर्हि "सन् घटः" इत्यादि प्रतीतिः ? अतः घटादिगतसत्ताप्यङ्गीकार्यैव । इत्यतो हेतुमाह—

अधिष्टानसत्तातिरिक्तायाः आरोपितसत्तायाः अनङ्गीकारात् ।

अधिष्ठानं चैतन्यं तन्निष्ठा सत्ता, तदतिरिक्तायाः । आरोपिते सत्ता आरोपितसत्ता, तस्याः । न अङ्गीकारः अनङ्गीकारः अस्वीकारः, तस्मात् । **अयं भावः**—घटादिसत्तापदेन किमभिमतं परेषाम् ? सत्ता जातिश्चेत् न साभ्युपगता अस्माभिः । अर्थक्रियाकारित्वं चेत् ब्रह्माभिन्नवस्तुना मिथ्यात्ववादिनां वेदान्तिनां वस्तुतोऽर्थक्रियाद्यभावेन न तदपि क्षममभ्युपगन्तुम् । वस्तुत्वं चेत्, तत् चैतन्यरूपतया चैतन्यगतमेव भवितुमर्हति न घटादिगतम् । अतः चैतन्यारोपितेषु घटादिषु न काचन सत्ता स्वातन्त्र्येण स्वीकर्त्तव्या । अधिष्ठानभूतचैतन्यगतैव

सत्ता चैतन्याध्यस्तघटादौ आरोपिता "सन् घटः" इत्यादिप्रत्ययविषयतां भजते इति ।

ननु सत्यप्येवं घटादेः स्वावच्छिन्नचैतन्याध्यस्ततया तत्सत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्य घटादिविषये, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यात्मकप्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः तावतापि घटादेरसिद्ध एव, इत्यत आह—

विषयचैतन्यं च पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमातृचैतन्यमेवेति प्रमातृचैतन्यस्यैव घटाद्यधिष्ठानतया प्रमातृसत्तैव घटादिसत्ता, नान्येति सिद्धं घटादेरपरोक्षत्वम् ।

विषयचैतन्यं घटादिविषयावच्छिन्नचैतन्यम् । पूर्वोक्तप्रकार एकदेशस्थयोर्विभाजकयोरप्युपधेयाभेदप्रयोजकत्वाभ्युपगमः । प्रमातृचैतन्यं अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यम् । तथा च अयंभावः—सत्यं घटादेर्विषयस्य स्वावच्छिन्न एव चैतन्ये अध्यासः, किन्तु चक्षुर्द्वारा अन्तःकरणवृत्तेः बहिः घटदेशगमनानन्तरं वृत्तेः, तद्द्वारा अन्तःकरणस्य, घटस्य च एकदेशस्थत्वेन उपधेयभूतचैतन्याभेदप्रयोजकतया, घटावच्छिन्नचैतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यम्, अन्तः करणावच्छिन्नचैतन्यञ्चैकमेव सम्पद्यते । सति चैवं घटादेर्विषयस्य स्वावच्छिन्नचैतन्याध्यासेऽपि फलतः प्रमातृभूतान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य एवाध्यासः । तथा च अधिष्ठानसत्तैवाध्यस्तसत्ता इति स्वीकारे प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकस्य घटादौ साधुतया सम्पन्नत्वेन न तेषां अपरोक्षत्वव्याघातशङ्कापीति ।

ननु चैतन्यमात्रस्यैकत्वेन अनुमेयवह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्यापि अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यात्मकप्रमातृचैतन्याभेदः अङ्गीकर्त्तव्य एवेति वह्न्यादेरपि फलतः प्रमातृचैतन्याध्यस्ततया प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्य वह्न्यादावपि सत्त्वेन पर्वतो वह्निमान् इत्यादौ कुतो न वह्नेरपरोक्षत्वप्रयुक्तानुमेयत्वव्याघातः ?

इत्यत आह—

अनुमित्यादिस्थले तु अन्तःकणरस्य वह्न्यादिदेशे निर्गमनाभावेन वह्न्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्यानात्मकतया वह्न्यादिसत्ता प्रमातृसत्तातो भिन्नैवेति नातिव्याप्तिः ।

आदिपदेन शाब्दानुपलब्धिकादीनामुपग्रहः। निर्गमनस्य अभावः निर्गमनाभावः, तेन । प्रमातृचैतन्यानात्मकतया = अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यभिन्नतया । अयमाशयः— न चैतन्यगत स्वाभाविकमेकत्व चैतन्योपाधिभूत-विषयगतापरोक्षत्व-व्यवहारनियामकमङ्गीक्रियते, अपि तु उपाध्योरेकदेशस्थत्वप्रयुक्तमौपाधिकमेकत्वम् । तथा च परोक्षस्थले विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावात् इन्द्रियद्वारा अन्तःकरणस्योपाधिभूतविषयदेशगमनाभावेन वह्न्यन्तःकरणयोरुपाध्योर्नैकदेशस्थता, इति न तत्प्रयुक्त उपधेययोः चैतन्ययोरेकत्वमिति न वह्नेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः ।

बाह्यपदार्थस्यानुमेयतास्थले अन्तःकरणस्य वहिर्निर्गमाभावात् उपाध्योरन्तःकरणविषययोरेकदेशस्थत्वाभावेऽपि आन्तरपदार्थस्यानुमेयतास्थले तयोरेकदेशस्थत्वस्य सुसम्पाद्यतया अनुमेयस्यान्तरपदार्थस्य विषयापरोक्षत्वापत्तिर्दुर्वारा, इत्यभिप्रायेण शङ्कते—

नन्वेवमपि धर्माधर्मादिगोचरानुमितिस्थले धर्माधर्मयोः प्रत्यक्षत्वापत्तिः । धर्माद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नतया धर्मादिसत्तायाः प्रमातृसत्तानतिरेकात् ।

धर्माधर्मादिः गोचरो = विषयो यस्याः सा धर्माधर्मादिगोचरा, तादृशी या अनुमितिः । अयमभिप्राय— धर्माधर्मौ तादात्म्येन अन्तःकरणे एव विद्यमानौ, अन्तःकरणं च स्वस्मिन् तादात्म्येन वर्त्तत एवेति धर्मात्मकविषयान्तःकरणयोरुपाध्योः एकदेशस्यतया, तदुभयावच्छिन्नचैतन्ययोरभेदस्य दुर्वारतया, धर्माधर्मादेः फलतः अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य एवाध्यासात् अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यात्मकप्रमातृसत्तातिरिक्त-सत्ताकत्वाभावस्य धर्माधर्मयोः सुघटत्वात् कथं नापरोक्षत्वापत्तिस्तयोरिति ।

अतिव्याप्तिं वारयति—

इति चेन्न योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वात् ।

विषयस्य योग्यत्वेन विशेषणीयत्वात् इत्यर्थः । न प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः, विषयनिष्ठः तादृशाभावो वा, प्रत्यक्षत्वस्वरूपभूतः । अपि तु योग्यविषयनिष्ठप्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः । तथा च धर्माधर्मयोरयोग्यतया तन्निष्ठ-

प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्यापरोक्ष्यरूपस्याभावेन नातिव्याप्तिः । योग्यत्वञ्चानतीन्द्रियत्वं अखण्डधर्मविशेषः, तेन नात्माश्रयापत्त्यवकाशः ।

एवमपि अनेकगुणकस्यैकद्रव्यस्य एकगुणविशिष्टतया प्रत्यक्षस्थले प्रत्यक्षविषयगुणसमानाधिकरणस्य अपरस्य गुणस्य, तादृशगुणविशिष्टतया द्रव्यस्य वा प्रत्यक्षं दुर्वारमित्याशङ्कते—

नन्वेमपि रूपी घट इति प्रत्यक्षस्थले घटगतपरिमाणादेः प्रत्यक्षत्वापत्तिः । रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य परिमाणावच्छिन्नचैतन्यस्य चैकतया रूपावच्छिन्नचैतन्यस्य प्रमातृचैतन्याभेदे, परिमाणावच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया परिमाणसत्तायाः प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावात् ।

एवमपीत्यस्य योग्यत्वस्य विषयविशेषणत्वेऽपीत्यर्थः । रूपमस्यास्तीति रुपी, स चासौ घटश्चेति रूपी घटः । इति प्रत्यक्षस्थले = इत्याकारकप्रत्यक्षकाले । घटगतपरिमाणादेः = तद्घटनिष्ठपरिमाणादेः । आदिपदेन संख्यादीनां ग्रहणं वेदितव्यम् । रूपावच्छिन्नचैतन्यस्येत्यादिना प्रत्यक्षत्वापत्तौ हेतूपादानं बोध्यम् अयमभिसन्धिः—एकदेशस्थयोरवच्छेदकयोः अवच्छेद्याभेदप्रयोजकत्वमिति बहुशः प्रतिपादितमेव । एवञ्च प्रकृतेऽपि रूपपरिमाणयोः घटात्मकैकदेशस्थयोः स्वावच्छेद्यचैतन्याभेदप्रयोजकत्वमक्षुण्णम्, इति रूपावच्छिन्नचैतन्यं परिमाणावच्छिन्नं च चैतन्यं एकमेव । स्वावच्छिन्नचैतन्ये अध्यस्तोऽपि विषयः फलतः अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्ये एव अध्यस्तः । अधिष्ठानसत्ताभिन्ना च नाध्यस्तसत्ता वेदान्तसिद्धान्तसिद्धा, इत्यादिपद्धतिः पूर्वंप्रसिद्धैव । तथा च रूपे यदि अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यात्मक–प्रमातृसत्तातिरिक्त-सत्ताकात्वाभावो विद्यते, तर्हि परिमाणेऽपि तादृशरूपसमानाधिकरणे सा विद्यत एवेति "रूपी घटः" इति प्रत्यक्षे कुतो न परिमाणावभास : ? इति ।

उत्तरयति—

इति चेन्न, तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात् ।

तत्तदाकार = विभिन्नविषयाकारा, या वृत्तिः तया उपहितत्वम्, तस्य । अपिकारेण विषयगतयोग्यत्वादेरुपग्रहः । प्रमातृविशेषणत्वात् = प्रमातृ-

सत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावघटक-प्रमातृविशेषणत्वात् । तथा च तत्तदाकार-वृत्त्युपहितप्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावो विषयस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकः, इति पर्यवसितार्थः ।

प्रमातरि प्रोक्तोपहितत्वविशेषणदाने कथमतिव्याप्तिवारणमिति विशदयति—

रूपाकारवृत्तिदशायां परिमाणाकारवृत्त्यभावेन परिमाणाकार-वृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वाभावेनातिव्याप्त्यभावात् ।

अयमभिप्रायः— भवतु नाम रूपावच्छिन्नपरिमाणावच्छिन्नचैतन्ययोरैक्यम् । अस्तु च प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः प्रोक्तयुक्त्या परिमाणेऽपि । किन्तु रूपाकार—परिमाणाकारवृत्त्योर्भिन्नत्वस्य, युगपन्नानावृत्त्यनुदयस्य च सर्वानुभवसिद्धतया, रूपाकारवृत्तिकाले परिमाणाकारवृत्त्यभावेन रूपी घट इति प्रत्यक्षस्थले परिमाणे रूपाकारवृत्त्युपहितप्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वस्याभावेऽपि परिमाणाकारवृत्त्युपहित-प्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्याभावेन, प्रयोजकाभावात् उक्तातिव्याप्त्या-पादनासम्भव इति ।

पुन शङ्कते—

नन्वेवं वृत्तावव्याप्तिः अनवस्थाभिया वृत्तिगोचरवृत्त्यनङ्गीकारेण तत्र स्वाकारवृत्त्युपहितत्वघटितलक्षणाभावात् ।

एवं प्रमातरि स्वाकारवृत्त्युपहितत्वविशेषणदाने । अव्यवस्थितपरम्पराभ्यु-पगमोऽनवस्था, तद्भिया । वृत्तिः गोचरो विषयो यस्याः वृत्तेः सा वृत्तिगोचरवृत्तिः, तदनङ्गीकारेण । तत्र = वृत्तौ । स्वाकारवृत्त्युपहितत्वघटितं यत् उक्तं लक्षणं तत्तदाकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावरूपं तस्य, अभावात् = असत्वात् । अत्र वृत्तित्वं स्वरूपज्ञानभिन्नज्ञानत्वम् । **अयं भावः—यथा घटपटादिविषयिणी "अयं घटः" "अयं पटः" इत्याद्याकारा अन्तःकरणवृत्तिरुपेयते, न तथा—वृत्तिविषयिणो वृत्तिरुपेतव्या । अन्यथा वृत्तित्वाविशेषात् वृत्तिविषयकवृत्तिवत् वृत्तिविषयकवृत्तिविषयिणो अपि वृत्तिः, पुनस्तद्विषयिणी अपि, पुनस्तद्विषयिण्यपि वृत्तिरभ्युपेया स्यादिति दुर्वारा स्यात् वृत्तिविषयवृत्तिमावप्रयुक्ता अनवस्था। सति चैवं वृत्त्याकारवृत्त्यप्रसिद्ध्या, वृत्तौ वृत्त्याकारवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्याप्रसिद्ध्या तद-भावेनाव्याप्तिरिति ।**

निराकरोति—

इति चेन्न । अनवस्थाभिया वृत्तेर्वृत्त्यन्तराविषयत्वेऽपि स्वविषयत्वाभ्युपगमेन, स्वविषयवृत्त्युपहितप्रमातृचैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि भावात् ।

तत्रापि = वृत्तावपि । भावात् = सत्त्वात् । **अयमाशयः—अनवस्थामीस्तु तद्वृत्तिविषयकतद्भिन्नवृत्तिस्वीकारे भवेदिति न सा अस्माभिः स्वीक्रियते, अपि तु तद्वृतिविषयिणी सैव वृत्तिरिति नानवस्था, न वा** वृत्त्याकारवृत्त्यप्रसिद्ध्या **प्रदर्शिता अव्याप्तिरिति** । न च स्वविषयत्वं स्वस्यासिद्धम्, स्वरूपज्ञानं तत्प्रसिद्धेः । "वृत्तिज्ञानं स्वविषयकं ज्ञानत्वात् स्वरूपज्ञानवत्" इत्यनुमानप्रमाणस्यापि सद्भावात् । न च "ज्ञान न स्वविषयक वस्तुत्वात् घटवत्" इति सत्प्रतिपक्षापत्तिः । स्वरूपज्ञाने व्यभिचारेण वस्तुत्वहेतोर्दुर्बलत्वात् । समानबलयोर्मल्लयोरिव विरुद्धसाधकयोर्हेत्वोः समानबलतायामेव सत्प्रतिपक्षप्रसरात् । न च स्वरूपज्ञानस्य स्वविषयत्वाभ्युपगमे अप्रसिद्धान्तापातः । तस्य फलव्याप्यताया एवाभावस्य वेदान्तसिद्धान्तसिद्धत्वात् । वृत्तिविषयत्वस्य तत्रापि मान्यतया, वृत्तेश्च स्वावच्छिन्न चैतन्याध्यस्ततया, अध्यस्तस्य चाधिष्ठानातिरिक्तसत्तानभ्युपगमेन वृत्तिविषयत्वस्यापि फलतः चैतन्यविषयत्वरूपत्वात् ।

अन्तःकरणतद्धर्माणां केवलसाक्षिविषयत्वेन तदाकारवृत्त्यनङ्गीकारेण तत्रतत्राव्याप्तिः तथापि दुरुद्धरा, इत्याशङ्कां निराकुरुते—

एवञ्चान्तःकरणतद्धर्मादीनां केवलसाक्षिविषयत्वेऽपि तत्तदाकारवृत्त्युपगमेनोक्तलक्षणस्य तत्रापि सत्त्वान्नाव्याप्तिः ।

"एवञ्च" इत्यस्य अन्तःकरणधर्मविशेषरूपायाः वृत्तेः स्वविषयत्वाभ्युपगमे च इत्यर्थः । **अयमभिप्रायः—प्रोक्तयुक्त्या वृत्तेर्वृत्तिविषयत्वसिद्धौ, वृत्तिवृत्तिमतोरभेदाद् अन्तःकरणस्यापि वृत्तिविषयत्वं दण्डापूपायितम् । एवमन्तःकरणधर्मत्वाविशेषात् वृत्तिवत् सुखदुःखादीनामन्तःकरण धर्मान्तराणामपि तत्त्वं निराबाधम्, इति न तत्तदाकारवृत्तिविगमप्रयुक्ता तत्रतत्राव्याप्तिशङ्केति** । न च स्वप्रकाशत्वमेवास्तु सुखस्य, अलं वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमेन इति वाच्यम् । स्वरूपज्ञानात्मकस्य सुखस्यैवैकस्य तथात्वात् । अन्यथा दुःखादीनामपि तथात्वापातात् ।

ननु अन्तःकरणवृत्त्यविषयत्वे सति साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षिवेद्यत्वम् । एवञ्चान्तःकरणवृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे तेषां केवलसाक्षिवेद्यत्वाभ्युपगमविरोधः इत्याशङ्कां निराकरोति—

न चान्तःकरणतद्धर्मादीनां वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे केवलसाक्षिविषयत्वाभ्युपगमविरोध इति वाच्यम् ।

आदिपदेन प्रातिभासिकोपग्रहः । वृत्तिः=अन्तःकरणवृत्तिः, तस्य विषयत्वं वृत्तिविषयत्वम्, तस्य अभ्युपगमः, तस्मिन् सति । अभ्युपगमः=स्वीकारः। अयमाशयः अन्तःकरणतद्धर्मादिषु यद्वेदान्तिभिः केवलसाक्षिवेद्यत्वमभ्युपेयते, तत्र केवलपदेन ध्रुवं अन्तःकरणवृत्त्यविषयत्वमेव विवक्षितं वक्तव्यम्, तच्चेदानीमसमञ्जसम्, अन्तःकरणधर्माद्याकारवृत्तेः स्वीकारेण तद्विषयत्वस्यैव तेषु सत्त्वात्, तदविषयत्वघटितस्य केवलसाक्षिवेद्यत्वस्य तेषु गमनासम्भवात् इति न खलु वक्तव्यम् इति ।

हेतुमाह—

नहि वृत्तिं विना साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षिविषयत्वम् ।

हि=यतः । विना=अद्वारीकृत्य । तथा च वृत्त्यविषयत्वे सति साक्षिविषयत्वं नास्माभिरुच्यते "केवलसाक्षिवेद्यत्वम्" येन तदाकारवृत्तिस्वीकारे अन्तःकरणतद्धर्मादीनां भवेन्नाम केवलसाक्षिवेद्यत्वाभावः, तादृशवेद्यत्वाभ्युपगमविरोधो वा । केवलसाक्षिवेद्यत्वस्य तथाविधोऽर्थ एव नास्माभिरुच्यते इति भावः ।

तर्हि किं नाम निर्वचनं केवलसाक्षिवेद्यत्वस्य ? इत्याकांक्षायामाह—

किन्तु इन्द्रियानुमानादिप्रमाणव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम् ।

आदिपदेन उपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धीनामुपग्रहः । प्रमाणव्यापारमन्तरेण=तथाविधप्रमाणाधीनवृत्तिविषयं विनेत्यर्थः । साक्षी त्वन्तःकरणोपहितचैतन्यरूपः इति स्वयमेव वक्ष्यति । तथा च इन्द्रियानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्ध्यधीनान्तःकरणवृत्त्यविषयत्वे सति साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षिवेद्यत्वमित्यर्थः ।

अन्तःकरणतद्धर्मादीनां स्वाकारवृत्तिविषत्वाभ्युपगमे पद्मपादाचार्य-सम्मतिमाह—

अत एवाहंकारटीकायामाचार्यैरहमाकारान्तःकरणवृत्तिरङ्गीकृता ।

अत एव=अन्तःकरणतद्धर्मादीनां स्वाकारवृत्त्यभ्युपगमादेव । अहङ्कारटीकायाम्=अहंकारपदार्थविवेचनपरपञ्चपादिकाभागे । आचार्यैः=पद्मपादैः । अहमाकारा="अहम्" इत्याकारा । अङ्गीकृतेत्यनन्तरं "अहंकारवृत्त्यवच्छिन्नमेवान्तःकरणं चैतन्यस्य विषयभावमापद्यते" इति ग्रन्थेनेति शेषः ।

अन्येषामपि प्राचीनाना सम्मतिमुपदर्शयति—

अत एव च प्रातिभासिकस्थले रजताकाराऽविद्यावृत्तिः साम्प्रदायिकैरङ्गीकृता ।

अत्र एवेत्यस्यार्थः पूर्ववत् । प्रातिभासिकस्थले इत्यस्य प्रातिभासिकरजतोत्पादस्थले इत्यर्थः । तेनान्यविधप्रातिभासिकोत्पादस्थले रजताकारवृत्त्यभ्युपगमाभावेऽपि नासङ्गतिः । सम्प्रदीयते=उपदिश्यते गुरुभि. शिष्येभ्यः इति सम्प्रदायः, परम्परासिद्धः पदार्थः, त जानन्तीति साम्प्रदायिकाः=प्राचीनाः तैः ।

अव्याप्तिवारणेनोपसंहरति—

तथा चान्तःकरणतद्धर्मादिष केवलसाक्षिवेद्येषु वृत्त्युपहितत्वघटितलक्षणस्य नाव्याप्तिः ।

तथा च इत्यस्य अन्तःकरणतद्धर्मादिषु तत्तदाकारवृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे चेत्यर्थः यदा निरुक्तकेवलसाक्षिवेद्यत्वनिर्वचनाभ्युपगमे च इत्यर्थः । वृत्त्युपहितत्वघटितलक्षणस्य = अनुपदमुच्यमानस्य । घटितत्वं च तदविषयकप्रतीत्यविषयत्वं बोध्यम् ।

तत्तद्विशेषणप्रक्षेपानन्तरं सम्वृत्तलक्षणाकारप्रदर्शनेच्छया आह—

तदयं निर्गलितार्थः—स्वाकारवृत्त्युपहित-प्रमातृचैतन्यसत्तातिरिक्त-[illegible] सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम् ।

निर्गलितार्थः—पर्यवसितार्थः । सतिसप्तम्याः वैशिष्ट्यमर्थः । तथा च तादृश-शून्यत्व-विशिष्ट-योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम् इत्यर्थः । वैशिष्ट्यञ्च सामानाधिकरण्यं तच्च स्वरूपेण तदधिकरणे स्वरूपेण वृत्तित्वरूपमेव वाच्यम् । एवञ्च विनिगमनाविरहेण तदुभयप्रतियोग्यानुयोगिकत्वस्यानिवार्यतया योग्यत्व-विशिष्ट-तादृशशून्यत्वमपि विषयगतप्रत्यक्षलक्षणं भवितुमर्हतीति बोध्यम् ।

ननु निरुक्तप्रत्यक्षत्वे सन्निकर्षस्य उपयोगोऽस्ति न वा ? नास्ति चेत् इन्द्रियासन्निकृष्टेऽपि विषये प्रत्यक्षत्वव्यवहारापत्तिः । न च सेष्टा अनुभवविरोधात् । अस्तित्वे च कथम् ? इत्यत आह—

तत्र संयोग-संयुक्ततादात्म्यादीनां सन्निकर्षाणां चैतन्याभिव्यञ्जकवृत्तिजनने विनियोगः ।

तत्र—विषयेषु । आदिपदेन संयुक्ततदात्मतादात्म्य—तादात्म्य—तदात्मतादात्म्यानामुपग्रहो वेदितव्यः । चैतन्यस्य—विषयाविच्छिन्नचैतन्यस्य अभिव्यञ्जिका या वृत्तिः, तस्याः जनने इत्यर्थः । विनियोगः—उपयोगः । **अयमभिप्रायः**—विषयैरिन्द्रियसन्निकर्षं विना नेन्द्रियप्रणालिकया अन्तःकरणस्य विषयदेशगमनं तदाकाराकारित्वञ्च सुसम्पादम् । तद्विना च नोक्तप्रत्यक्षत्वसम्भवो विषयस्येति प्रत्यक्षत्वघटकविषयाकारवृत्तौ सन्निकर्षोपयोगात्, तद्द्वारा प्रत्यक्षत्वेऽपि तदुपयोगोऽनिवार्य एवेति नेन्द्रियासन्निकृष्टपदार्थप्रत्यक्षत्वापत्तिः । घटादिद्रव्यगतप्रत्यक्षत्वस्थले संयोगस्य, तद्वत् रूप-रस-स्पन्द-घटत्वादिप्रत्यक्षस्थले संयुक्ततादात्म्यस्य, रूपत्वादिप्रत्यक्षस्थले संयुक्ततदात्मतादात्म्यस्य, श्रोत्रात्मक-गगनगतशब्दप्रत्यक्षत्व स्थले तादात्म्यस्य, शब्दत्वप्रत्यक्षत्वस्थले तदात्मतादात्म्यस्य सन्निकर्षत्वं बोध्यम् । यदि च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नतया परिच्छिन्नस्य शब्दाश्रयपरिच्छिन्ननभोदेशपर्यन्तगामिन एव नभसः श्रोत्रत्वं इति सुसूक्ष्मं निरीक्ष्यते, तदा शब्द-प्रत्यक्षत्व-स्थलेऽपि संयुक्ततादात्म्यस्यैव सन्निकर्षता भविष्यति । सति चैवं शब्दत्वस्य प्रत्यक्षेऽपि संयुक्त—तदात्मतादात्म्यस्यैव सन्निकर्षतेति तदा सयोगादयः त्रय एव सन्निकर्षाः इत्यनुसन्धेयम् । एवमेव ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वस्थलेऽपि सन्निकर्षोपयोगो वेदितव्यः । अभावस्थले चानुपलब्धेरेव प्रमाणत्वं नातो विशेषणविशेष्यभावस्य सन्निकर्षता । सन्निकर्षत्वञ्च बाह्यविषयाकारवृत्ति-प्रयोजकसम्बन्धत्वरूपं विज्ञेयम् ।

ननु सा वृत्तिः एकविधा अनेकविधा वा ? आद्ये एकमात्रप्रकारकत्व-विरुद्ध-नानाप्रकारकत्वाद्यनुभवविरोधः । अन्त्ये च कतिविधा का का च सा ? इत्यत आह—

सा च वृत्तिः चतुर्विधा, संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणमिति ।

संशयत्वं तु नैकधर्मिक – विरुद्ध – भावाभावप्रकारकज्ञानत्वम् । किमिदमिति-वृत्तावव्याप्तेः । न च तस्याः अनध्यवसायरूपत्वम्, पञ्चमवृत्त्यनभ्युपगमात् । किन्तु जिज्ञासाजनकवृत्तित्व तत्त्वम् । निश्चयत्वञ्च सशयविरोधिवृत्तित्वम्, जिज्ञासानिवर्त्तकवृत्तित्वं वा । न तु सशयान्यवृत्तित्वम्, अभिमानेऽतिव्याप्तेः । न का नदभावाप्रकारकत्वे सति तत्प्रकारकवृत्तित्वं एकमात्रप्रकारकस्मरणेऽतिव्याप्त्या-पत्तेः । निर्विकल्पकेऽव्याप्त्यापत्तेश्च । न च निर्विकल्पके निवर्त्तकत्वानभ्युपगमेन त्वदुक्तं द्वितीयलक्षणमपि तत्राव्याप्तमेवेति वाच्यम् । निर्विकल्पकस्यापि निवर्त्त-कत्वात् । अन्यथा "अहं ब्रह्मास्मी" तिवृत्तेः अज्ञाननिवर्तकत्वानुपपत्ते. । अभिमानः= अहमित्याकारा वृत्तिः । स्मृतिस्तु सस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम् ।

नन्वेवं सति वृत्तिमतः अन्तःकरणस्य एकत्व अनेकत्वं वा ? इत्याशङ्क्य वस्तुतः तस्यैकत्वेऽपि वृत्तिभेदात् वाचनिकं तस्य चातुर्विध्यमित्याह

एवं वृत्तिभेदेनैकमन्तःप्यकरण मन इति बुद्धिरिति अहङ्कार इति चित्तमिति चाख्यायते ।

आख्यायते इति प्रतीतीत्यनन्तरं सम्बद्धयते । अत्राभियुक्तोक्ति प्रमाणयति—तदुक्तम्—

मनोबुद्धिरहंकारः चित्तं करणमान्तरम् ॥
सशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥ इति

आन्तरं=आभ्यन्तरम्, करणम् इत्यन्वयः । विषया इत्यस्य व्यापारा इत्यर्थः । धर्मिधर्मयोः कथञ्चित् भेदाङ्गीकारे, एतेषा यथासंख्यं मन आदीना लक्षणत्वं वेदितव्यम् ।

तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात् ।

तच्च=प्रमात्मकं च। चकारस्त्वर्थे भिन्नक्रमश्च। तथा च तत् प्रत्यक्षं द्विविधमित्यन्वयः। यद्यपि निर्विकल्पकस्य मोक्षहेतुतया प्राधान्यात् प्रथममुपन्यास उचितः, तथापि व्यवहारे सविकल्पकस्यैव साधकतया मोक्षस्य च व्यवहारपूर्वकत्वेन पूर्वसाधनभूतस्य सविकल्पकस्य प्रथममुपन्यासो युक्त एव।

सविकल्पकस्य लक्षणोदाहरणे दर्शयति—

तत्र सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानम्। यथा घटं जानामीत्याकारकम्।

तत्र = सविकल्पकनिर्विकल्पकयोर्मध्ये। वैशिष्ट्यं = विशेषवस्तुप्रतियोगिको विशेष्यानुयोगिकः सम्बन्धः, तदवगाहित्वम्, तद्विषयकत्वम्। तथा च सम्बन्धप्रतियोग्यनुयोगिविषयकज्ञानत्वं सविकल्पकत्वमिति तल्लक्षणम्। घटं जानामिति ज्ञानस्यघटत्वावच्छिन्नविषयतानिरूपितविषयिताशालिज्ञानत्वावच्छिन्न तादात्म्यसम्बन्ध[illegible]निरूपितस्वनिष्ठ विशेष्यताकत्वेन ज्ञानात्मकविशेषण प्रतियोगिकान्तःकरणानुयोगिकतादात्म्यसम्बन्धविषयकतया, निरुक्तसम्बन्धावगाहित्वात्मकसविकल्पकत्वं "घटं जानामि" इति ज्ञाने सुघटमिति भावः।

निर्विकल्पकस्य लक्षणं प्रतिपादयति—

निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्।

एवार्थकः तुकारो भिन्नक्रमः। तथा च संसर्गानवगाह्येव ज्ञानं निर्विकल्पकमित्यन्वयः। एतेन यत्कि[illegible]नः सविकल्पकस्यापि संसर्गान्तरानवगाहितया निर्विकल्पकत्वापत्तिरिति परास्तम्। फलतः संसर्गसामान्यानवगाहिज्ञानत्वं निर्विकल्पकत्वमित्यत्र पर्यवसानात्।

उदाहरति—

यथा सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानम्।

ननु कथं सोऽयं देवदत्तः इति ज्ञानस्य संसर्गानवगाहित्वम्? तत्प्रतियोगिकस्य देवदत्तानुयोगिकस्याभेदसम्बन्धस्य तादृश[illegible] इति चेन्न, विशेषणविभक्तेः सार्थकत्वे निरुक्ताभेदस्यासंसर्गतया संसर्गानवगाहित्वस्य तत्राक्षतत्वात्।

न च संसर्गत्वपदार्थत्वयोः सामानाधिकरण्याभ्युपगमे दोषस्तदवस्थ एव। वैयधिकरण्याभ्युपगमे तु "अभेदः ससर्गः" इति व्यवहारानुपपत्तिः, इति वाच्यम्। पदप्रतियोगिकवृत्त्यनुयोगित्वरूपस्य पदार्थत्वस्य ससर्गत्वस्य च कालिकाव्याप्यवृत्तित्वस्वीकारात्. पदार्थत्वाभावकाले निरुक्तव्यवहारस्य मुसम्पादत्वात्। पदार्थत्वकाले तादृशव्यवहार इष्ट एव। न च पदार्थत्वस्याव्याप्यवृत्तित्वमेव दुर्घटम्, तथा हि पदजन्यबोधविषयत्वप्रकारकेच्छाविषयत्वं वा वाच्यवाचकभावापरनामा स्वतन्त्रपदार्थो वा ? नाद्यम्, भिन्नकालिकयोरपि विषयविपयिभावाभ्युपगमेन इच्छाभावकालेऽपि तद्विष्यत्वरूपस्य पदार्थत्वस्य अभेदेऽक्षतत्वात्। नापि द्वितीयः लाघवेनातिरिक्तस्य तस्य अनादित्वे सति ब्रह्मज्ञाननाश्यतायाः कल्पनीयत्वेन अभेदादौ ततः पूर्व तत्सातत्यात् इति वाच्यम्, प्रोक्तसंसर्गत्वव्यवहारानुपपत्त्या अतिरिक्तपदार्थभूतस्यापि तस्य अव्याप्यवृत्तित्वाभ्युपगमावश्यकत्वात्। वस्तुतस्तु न संसर्गाविषयकत्वमात्रज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वम्, अपि तु अभिमतससर्गाविषयकत्वम्, एवं च 'सोऽयं दवेदत्तः' इति स्थले अभेदस्यानभिमततया, बोधस्य तद्विषयकत्वेऽपि तादृशसंसर्गानवगाहित्वस्याक्षततया अव्याप्त्यसम्भवात्। "तत्त्वमसि" इति महावाक्यम्, तत्र तत्पदस्य सर्वज्ञत्वाद्यात्मकैश्वर्यविशिष्टे, त्वत्पदस्य च अल्पज्ञत्वाद्यात्मकजीवत्वविशिष्टे शक्तिः। निरुक्तशक्त्योः तत्त्वंपदयोः विशेषणांशविनाकृतात्मवस्तुनि जहदजहल्लक्षणाभ्युपगमेन शुद्धात्मवस्तुमात्रस्यैव बोधो जायते इति वेदान्तसिद्धान्तः। सति चैवमभिमतसंसर्गानवगाहित्वस्य तत्त्वमसीति वाक्यजन्ये बोधे सत्त्वात् निर्विकल्पकत्वमिति भावः। लौकिकवैदिकभेदेन उदाहरणद्वयप्रदर्शनमिति बोध्यम्।

ननु संसर्गानवगाहित्वस्य निर्विकल्पकज्ञाने एव सम्भवः। निर्विकल्पकत्वं च प्रत्यक्षत्वव्याप्यम्। तत्त्वमसीति वाक्यजन्यस्य ज्ञानस्य शब्दजन्यत्वेन शाब्दबोधरूपतया पारोक्ष्यमनिवार्यम्। तथा च कुतोऽपरोक्षत्वव्याप्यस्य संसर्गानवगाहित्वस्य तत्त्वमसीतिवाक्यजे बोधे सम्भवः ? इत्यभिप्रायेण शङ्कते—

शाब्दमिदं ज्ञानं न प्रत्यक्षम्, इन्द्रियाजन्यत्वात्।

शाब्दं = शब्दजन्यम्। इदं = तत्त्वमसीतिवाक्यजं सोऽहमिति ज्ञानम्। तथा च तत्त्वमसीति महावाक्यजं ज्ञानं प्रत्यक्षत्वाभाववत्, इन्द्रियजन्यत्वाभावात् गामानयेतिवाक्यजबोधवत् इति प्रयोगः। फलतः व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या प्रोक्तस्य वाक्यजस्य बोधस्य संसर्गानवगाहित्वाभावः इत्यभिप्रायः।

समावत्ते—

इति चेन्न न हीन्द्रियजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्रम्, दूषितत्वात् ।

न हीत्यत्र हीति हेतौ । तन्त्रं=नियामकम् । मानसप्रत्यक्षे मनसः इन्द्रियानात्मकतया अनिन्द्रियजन्येऽव्याप्त्या इन्द्रियजन्यज्ञानत्वस्य प्रत्यक्षासाधारणधर्मत्वाभावात् इत्यर्थः ।

ननु तर्हि किं नाम तन्त्रं प्रत्यक्षत्वे ? इत्याकांक्षाया पूर्ववृत्तं स्मारयति—

किन्तु प्रमाणचैतन्यस्य योग्यवर्त्तमानविषयचैतन्याभिन्नत्वमित्युक्तम् ।

प्रमाणचैतन्य=अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यम्, तस्य । तत्त्वमसीति वाक्यजं ज्ञानं प्रत्यक्षत्वाभाववत् इन्द्रियजन्यत्वाभावात् इत्यनुमानमनुकूलतर्काभावादप्रयोजकम् इति न ततोभीष्टसिद्धिः इति भावः ।

नन्वास्तां प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभेदः प्रत्यक्षत्वे तन्त्रम्, किन्तु कथं तावता "सोयं देवदत्तः" इति ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् ? इत्याशङ्कां पूर्वोक्तप्रक्रियास्मारणेनापनुदति—

तथा च सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य सन्निकृष्टविषयतया वहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमेन देवदत्तावच्छिन्नचैतन्यात् वृत्यवच्छिन्नचैतन्यस्याभिन्नतया सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् ।

तथा च=इन्द्रियजन्यत्वस्य प्रत्यक्षत्वातन्त्रत्वे च । प्रथमज्ञानस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थो निष्ठत्वम् । तस्य सन्निकृष्टविषयतया अन्वयः । सन्निकृष्टो विषयो यस्य ज्ञानस्य तत्सन्निकृष्टविषयम्; तस्य भावः सन्निकृष्टविषयता, तया । तृतीयायाः प्रयोज्यत्वमर्थः । सम्बन्धस्य तस्य वहिर्निःसृतान्तःकरणवृत्त्यभ्युपगमेन । अवच्छेद्याभेदप्रयोजकस्य अवच्छेदकयोरेकदेशस्थत्वस्य सत्त्वादिति शेषः ।

लौकिकं वृत्तं वैदिके अतिदिशति—

एवं तत्त्वमसीति वाक्यजन्यज्ञानस्यापि ।

एवं = सोय देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानवत्। प्रत्यक्षत्वमिति पूर्वान्वयः।
प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं चैतन्याभेदं विशदयति—

तत्र प्रमातुरेव विषयतया तदुभयाभेदस्य स्पष्टत्वात्।

प्रमातुः = अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य। विषयतया = विषयावच्छिन्नचैतन्यतया।

ननु वाक्यजन्यज्ञान—शाब्दज्ञान-अन्वयबोध—संसर्गबोधादिशब्दानां पर्यायत्वं प्रसिद्धम्। सति चैव निरुक्तयोः वाक्यजन्ययोः ज्ञानयोः ससर्गानवगाहित्वरूपं निर्विकल्पकत्वं दुर्घटम्। निरुक्तवाक्यद्वयजं ज्ञानं प्रत्यक्षत्वाभाववत् वाक्यजन्यत्वात् इत्यनुमानेन निर्विकल्पकत्वव्यापकविरुद्धोपलब्धेः इत्यभिप्रायवानाशङ्कते—

ननु वाक्यजन्यज्ञानस्य पदार्थसंसर्गावगाहितया कथं निर्विकल्पकत्वम्?

पदार्थयोः संसर्गः पदार्थसंसर्गः, पदार्थद्वयसम्बन्ध इति यावत्। तदवगाहितया = तद्विषयकतया। अयं भावः—पदार्थयोः संसर्गबोध एव शाब्दबोधः। तथा च निरुक्तवाक्यद्वयजन्यज्ञानद्वयस्य ससर्गावगाहित्वमनपलपम्। संसर्गावगाहित्वे च निर्विकल्पकत्वं दुर्लभम्। तयोर्विरोधात् इति।

समाधत्ते—

उच्यते, वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थसंसर्गत्वं तन्त्रम्। अनभिमतसंसर्गस्यापि वाक्यगम्यतापत्तेः।

तन्त्रं = नियामकम्। पदार्थसंसर्गत्वं = पदार्थप्रतियोग्यनुयोगिकसम्बन्धत्वम्। न अभिमतः, अनभिमतः, स चासौ संसर्गः, अनभिमतसंसर्गः, तस्यापि। अपिर्भिन्नक्रमः। तथा च अनभिमतस्यापि संसर्गस्य इत्यन्वयः। अयमाशयः संसर्गत्वं पदार्थप्रतियोग्यनुयोगिकसम्बन्धत्वं वा न शाब्दबोधीयविषयतानियामकम्। अन्यथा अनभिमतसंसर्गेष्वपि शाब्दबोधविषयत्वापत्त्या अतिप्रसङ्गापत्तेः। श्रौतसिद्धान्ते तात्पर्यविषयवस्तूनामेव शाब्दबोधविषयत्वाङ्गीकारेण ˉष्टापत्तेरयोगात्। वाक्यजन्यत्वं शाब्दबुद्धित्वं च नैकं न वा समनियतम् अपि तु वाक्यजन्यत्वं व्यापकं

शाब्दबुद्धित्वं व्याप्यम् । सति चैवं "सोयं देवदत्तः" "तत्त्वमसि" इति वाक्यजन्ये ज्ञाने शाब्दबुद्धित्वाभावेऽपि वाक्यजन्यत्वसम्भवात्, वाक्यजन्यत्वेन शाब्दबुद्धित्वसाधनासम्भवात् । न चैव सति प्रत्यक्षत्वस्य साङ्कर्यापत्त्या जातित्वाभावापत्तिः, तथा हि—वाक्यजन्यत्वं विहाय प्रत्यक्षत्वं चाक्षुषे "अयं घट" इति ज्ञाने वर्त्तते प्रत्यक्षत्वं विहाय वाक्यजन्यत्वं असन्निकृष्टविषयकशाब्दबुद्धौ, सन्निकृष्टविषयकशाब्दबुद्धौ वाक्यजन्यत्वं प्रत्यक्षत्व चोभयमिति वाक्यजन्यत्वप्रत्यक्षत्वयोः परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे सति एकाधिकरणवृत्तित्वं सुघटमिति वाच्यम् । जात्युपाधिपरिभाषायाः साङ्कर्यस्य जातिबाधकतायाश्चानभ्युपगमात् ।

ननु तर्हि किं तावत्तन्त्रं वाक्यजन्यज्ञानविषयत्वे ? इत्याकांक्षायामाह—

किन्तु तात्पर्यविषयत्वम् ।

ननु तात्पर्य प्रकृते वक्तुरिच्छाविषयत्वरूपमेव ग्राह्यम् न तु तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वरूपम्, योग्यताया निर्विषयतया 'तात्पर्यविषयत्वम्" इति विषयत्वश्रुत्यसङ्गत्यापत्तेः । इच्छास्वरूपतात्पर्यग्रहणं चासङ्गतम्, अभिमतात्पर्यनिर्वचनविरोधापत्तेः इति चेन्न तत्प्रतीति–प्रातीतिकविषयतामुपेत्य औपचारिकतया विषयत्वश्रुतिसामञ्जस्यात् ।

किमायात तत· प्रकृते ? इत्याकांक्षायामाह—

प्रकृते च "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्युपक्रम्य "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो !" इत्युपसंहारेण विशुद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यमवसितमिति कथं तात्पर्याविषयं संसर्गं बोधयेत् ?

इदं = व्याकृतनामरूपं जगत्, हे सोम्य ! अग्रे = नामरूपव्याकरणात् पूर्वं, सदेव = अव्याकृतनामरूपं ब्रह्मैव, आसीत्, इत्युपक्रमश्रुत्यर्थः । उपक्रमः = प्रस्तावः । तत् सदाख्यं कारणम् सत्यं = परमार्थसत्, स एव चात्मा, हे श्वतकेतो ! त्वमपि तदेवासि, इत्युपसंहारश्रुत्यर्थः । जीवब्रह्मणोरभेद एव, ब्रह्मभिन्नं चान्यत् सर्वं मिथ्या, इति भावार्थः । उपसंहारः = उपसंहरणम् विराम इति यावत् । विशुद्धिः = निर्मलता । वेदान्तानाम् = अकर्मपरश्रुतीनाम् । अयमाशयः—तात्पर्यविषय एव पदार्थः शाब्दबोधीयविषयतावान् भवति, इति वेदान्तसिद्धान्तः । प्रकृते संसर्गस्तु न तात्पर्यविषयः, इति कुतस्तस्य शाब्दबोधविषयत्व सम्भवः ? सति चासम्भव

संसर्गानवगाहिबोधजनकत्वं वाक्यजबोधेप्यक्षतम्, इति न काप्यनुपपत्ति. तत्त्वमसीत्यत्र संसर्गस्य तात्पर्याविषयत्वं उपक्रमोपसंहाराभ्यां गम्यते।

एवं सति तत्त्वमस्यादिवाक्याना अखण्डार्थत्वमनायाससिद्धं भवतीति प्रतिपादयति—

इदमेव तत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वं यत् संसर्गानवगाहि-यथार्थज्ञानजनकत्वम्।

इदं ससर्गानवगाहि-यथार्थ-ज्ञानजनकत्वमेव तत्त्वमस्यादिवाक्यानां अखण्डार्थत्वमित्यन्वयः। ससर्ग=एकापरपदार्थप्रतियोगिकसम्बन्ध नावगाहते=न विषयीकरोतीति संसर्गानवगाहि। तादृक् यत्. यथार्थज्ञानं तज्जनकवाक्यत्वमित्यर्थः। ज्ञाने याथार्थ्यन्तु स्वव्यधिकरणप्रकारावच्छिन्ना या या विषयता तदनिरूपकत्वम्। न तु तद्वति तत्प्रकारकत्वम्। ननु अहन्त्ववति अहन्त्वप्रकारकतया यथार्थ "अहं गौरः" इति ज्ञानमादाय तज्जनके "अहं गौरः" इत्यादिवाक्ये अतिव्यप्तिः। संसर्गानवगाहित्वानुक्तौ "घट कुरु" इत्यादिवाक्ये अतिव्याप्तिर्ज्ञेया। ज्ञानपदानुक्तौ इच्छाविषये पटादावतिव्याप्तिः। विषयत्वानुक्तौ त्वसम्भव एव। ससर्गे पदार्थप्रतियोग्यनुयोगिकत्वानिवेशे यत्किञ्चिदुदासीनससर्गानवगाहिबोधजनके घटमानयेति वाक्ये अतिव्याप्तिः। ननु तथापि भोजननिवृत्तिबोधके "विष भुंक्ष्वे"तिवाक्ये अतिव्याप्तिः, तत्र निरुक्तनिवृत्तिवाचकपदाभावेन तत्रत्यससर्गस्य पदार्थप्रतियोग्यनुयोगकित्वाभावात्, इति चेन्न, लक्षणामाश्रित्य तत्रापि पदार्थत्वसम्पादनात्।

प्रकृतार्थे प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकोक्ति प्रमाणयति—

तदुक्तम्—

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।
उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता॥

चित्सुखमुनिभिः, इति शेषः। "सा" इत्यस्याध्याहारः। तथा च गिरां या इयं संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता, सा, अखण्डार्थता उक्ता, इत्यन्वयः। संसर्गासङ्गिनी सम्यग्धीः संसर्गासङ्गिसम्यग्धीः तस्याः हेतुता। संसर्गासङ्गित्वं निरुक्तसंसर्गाविषयकत्वम। सम्यक्त्वं निरुक्तं याथार्थ्यं तच्चोभय धियि विशेषणं विज्ञेयम्। गिरामित्य-

न्यापर्यायशब्दानामित्यर्थ. 'तेन वस्त्रमम्बरमित्यादिवाक्ये नातिव्याप्तिः । यद्वेत्यादि परभागेन लक्षणान्तरव्यक्तिः । यद्वा प्रातिपदिकार्थता तत् इत्यन्वय । तद्वेति निङ्-व्यत्यये लक्षणान्तरत्वद्योतनमिति नायुक्तता । तत् = अखण्डार्थत्वम् । तथा च प्रातिपदिकार्थमात्रबोधकत्वमखण्डार्थत्वम् इति लक्षणान्तरम् । मात्रपदानुक्तौ घटमानयेत्यादिवाक्ये अतिव्याप्तिर्बोध्या । घटात्मकप्रातिपदिकार्थबोधकत्वस्य तत्रापि भावात् ।

इममेवार्थं विवृणोति—

प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वं वाऽखण्डार्थत्वमिति चतुर्थपादार्थः ।

पादः = पद्यचतुर्थांश. । प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्व तु विशेष्यभूतप्रातिपदिकार्थ-मात्रपरत्वं बोध्यम्, तेन जातिविशिष्टव्यक्तीनां प्रातिपदिकार्थत्वाभ्युपगमपक्षेऽपि नासम्भवः ।

ननु सविकल्पकत्व-निर्विकल्पकत्वाभ्यां यथा प्रत्यक्षविभागः, किमन्येनापि केनचित्प्रकारेण तद्विभागः ? इत्याकांक्षायामाह—

तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं जीवसाक्षीश्वरसाक्षि चेति ।

तत् = प्रमाणम् । चकारः एवार्थको भिन्नक्रमश्च । प्रत्यक्षप्रमाणमेव पुनः जीवसाक्षीश्वरसाक्षिरूपेण द्विविधम् । जीवसाक्षीत्यादिशब्दः पारिभाषिको न यौगिकः तेन न समासविशेषाकांक्षा ।

जीवतत्साक्षिणोः भेदस्य स्पष्टीकरणाय जीवस्य स्वरूपं निर्वक्ति—

तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम् ।

तत्रेत्यस्य तयोः जीवतत्साक्षिणोर्मध्ये इत्यर्थः । यत्तु तत्रेति घटकत्वं सप्तम्यर्थः तथा च जीवनिरूपणं विना तद्घटितसाक्षिनिरूपणं न सम्भवतीति प्रथमं जीवो नामेत्यादिना जीवनिरूपणमिति केषाञ्चित् कथनं,तदसङ्गतम् जीवतत्साक्षिणोः स्वातंत्र्यात् घटकघटितभावाभावात् । अवच्छिन्नत्वं वैशिष्ट्यम् । तथा चान्तःकरणविशिष्टं चैतन्यं जीव इति फलितम् ।

जीवसाक्षिणो लक्षणमुपक्षिपति—

तत्साक्षि त्वन्तःकरणोपाहितं चैतन्यम् ।

तत्पदं जीवबोधकम् । अन्तःकरणेन उपहितमन्तःकरणोपहितम् । अन्तः-करणात्मकोपाधियुक्तमिति सरलार्थः ।

ननु उभयघटकमुख्यभूतचैतन्यैक्यात् कथं भेदोक्तिसङ्गतिः ?

अत आह—

अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः ।

अनयोः चैतन्यभूतजीवजीवसाक्षिणोः । **एकत्रान्तःकरणं चैतन्यविशेषणम् अपरत्र तु तन्न विशेषणमपि तु उपाधिभूतमित्यत एव तयोर्भेद इति भावः।** ननु अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य जीवत्वे सुषुप्त्यवस्थजीवे जीवत्वं न स्यात् तदानीमन्तःकरणाभावात् इति चेन्न, सूक्ष्मरूपेण तदानीमपि अन्त.करणसत्त्वाभ्यु-पगमात् । ननु विशेषणीभूतमन्त.करणं साद्यनादि वा ? आद्ये तदुत्पत्तेः पूर्वं जीवाभावप्रसङ्गः । न चेष्टापत्तिः ।

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥

इत्यभियुक्तोक्तिविरोधप्रसङ्गात् । अन्त्ये अपसिद्धान्तापातः, इति चेन्न । अन्तःकरणप्रवाहाभ्युपगमात् ।

ननु किं नाम वैलक्षण्यं विशेषणोपाध्यो. ? इत्याकाङ्क्षायामाह—

विशेषणं कार्यान्वयि व्यावर्त्तकम् उपाधिस्तु कार्यानन्वयी व्यावर्त्तको वर्त्तमानश्च ।

कार्ये अन्वयो यस्य तत् कार्यान्वयि । कार्यं=स्वान्वितविधेयं तत्रान्वयो यस्य इति सरलार्थः । व्यावर्त्तकत्व=व्यावृत्तिबोधकत्वम् । व्यावृत्तिः=तदितरभेदः । तथा च स्वान्वितविधेयभूतक्रियान्वितत्वे सति स्वधर्म्मीतरभेदानुमापकत्वं विशेषणत्वम् । उपाधित्वं तु स्वान्वितविधेयानन्वितत्वे सति वर्त्तमानत्वे सति धर्मीतरभेदानुमापकत्वम् । **अयमभिप्रायः यो धर्मः विशेष्ये तद्विधेये च उभयत्र अन्वेति स विशेषणत्वेन गीयते । यस्तु केवलं विशेष्ये एवान्वेति न तु विशेष्यविधेये स उपाधित्वेनाभिधीयते,न तु विशेषणत्वेन ।**

द्वयोः उदाहरणमाह—

रूपविशिष्टो घटोऽनित्यः इत्यत्र रूपं विशेषणम् । कर्णशष्कुल्यव-च्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र कर्णशष्कुल्युपाधिः ।

"रूपविशिष्टो घटोऽनित्य." इत्यत्र स्वपदेन विशेषणीभूतस्य रूपस्य ग्रहणम्, तदन्वितो घट·, तत्र विधेयभूतमनित्यत्व, तत्र घटस्येव रूपस्यापि तादात्म्यावच्छिन्नाधेयतासम्बन्धेनान्वयोऽस्तीति रूपस्य कार्यान्वयित्वमक्षुण्णम् । एवं रूपस्योत्पत्तिकालावच्छिन्ने घटेऽभावात् तत्प्रतियोगिकस्य स्वाश्रयीभूतघटनिष्ठस्य भेदस्यानुमापकतया व्यावर्त्तकत्वमप्यस्ति । लक्षणेऽनुक्तमपि वर्त्तमानत्वमर्थत एव प्राप्तं भवति इति रूपे विशेषणलक्षणसमन्वय: । "कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न नभ: श्रोत्रम्" इत्यत्र उपाधिभूताया: कर्णशष्कुल्या· नभोविधेयश्रोत्रत्वेन समन्वयाभावात् भवति कार्यानन्वयित्वम्, अपरिच्छिन्नाकाशप्रतियोगिकस्य स्वावच्छिन्ननिष्ठभेदस्यानुमापकतया व्यावर्त्तकत्वं वर्त्तमानत्व चास्तीति भवत्युपाधिलक्षणसमन्वय: । विशेषणलक्षणे कार्यान्वयित्वानुक्तौ उपाधिभूते, तल्लक्षणे च कार्यानन्वयित्वानुक्तौ विशेषणे अतिव्याप्तिर्बोध्या । विशेषणलक्षणे व्यावर्त्तकत्वानुक्तौ "घटपटौ नीलौ" इत्यत्र घटे अतिव्याप्ति: । उभयत्वस्यैकविशिष्टत्वरूपताभ्युपगमे तस्य स्वान्विते पटे विधेयभूतेन नीलत्वेनान्वयात् वर्त्तमानत्वाच्च । तदुक्तौ च तस्य पटाव्यावर्त्तकतया नातिव्याप्त्यवकाश: । उपाधिलक्षणे व्यावर्त्तकत्वानुक्तौ तु वर्त्तमानेषु कार्यान्वये उदासीनपदार्थमात्रेषु अतिव्याप्ति: । तेषां कार्यान्वयित्वात् वर्त्तमानत्वाच्च । वर्त्तमानत्वानुक्तौ कालान्तरीणे कार्यानन्वयिनि व्यावर्त्तके उपाधिलक्षणातिव्याप्ति: ।

ननु "कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभ: श्रोत्रम्" इत्यत्र कर्णशष्कुल्या: विशेषणत्वाभावेऽपि परिचायकत्वमेवास्तु कथमुपाधित्वम् ? इत्याशङ्कायामाह—

अयमेवोपाधिर्नैयायिकै: परिचायक इत्युच्यते ।

अयं = निरुक्तलक्षणाक्रान्तो धर्म: । नैयायिकै: = गौतमानुयायिभि: । तथा च उपाधिरित्युच्यताम्, परिचायक इति वा प्रोच्यताम्, नार्थतो भेद:, इतीष्टापत्तिरेव ।

नन्वस्तु विशेषणोपाध्योर्भेद:, अस्तु च भवदुक्तं तल्लक्षणम्, जीवसाक्ष्युपाधिभूते अन्त:करणे कथ तल्लक्षणसमन्वय: ? इत्याकांक्षायामाह—

प्रकृते चान्त:करणस्य जडतया विषयावभासकत्वायोगेन विषयावभासकस्य चैतन्यस्योपाधित्वम् ।

अयमभिप्राय:—"अन्त:करणावच्छिन्नचैतन्यं विषयावभासकम्" इत्यत्र चैतन्ये धर्म्मिणि विधेयभूतस्य विषयावभासत्वस्य नान्त:करणे अन्वय:, तस्य जडत्वात् । एवञ्च कार्यानन्वयित्वं तत्राक्षतम्, वर्त्तमानत्वं चैतन्यपरिचायकतया व्यावर्त्तकत्वञ्च

तत्रास्त्येवेति सर्वथा सुसम्पादः उपाधिलक्षणसमन्वयः अन्तःकरणे । विधेयता च प्रमीया ग्राह्या नातो भ्रान्तिमादाय दोषावकाशः ।

जीवसाक्षिगत-संख्याविप्रतिपत्तिं निराकरोति—

अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना ।

अयं=अन्तःकरणोपहितचैतन्यरूपः । प्रत्यात्मं=प्रतिदेहम् । नाना = व्यावहारिकभेदवान् । देहभेदात् भिन्न इत्यर्थः । साक्षिणो बहुत्वाभ्युपगमे जीवस्य बहुत्वं दण्डापूपायितं बोध्यम् । यद्वा प्रत्यात्ममित्यत्र आत्मपदेन जीवस्यैव ग्रहणम् । तथाचान्तःकरणविशिष्टचैतन्यात्मकजीवभेदात् तत्साक्षिणोऽपि भेदः इति भावः । एवञ्च जीवतत्साक्षिणोः द्वयोरपि बहुत्व शब्दत एव लब्धम् ।

नानात्वे हेतुमाह—

एकत्वे चैत्रावगते मैत्रस्याप्यनुसन्धानप्रसंगः ।

अवगतिः=अनुभवः । अनुसन्धानं=स्मरणम् । सर्वानुभवसिद्धः तयोरेककर्तृकत्वनियमो भज्येत इत्यर्थः । इदमुपलक्षण कृतहानाकृताभ्यागमदोषौ अप्यपरिहार्यौ ।

ईश्वरसाक्षिणं परिचाययति—

ईश्वरसाक्षि मायोपहितं चैतन्यम् ।

प्रपञ्चात्मकस्य परिणामस्य परिणामिभूतं भावात्मकमज्ञानं माया । तया उपहितं अर्थात् तदुपाधिकम्, फलतः तत्परिचायकं यत् चैतन्यं तदेव ईश्वरसाक्षि । **अयमभिप्रायः—स्वतः प्रकाशभूतं अत एव विषयावभासकं चैतन्यमेकमेव । तदेवान्तःकरणोपाधिकं सत् जीवसाक्षीत्युच्यते मायोपाधिकं च सत् ईश्वरसाक्षीत्युच्यते ।** मायासद्भावे—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति, तस्याः भावरूपतायां च "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" "अनीशया शोचति मुह्यमान." "कामा अनृताभिधानाः" अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः" "नीहारेण प्रावृताः" "अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इत्याद्याः श्रुतिस्मृतयः प्रमाणानि । मायाविद्ययोः न कश्चिद्भेदो मानाभावात् । प्रयोगभेदः कथमिति चेत् मायाविद्याशब्दयोः पर्यायतया घटकलशादिशब्दवत् प्रोक्तुरिच्छाभेदात् । यद्वा आवरणशक्तिप्रधाना अविद्या, विक्षेपशक्तिप्रधाना माया, इति भेदेन प्रयोगः ।

ईश्वरसाक्षिणोऽपि किं जीवसाक्षिवन्नानात्वम् ? इत्याशंकां निराकरोति—

तच्चैकं तदुपाधिमायाया एकत्वात् ।

चकार. अवधारणार्थको भिन्नक्रमश्च । तच्चैकमित्यस्य तदेकमेवेत्यर्थः । तत् = ईश्वरचैतन्यम् । तस्य उपाधि तदुपाधिः तदुपाधिश्च माया तदुपाधिमाया तस्या. । एकत्वात् इत्यस्य अभेदात् इत्यर्थः । **अयमभिप्रायः-जीवसाक्षिस्थले उपहितस्य चैतन्यस्याभेदेऽपि अन्तःकरणात्मकोपाधेर्भेदात् बहुत्वमङ्गीकरणीयम् । प्रकृते तु उपाधिभूतायाः मूलाविद्यात्मिकायाः मायायाः न भेदः यदधीना बहुत्व-शङ्का स्यात् ।**

, ननु मायायाः बहुत्वे "इन्द्रो मायाभि." इति श्रुतौ मायापदाव्यवहितोत्तरतया श्रूयमाणं बहुवचनमेव प्रमाणम् । तथा च कथ न जीवसाक्षिवत् ईश्वरसाक्षिणो-प्युपाधिभेदाद्भेद इत्याह—

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादिश्रुतौ मायाभिरिति बहुवचनस्य मायागतशक्तिविशेषाभिप्रायकतया, मायागतसत्त्वरज-स्तमोगुणाभिप्रायकतया वोपपत्तेः ।

इन्द्रः = परमेश्वरः, मायाभिः = विविधविशेषवत्या मायया, मायावयवभूत-सत्त्वरजस्तमोगुणैर्वा, पुरुरूपः = प्रपञ्चरूपः, ईयते = भवति । प्रपञ्च-रूपं प्राप्नोतीत्यर्थः मायागतो मायानिष्ठो यः शक्तिविशेषः, विलक्षणसामर्थ्यं तत्र योऽभिप्रायो बुबोधयिषा तत्कतया, इत्यर्थः । **अयं भावः सत्यपि मायायाः एकत्वे विभिन्नकार्यजननसामार्थ्यरूपस्य शक्तिविशेषस्य बहुत्वमङ्गीकरणीयमेव । अन्यथा कार्यगतवैचित्र्यानुपपत्तेः । तथा च तादृशशक्तिविशेषगतबहुत्वबोध-नायैव "मायाभिः" इत्यत्र श्रुतौ बहुवचनम् इति** । अत्र ननु कार्यवैचित्र्य-कल्प्यानां तेषां शक्तिविशेषाणां समनैयत्यमस्ति न वा ? आद्ये बहुत्वासिद्धिः गौरवेण समनियतनानाधर्मानभ्युपगमात् । द्वितीये धर्मधर्मिभेदोऽपि मान्यः समापतेत्, तथा च कथमुक्तसङ्गतिः ? इत्याशङ्कानिरासाय "मायागतसत्वे"त्यादिना पक्षान्तर-माश्रितम् । सत्त्वं रजः तमश्चेति सत्त्वरजस्तमांसि, त एव गुणाः तदभिप्रायकतया इत्यर्थः । मायागतत्वं च मायावयवभूतत्वं बोध्यम् । **अयमभिप्रायः— सत्त्वरजस्तमसां गुणानां साम्यं गतानामेव अपरं नाम "माया" इति । तथा च मायायाः अवयवभूतेषु सत्त्वरजस्तमस्सु विद्यमानं यद्बहुत्वं, तद्बोधनायैव श्रुतौ "मायाभिः" इत्यत्र बहुवचनप्रयोगः, न तु मायागतबहुत्वबोधनाय इति** । उपपत्तेः इत्यस्य असङ्गत्यभावात् इत्यर्थः ।

ननु किं नाम तत्प्रमाण येन मायायाः एकत्वं निश्चीयते ? इति जिज्ञासाया-माह—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" "तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते । योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः" "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाःजनयन्तीं सरुपाः अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः । इत्यादिश्रुतिष्वेक-वचनबलेन लाघवानुगृहीतेन मायायाः एकत्वं निश्चीयते ।

उभयत्र तुकारः अवधारणार्थः । तथा च मायामेव प्रकृतिं विद्यात्, मायिनमेव महेश्वरं विद्यात् इत्यन्वयः । विद्यात् इत्यस्य जानीयात् इत्यर्थः । तथा च एक मज्ञानमेव भावात्मक प्रकृतिशब्दवाच्यम्, न ततोऽतिरिक्तं किञ्चित् यथा साङ्ख्या-भिमतम् । तादृशाज्ञानस्यैव मायाशब्दवाच्यत्वात् इत्यपि ध्वनितम् । यस्मिन् हृदि निवेशिते सति, योगी विततामविद्या मायां तरति, तस्मै विद्यात्मने नमः इत्यन्वयः । अत्र तरणं नाशः । तथा च तरतीत्यस्य नाशयतीत्यर्थः । पारगमनात्म-कस्य तरणस्य प्रकृते असम्भवात् । मायां अविद्यां इत्युक्तिः उभयोरभेद-द्योतनाय । हृदि निवेशनं चात्र हृदोन्तःकरणस्य अहं ब्रह्मास्मीत्याकारकजीवब्रह्मा-भेदविषयकवृत्तिरूपं बोध्यम् । गृहादौ घटादिविनिवेशनवत् मुख्यनिवेशनासम्भवात् । "विद्यात्मने" इत्यत्र विद्यापद स्वरूपज्ञानपरं बोध्यम् । तेन हृदि विनिवेशनात्मक-वृत्तिविषयात् तस्मात् अविद्यानाशः अवश्य भवतीति प्रतिपादितम् । अविद्यायां विततत्वं प्रपञ्चाकारेण परिणतत्वं बोध्यम् । अन्यथा अमूर्तायास्तस्याः पटादिवत् वैतत्याभावात् असंगत्यापत्तेः । अमेयाय इत्यत्र अमेयत्वं फलव्याप्यताशून्यत्वं बोध्यम्, न तु वृत्त्यविषयत्वम्, येन हृदि निवेशनेन सह विरोधशङ्का स्यात् । योगीत्यत्र योगस्त्वत्र अन्तःकरणस्य वहिर्मुखता विच्छेदमात्ररूपोऽवसेयः न तु चित्त-वृत्तिसामान्यनिरोधरूपः । अन्यथा "अहं ब्रह्मास्मि" इति श्रुतिशिखोत्थाखण्डवृत्ते-रप्यनुदयेन अविद्यासन्तरणानुपपत्तेः । अजामित्यादेरर्थः एवमवसेयः— न जायते इत्यजा, ताम्, अनुत्पाद्यां, फलतः कस्याप्यपरिणामभूताम् । लोहितं रजः रंजनात्कम-त्वात् । शुक्लं सत्त्वं प्रकाशात्मकत्वात् । कृष्णं तमः आवरणशीलत्वात् । एतत् त्रितयमेव (स्वरूप) यस्याः सा लोहितशुक्लकृष्णा, ताम् एतेन सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्थैव माया, सैव च प्रकृतिरिति प्रतिपादितम् । सरूपाः = सजातीयाः अर्थात् सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकाः प्रजाः = सन्ततीः, जनयन्ती = उत्पादयन्तीं

तेन रूपेण परिणममानामिति यावत् । एकत्वञ्चोभयत्र सजातीयद्वितीयराहित्यरूपं बोध्यम् । जुषमाणः =सेवमानः, अनुशेते = संसरति । सेवा चात्र वृत्तिप्रतिफलन-रूपा बोध्या, अन्यविधायाः तस्याः प्रकृतेऽसम्भावात् । संसारश्च "अहं सुखी, अहं दुःखी, अहं मूढः" इत्याद्याकारप्रत्ययप्रयोजकान्तःकरणतद्वृत्त्यादिगतप्रतिबिम्ब-तानिरूपितबिम्बतारूपोऽवसेयः, तेन नासङ्गतिः । भुक्तभोगां = भोगापवर्ग-प्रसवरहितां फलतः परिणामशून्यामित्यर्थः । अन्वयस्तु-एको ह्यजः बह्वीः सरूपाः प्रजाः जनयन्तीं लोहितशुक्लकृष्णां एकां अजां जुषमाणः अनुशेते । अन्य. अजः भुक्तभोगा एनां जहाति इति । लाघवानुगृहीतेनेतिपदं तण्डुलबहुत्वेपि यथा तण्डुले 'इदमक्षतम्' इति भवत्येकवचनप्रयोगः तथा मायाबहुत्वेऽपि एकवचनप्रयोगो भवितु-मर्हत्येवेयाशङ्कापनयनाय प्रोक्त वेदितव्यम् । लाघवे = कल्पनालाघवम् । तदनु-गृहीतत्वं तदेककार्यकारित्वम् । एतच्च एकवचनबलस्य विशेषणम् । एकवचनस्य बलं तु तद्गतो वाचकताख्यः शक्तिविशेषः । एकवचनत्वं तु प्रकृतिप्रत्ययसाधारणं ग्राह्यम् । तेन पूर्वश्रुतिद्वयान्तर्गतस्य "माया" "अविद्या", इत्येकवचनस्य, अजामेकामित्य-त्रैकपदस्य च ग्रहणम् । अयमाशयः—मायां, अविद्यां, इत्यत्र प्रकृतिभूतमायागतैकत्व-प्रतिपादक 'सु' पदप्रयोगात्, अजामेकामिति श्रुतौ मायात्मकविशेष्यगतैकत्व-प्रतिपादकैकामितिप्रयोगदर्शनाच्च मायायाः एकत्वं श्रुतिसिद्धम् । न केवलं श्रुति-सिद्धमेव मायाया एकत्वं अपि तु युक्तिसिद्धमपि । तथा हि—एकस्यामेव मायायां स्वीक्रियमाणायां सकलकार्यनिर्वाहे कृतं गौरवदूषितेन मायाबहुत्वेन इति ।

उपसंहरति—

ततश्च तदुपहितं चैतन्यं तच्चेश्वरसाक्षि ।

यतः प्रोक्तश्रुतिततिसिद्धा खलु एका माया ततः इत्यर्थः, तच्चेत्यत्र चकारोऽ-वधारणार्थकः । तथा च तदेवेश्वरसाक्षीति तदर्थः ।

तस्येश्वरसाक्षिणः अनादित्वं साधयति—

तच्चानादि तदुपाधिभूतमायाया अनादित्वात् ।

तत् = ईश्वरसाक्षि । अनादि = उत्पादाख्यविकारवर्जितम् । यतस्तस्यौ-पाधिभूतायाः मायायाः अनादित्वं अजामेकामिति श्रुतिसिद्धम् । अयं भावः—उपधेय-स्यानादित्वं उपाधेश्च सादित्वमिति तूपलभ्यते, यथा कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभसः

श्रोत्रत्वस्थले उपधेयस्य नभसः अनादित्वं उपाधिभूतायाः कर्णशष्कुल्याश्च सादित्वम, परन्तु नात्र कोप्युपलभ्यते दृष्टान्तो यत् उपाधेरनादित्व उपधेयस्य च सादित्वमिति ! तथा च उपाध्युपधेययोः सत्यपि समसामयिकनियमे उपधेयस्य उपाधिकालान्यूनकालस्थितिकत्वमावश्यकम् । अतः अनादित्वमीश्वरसाक्षिणः इति ।

ईश्वरतत्साक्षिणोर्भेदमाह—

मायावच्छिन्नचैतन्यं च परमेश्वरः ।

चकारस्त्वर्थकः । तथा च न मायोपाधिकं चैतन्यं परमेश्वरः येन परमेश्वरतत्साक्षिणोः पृथङ् निर्देशानौचित्यशङ्का कस्यचित् स्यात् इति भाव. ।

ननु ईश्वरतत्साक्षिणोरपि यदि परस्पर भेदः स्वीक्रियते तदा जीवेश्वरभेदो जीवब्रह्मभेदश्च दण्डापूपन्यायसिद्धः । तथा चापसिद्धान्तः इत्याशङ्कायामाह—

मायायाः विशेषणत्वे ईश्वरत्वम्, उपाधित्वे साक्षित्वमितीश्वरत्वसाक्षित्वयोर्भेदः, न तु धर्मिणोरीश्वरतत्साक्षिणोः ।

विशेषणत्वे = अवच्छेदकत्वे । ईश्वरत्वमित्यनन्तरं तस्यैव चैतन्यस्येति शेषः । उपाधित्वे = परिचायकमात्रत्वे । साक्षित्व तस्यैव चैतन्यस्येतिभावः । तथा च वस्तुतः एकमेव चैतन्यं तत्र मायानिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यत्वस्य, मायानिष्ठोपाधितानिरूपितोपधेयत्वस्य च धर्मद्वयस्य स्वीकारात् ईश्वरत्वेश्वरसाक्षित्वयोरेव परस्परं भेदः; तादृग्धर्मद्वयमादायैव ईश्वरः, ईश्वरसाक्षी, इति पृथक्व्यपदेशः, इति नापसिद्धान्तः। जीवतत्साक्षिस्थलेऽपि इयमेव रीतिरनुसरणीया ।

ननु उपाधितभूतायाः मायायाः एकत्वात् यथा ईश्वरसाक्षिणः एकत्वं तथा मायात्मकावच्छेदकैक्यात् लाघवानुगृहीतात् परमेश्वरस्याप्येकत्वमेव । सति चैवं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरासिद्धिः ।तथा च तद्बोधकशास्त्राप्रामाण्यम् इत्याशङ्कायामाह—

स च परमेश्वरः एकोऽपि स्वोपाधिभूत-मायानिष्ठ-सत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादिशब्दवाच्यतां भजते ।

स्वस्य उपाधिभूता या माया, तन्निष्ठा ये सत्त्वरजस्तमोगुणाः तद्भेदेन । शब्दवाच्यतायाः प्रत्येकमन्वयः । तथा च ब्रह्मशब्दवाच्यता विष्णुशब्दवाच्यतां महेश्वरशब्दवाच्यता भजते प्राप्नोति इत्यर्थः । एवं च एकस्मिन् एव परमेश्वरे मायागततत्तद्गुणदृष्टिमाश्रित्य ब्रह्मविष्ण्वादिपदव्यवहारः । ननु अत्र परमेश्वर-पदेन किं मायावच्छिन्नस्य ग्रहण उत मायोपाधिकस्य ? मायावच्छिन्नस्य ग्रहणे "तदुपाधिभूतमाया" इत्यत्र उपाधिपदप्रयोगानुपपत्तिः । अवच्छेदकपदव्यवहारौ-चित्यात् । मायौपाधिकस्य ग्रहणे ईश्वरसाक्षिणः ब्रह्मविष्ण्वादिपदवाच्यतापत्तिः ईश्वरे च तद्व्यवहारानुपपत्तिः इति चेन्न, साक्षिसंग्रहार्थैवोपाधिपदप्रक्षेपात्। **अयं भावः—चैतन्यावच्छेदकीभूतमायावयवगुणगतोत्कर्षं दृष्टिविषयीकृत्य यथा मायावच्छिन्नचैतन्ये ब्रह्मविष्ण्वादिपदव्यवहारः तथा चैतन्योपाधिभूतमायावयव-गुणगतोत्कर्षे दृष्टिमुपक्षिप्य ईश्वरसाक्षिण्यपि ब्रह्मविष्ण्वादिपदव्यवहारः इष्ट एव । अत एव न प्रकृते परमेश्वरोपाधिभूतेतिपदप्रयोगविरोधावकाशः ।**

प्रतिपादितमीश्वरतत्साक्ष्यनादित्वं समाक्षिपति—

नन्वीश्वरतत्साक्षिणोरनादित्वे "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेत्यादौ सृष्टिपूर्वसमये परमेश्वरस्यागन्तुकमीक्षणमुच्यमानं कथमुपपद्यते ?

तत् = ब्रह्म, ऐक्षत = ईक्षणं चक्रे । ईक्षण = संकल्पः । तथा च संकल्पं कृतवदित्यर्थः । सकल्पाकारो "बहु स्या प्रजायेय" इति । प्रजायेय इत्यस्य प्रकर्षेणोत्पद्येय इत्यर्थः । **अयमभिप्रायः** जीवसाक्षीश्वरसाक्षिभेदेन प्रत्यक्षं द्विविधमिति प्रतिपादित पूर्वम् । तथा च साक्षित्वं प्रत्यक्षगतो धर्मः इति प्रत्यक्षमेव साक्षीति फलितम् । तदैक्षत इति श्रुतौ ईक्षणं प्रत्यक्षरूपमेव वक्तव्यम्, भगवतः परोक्षज्ञानासम्भवात् । तदेव च प्रत्यक्षं ईश्वरसाक्षीति प्राप्तम् । उपाधिभूतायाः मायायाः अनादित्वात् यदि तस्यानादित्वमभ्युपेत तदा प्रपञ्चव्याकरणपूर्वं तत् सद्भूतं ब्रह्म ईक्षणं प्रत्यक्षं कृतवत् इत्यर्थकस्य तदैक्षत इति श्रुतेः कथं प्रामाण्यम् ? अनादिकर्मककरणासम्भवात् । उक्तश्रुतेर्वा प्रामाण्याभ्युपगमे कथं साक्षिणः अनादित्वाभ्युपगमसंगतिः ? इति ।

समाधत्ते—

यथा विषयेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणवशेन जीवोपाध्यन्तः-करणस्य वृत्तिभेदा जायन्ते, तथा सृज्यमानप्राणिकर्मवशेन परमेश्वरो-

पधिभूतमायायां वृत्तिविशेषाः इदमिदानीं स्रष्टव्यं इदमिदानी पालयितव्यं इदमिदानी संहर्त्तव्य इत्याद्याकारा जायन्ते । तासां च वृत्तीनां सादित्वात् तत्प्रतिबिम्बित चैतन्य सादीत्युच्यते ।

परमेश्वरोपाधिभूतमायायां इदमिदानीं स्रष्टव्यं इदमिदानीं पालयितव्यं इदमिदानी संहर्त्तव्य इत्याकाराः वृत्तिविशेषाः जायन्ते इत्यन्वयः । सादीत्युच्यते इत्यनन्तरं तदैक्षत इति श्रुत्येति शेषः । वृत्तिविशेषा· परिणामभेदाः । वृत्ते. स्वरूपं प्रदर्शितं इदमिदानीमित्यादि । **अयमभिप्रायः—सत्यं तदैक्षत इति श्रुतिप्रतिपाद्यमीक्षणं प्रत्यक्षरूपतया साक्षिरूपमेव । साक्षिणश्च मायोपाधिक-नित्यचैतन्यरूपतया यदनादित्वं पूर्वमुक्तं तदपि स्थिरसत्यमेव । किन्तु ईक्षणं कृतवत् इत्यर्थिकायाः "तदैक्षत" इति श्रुतेस्त्वितो नाप्रामाण्यं यतः सा "ऐक्षत" इत्यनेन भूतस्य चैतन्यस्य न सादितां प्रतिपादयति, अपि तु उपाधिभूतायाः मायायाः तस्याः ये इदमिदानीं सृष्टव्यं इत्याद्याकाराः परिणामप्रभेदाः तेषामेव सादिताम् । तथा चायं सरलार्थः मायोपाधिकचैतन्यं** साक्षीत्यस्य वृत्तिमन्मायोपाधिकचैतन्यं साक्षीत्यर्थः । तत्र वृत्ते.—सादित्वे एव श्रुतिः तात्पर्यवती, न तु चैतन्यस्य सादित्वे । नातः श्रुतेरप्रामाण्यशङ्कापि । ननु सृष्टिप्राक्काले सृष्टव्यपदार्थाभावेन 'इदमिदानी सृष्टव्यम्' इत्याकारकवृत्तेः कथ सम्भवः, अविद्यमानपदार्थाना इदमोऽविषयत्वात् ? कालस्यापि च तदानी सृष्टव्यतया कथमिदानीमित्यपि प्रतीतिः ? इति चेत् न, आरम्भवादस्याश्रौततया प्रश्नानवकाशाद् **अयमभिप्रायः न खलु वेदान्तसिद्धान्ते सृष्टिः अपूर्वोत्पत्तिरूपा, अपि तु अव्याकृतस्य व्याकरणम् तथा च सूक्ष्मतयाऽवस्थितपदार्थमादाय तथावृत्त्युदये दोषाभावः इति ।**

उपसंहरति—

एवं साक्षिभेदेन प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम् । प्रत्यक्षत्वं च ज्ञेयगतं ज्ञप्तिगतं च निरूपितम् । तत्र ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षत्वसामान्यलक्षणं चित्त्वमेव ।

प्रत्यक्षसामान्यलक्षणजिज्ञासानिवृत्त्यर्थमुक्तं तत्र ज्ञप्तीत्यादि । अयमभिप्रायः—"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" इति श्रुत्या ब्रह्मैव ज्ञप्तिभूतं प्रत्यक्षमित्यनाविलम् । सच्चिदानन्दात्मके ब्रह्मणि चित्त्वं निराबाधमेवेति चित्त्वमेव ज्ञप्त्यात्मक-प्रत्यक्षस्य सामान्यलक्षणमिति ।

ननु चित्त्वमेव यदि प्रत्यक्षत्व तदा पर्वतो वह्निमान् इत्यनुमितावतिव्याप्तिः । परोक्षज्ञानात्मकानुमितेरपि चिद्रूपतया चित्त्वस्य तत्राऽपि सत्वात् इत्याशङ्का-निरासायाह—

पर्वतो वह्निमान् इत्यनुमितावपि वह्न्याद्याकारवृत्त्युपहित-चैतन्यस्य स्वात्मांशे स्वप्रकाशतया प्रत्यक्षत्वात् ।

वह्न्याद्याकारा या वृत्तिः, तया उपहितं यच्चैतन्य तस्य । स्वात्मांशे इत्यत्र आत्म-पदग्रहण त्वस्य स्वरूपज्ञानत्वद्योतनाय । तथा च तस्य लक्ष्यत्वव्यञ्जनम् अयमभिप्रायः—यत्र पर्वतो वह्निमानित्याद्यनुमितौ अतिव्याप्तिमापादयसि, तां त्वं वृत्तित्वेनाभिप्रैषि वृत्त्युपहितचैतन्यत्वेन वा ? आद्ये वृत्तेरपि जडतया विषयत्वे ज्ञप्त्यात्मक-विषय-धर्मस्य चित्त्वस्य तत्राभावाद् अतिव्याप्त्यभावेन पर्यनुयोगा-सम्भवः । द्वितीये पर्वतो वह्निमानितिवह्न्याद्याकारवृत्त्युपहितचैतन्यस्यापि ज्ञप्ति-पदार्थतया लक्ष्यत्वेन तत्र चित्त्वात्मकलक्षणगमनं समुचितमेवेति सर्वथा दोषानवकाशः ।

ननु वह्न्याकारवृत्तेः विषयत्वे इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानविषयत्वस्वरूप-विषयगतप्रत्यक्षलक्षणस्याव्याप्तिः, स्वोपहितचैतन्यनिष्ठविषयितानिरूपितविषय-त्वस्य तत्र सत्त्वेऽपि स्वोपहितस्य चैतन्यस्य इन्द्रियार्थसन्निकर्षाजन्यत्वेन तादृश-ज्ञानविषयत्वस्य वृत्तावभावात् इत्यत आह—

तत्तद्विषयप्रत्यक्षत्वं तु पूर्वोक्तमेव ।

अयमभिप्रेतोऽर्थः—न खल्वस्मन्मते विषयगतप्रत्यक्षत्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य-ज्ञानविषयत्वम् अपि तु प्रमात्रभेदः । स च प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावरूप इति प्रतिपादितमेव । एव च वृत्तेरपि स्वावच्छिन्नचैतन्य एवाध्यस्ततया पृथक्सत्तायाः अस्वीकारात् प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्य अनुमित्यात्मक-वृत्तौ सत्त्वात् न विषयगतप्रत्यक्षत्वहानिः । न चैवं सति वृत्तौ पारोक्ष्यापारोक्ष्य-व्यवस्थानुपपत्तिः, एवं क्रमेण सर्वत्र वृत्तौ आपरोक्ष्यसम्भवेनपारोक्ष्यस्य कुत्राप्य-भावात् इति वाच्यम् । अनुमित्यादौ वृत्त्यंशे प्रत्यक्षत्वसत्त्वेऽपि वह्न्यादिविषयांशे परोक्षत्वसत्त्वेन परोक्ष्यव्यवहारोपपत्तेः । तथा हि—वृत्तौ विषयांशे प्रत्यक्षत्वं नाम प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभेदः । तादृशाभेदे प्रयोजकं च चैतन्यावच्छेदकयोरेक-

देशस्थत्वम् । वह्न्याद्यनुमितिस्थले चक्षुरादिद्वारकवृत्तिनिर्गमद्वारा अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यात्मकप्रमाणचैतन्यावच्छेदकीभूतान्तःकरणवृत्तेः वहिर्देशागमनेन चैतन्यावच्छेदकयोः अन्तःकरणवृत्ति—वह्न्योः एकदेशस्थत्वाभावेन न प्रमाणचैतन्यवह्निचैतन्याभेदः । अत एव न वह्न्यशेऽनुमित्यात्मकवृत्तेरपरोक्षत्वमपि तु परोक्षत्वमेवेति । न चैकस्यां वृत्तावंशकल्पनानुपपत्तिः, पर्वतो वह्निमानित्यादौ पर्वतांशेऽपरोक्षत्वस्य वह्न्यंशे परोक्षत्वस्य सम्पादनाय वृत्तिद्वयस्वीकारात् । **तथा चायं सरलार्थः—वह्न्यनुमितिशब्दस्य वह्न्याकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमर्थः । तत्र चैतन्यांशे चित्स्वरूपं प्रत्यक्षत्वम् वृत्त्यंशे प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावात्मकं प्रत्यक्षत्वम् । वह्न्यंशे च प्रमाणचैतन्यनिष्ठविषयचैतन्याभेदात्मकस्य "विषयांशे प्रत्यक्षत्वस्य" अभावेन परोक्षत्वमिति सर्वं समञ्जसम् ।**

नन्वेवमपि चित्त्वमेव यदि प्रत्यक्षलक्षणं, तदा भ्रान्त्यवच्छिन्नचैतन्येऽतिव्याप्तिः । चित्त्वस्य तत्रापि सत्त्वात् इत्याशङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति—

अस्य च भ्रान्तिमूलप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः । भ्रमप्रमासाधारणप्रत्यक्षसामान्यनिर्वचनेन तस्यापि लक्ष्यत्वात् ।

अस्येत्यस्य चित्त्वलक्षणस्येत्यर्थः । भ्रान्तिमूलत्वं भ्रान्त्यध्यासाधिष्ठानत्वम् । तथा च भ्रान्तिमूलप्रत्यक्षे इत्यस्य भ्रान्त्यवच्छिन्नचैतन्ये इत्यर्थः । भ्रमप्रमयोः साधारणं यत् प्रत्यक्षं चैतन्यं तत्सामान्यस्य निर्वचनेन इत्यर्थः । **अयं भावः—चित्त्वमितिलक्षणं न चैतन्यविशेषस्य अपि तु चैतन्यसामान्यस्य । तथा च प्रमावच्छिन्नचैतन्यमिव [illegible]चैतन्यमपि लक्ष्यमेव । अतस्तत्र लक्षणसमन्वयो युक्त एवेति नातिव्याप्तिशङ्कावकाशः ।** केचितु "भ्रान्तिरूपप्रत्यक्षे" इति पाठ स्वीकृत्य भ्रान्तावतिव्याप्तिमाशंक्य प्रकृतग्रन्थं संगमयन्ति । तन्न मनोरमम् । अव्यवहितपूर्वमेव "वृत्त्युपहितचैतन्यस्य स्वात्मांशे स्वप्रकाशतया प्रत्यक्षत्वात्" इत्यनेन चितः स्वप्रकाशत्ववर्णनेन, वृत्तेश्च जडतया जडाया भ्रान्तिवृत्तौ चित्त्वगमनासम्भवेनातिव्याप्तिदानस्य, इष्टापत्त्या तत्परिहारस्य चासङ्गत्यापत्तेः । अन्ये तु अस्य स्थाने तस्येतिपाठमुपकल्प्य विषयांशप्रत्यक्षलक्षणस्या[illegible]ष्टापत्त्या तत्परिहारं चोपवर्णयन्ति । तदपि न समञ्जसम् । यतः प्रमाणचैतन्यस्य विषयचैतन्याभेद इत्येव तल्लक्षणम् । रूप्यादिभ्रमस्थले वाह्यदेशे रूप्याद्यभावेन अन्तःकरणस्य तदाकारवृत्त्यसम्भवेन तादृशवृत्तिरूप्ययोरेकदेशस्थत्वाभावेन प्रयोजकाभावात् नावच्छेद्यभूतचैतन्ययोरभेदसम्भव इति क्व लक्षणा-

तिव्याप्त्यवकाशः ? प्रातिभासिकरूप्योत्पत्तावपि अविद्यावृत्त्यैव तस्य ग्रहणम् अतो नान्तःकरणस्य तदाकारा वृत्तिः । तदाकारान्तःकरणवृत्त्यभावे च न कथमपि विषयांशप्रत्यक्षत्वसम्भावनेति ।

यद्वा प्रमात्रभेदात्मक-विषयगत-प्रत्यक्षलक्षणस्यातिव्याप्ति मनसि निधाय परिजहार ग्रन्थकारः अस्य चेत्यादिना । अयमाशयः—भ्रान्तेरपि साक्षिणा विषयीकरणेन विषयगतप्रत्यक्षत्वं तत्रापीष्टमेव ।

ननु नास्माभिः चित्त्वलक्षणस्य न वा विषयगतप्रत्यक्षत्वलक्षणस्य नहि वा विषयांशे प्रत्यक्षत्वलक्षणस्यातिव्याप्तिरापाद्यते अपि तु तद्वतितत्प्रकारकत्वस्वरूपप्रमालक्षणस्य । भवन्मते भ्रमस्थलेऽपि रजतादिविषयोत्पादस्वीकारेण तद्वतितत्प्रकारकत्वस्य तत्रापि सुसम्पादत्वात् इत्याशंकां अबाधितत्वघटितं पूर्वोक्तप्रमालक्षणमुपस्थाप्य वारयति—

यदा तु प्रमाया एव लक्षणं वक्तव्यं तदा पूर्वोक्तलक्षणे अबाधितत्वं विषयविशेषणं देयम् ।

वक्तव्यमित्यनन्तरं भ्रान्तिवारणायेति शेषः । तथा चायं भावः—न खलु मया प्रत्यक्षप्रमालक्षणं तद्वति तत्प्रकारकत्वं अनधिगतार्थविषयकज्ञानत्वमात्रं वा प्रोच्यते, येनापत्तिः केनाऽप्यापादिता स्यात् । किन्तु अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम् । भ्रमस्थले रूप्योत्पादेऽपि तस्य बाधिततया, अबाधितत्वाभावेन इदं रूप्यमिति भ्रमे अबाधितार्थविषयकज्ञानत्वाभावेन नातिव्याप्त्यवकाशः ।

ननु किं नाम अबाधितत्वम् ? तस्य बाधितत्वाभावरूपत्वे हट्टस्थरूप्यादेरपि ब्रह्मज्ञानबाध्यतया बाधितत्वेन हट्टस्थरजतविशेष्यकेदंरजतमितिप्रमायामव्याप्तिः । तत्रानधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वाभावात् इत्याक्षेपनिरासाय हेतुभङ्ग्या आह—

शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्य संसारकालीनबाधविषयप्रातिभासिकरजतादिविषयकत्वात् ।

शुक्तिरूप्यादेः भ्रमः शुक्तिरूप्यादिभ्रमः, तस्य । संसारकालीनो यो बाधः तादृशबाधविषयो यः प्रातिभासिकरजतादिः तद्विषयकत्वादित्यर्थः ।

अयमाशयः—अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वं प्रमात्वमिति प्रमालक्षणे अबाधितत्वं नाधिगतत्वसामान्याभाववत्त्वम् अपि तु ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूपं संसारकालीन-बाधाविषयत्वम् । शुक्तिरूप्यादेः ब्रह्मज्ञानेतरेण नेदं रजतमिति वृत्तिज्ञानेन बाधात् संसारकालीन-बाधाविषयत्वेन अबाधितत्वाभावात् इदं रजतमिति भ्रमे अबाधितार्थविषयकत्वाभावेन अतिव्याप्तेर्नावसर इति ।

अन्यथाख्यातिवादी शङ्कते—

ननु विसम्वादिप्रतीत्या भ्रान्तिज्ञानसिद्धावपि तस्य प्रातिभासिकतत्कालोत्पन्नरजतादिविषयकत्वे न प्रमाणम् देशान्तरीयरजतस्य क्लृप्तस्यैव तद्विषयत्वसम्भवात् ।

विसम्वादिनी या प्रवृत्तिः तया । प्रवृत्तौ विसम्वादित्वं निष्फलत्त्वम् । भ्रान्तिरेव ज्ञानं भ्रान्तिज्ञानं तस्य या सिद्धिः, तस्याम् । तस्य = भ्रान्तिज्ञानस्य प्रातिभासिको यः तत्कालोत्पन्नो रजतादिः, तद्विषयकत्वे । क्लृप्तस्य = निश्चितस्य । तद्विषयत्वसम्भवात् = भ्रान्तिविषयत्वसम्भवात् । प्रातिभासिकत्वं = प्रतिभाससिद्धत्वम्, प्रतीतिबलेन स्वीक्रियमाणत्वम् । अयमाशयः—प्राभाकराः यद्-ज्ञानमात्रस्य याथार्थ्यं मन्यन्त तत्तु न युक्तिसिद्धम्, कार्यवैजात्यात् । तथा हि हट्टस्थरजते "इदं रजतम्" इति ज्ञानं कृत्वा तद्ग्रहणाय प्रवृत्तो रजतार्थी प्राप्नोति रजतं राजतपात्रादिनिर्माणयोग्यम् । परन्तु शुक्तौ रजतमिति ज्ञानं कृत्वा तद्ग्रहणाय प्रवृत्तो रजतार्थी नासादयति रजतं पात्रादिनिर्माणयोग्यम् । इति समानाकारके इदं रजतमिति ज्ञानद्वये अवश्यं किञ्चित् वैलक्षण्यं मन्तव्यम् । कथमन्यथा भवेत् तज्जन्यायां प्रवृत्तौ साफल्यवैफल्यात्मकं वैलक्षण्यम् ? एवं-रूपेणास्तु सिद्धिर्भ्रान्तिज्ञानस्य । परन्तु प्रतीतिसमकालं व्यावहारिकेतररजतो-त्पादकल्पनस्य का आवश्यकता ? शुक्तौ जायमानमिदं रजतमिति ज्ञानं पूर्वाव-गतहट्टादिदेशस्थरजतमेवावगाहताम् इति अन्यथा ख्यात्यैव निर्वाहे नाङ्गीकार्या खल्वनिर्वचनीयख्यातिरिति सरलार्थः ।

उत्तरयति—

इति चेन्न । तस्यासन्निकृष्टतया विषयत्वायोगात् ।

तस्य = हट्टादिदेशान्तरस्थरजतस्य । तदानीमित्यादिः, तेन कालान्तरे सन्निकृष्टत्वेऽपि न क्षतिः । असन्निकृष्टतया=सन्निकर्षानाश्रयतया । अयोगोऽभावः ।

तथा च प्रत्यक्षविषयत्वाभावादित्यर्थः । अयमभिप्रायः—प्रात्यक्षिको विषयता सन्निकर्षव्याप्या भवति । व्यापकाभावे च न कथमपि व्याप्यमुपस्थातुमुत्सहते । शुक्तौ यदा इदं रजतमिति विभ्रमो न तदेन्द्रियेण चक्षुषा सह संयोग-संयुक्त-तादात्म्यादिकः सन्निकर्षो देशान्तरवर्त्तिनो व्यावहारिक-रजतस्यास्तीति कथं हट्टादिदेशान्तरस्थं रजतं तादृशेदं रजतमितिप्रतीतिविषयतामासादयेत् ? भवति च प्रतीतिः रजतस्य, इत्यगत्या प्रातिभासिकरजतोत्पादो ध्रुवमङ्गीकार्यः । यदि ब्रूयात् मास्तु रजतभानम् रजतत्वेन शुक्तिकायाः भाने किं बाधकम् ? तदाप्येवमेव प्रतिवक्तव्यं यद् रजते चक्षुस्संयोगं विना रजतत्वेऽपि सयुक्ततादात्म्यात्मकः सन्निकर्षः असम्भूत एवेति तुल्ययुक्त्या सन्निकर्षाभावात् रजतत्वभानमपि न वक्तुं शक्यम् इति ।

ननु दूरस्थचन्दनखण्डे यत् चक्षुषा सुरभि चन्दनमिति ज्ञानं जायते तत्र सौरभेण सह चक्षुषः संयोगादिसन्निकर्षाभावेऽपि यथा सौरभ-स्मरणात्मक-ज्ञान-लक्षणसन्निकर्षेण चाक्षुषं प्रत्यक्षं सौरभस्य सम्भवति, चाक्षुषप्रत्यक्षविषयता सौरभे समायाति, तथा भ्रमस्थलेऽपि रजतस्मरणात्मक-सन्निकर्षबलात् हट्टस्थरजतभानं कथं न स्यात् ? इत्याशङ्कामपनयति—

न च ज्ञानं प्रत्यासत्तिः ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वे तत एव वह्न्यादेः प्रत्यक्षत्वापत्तौ अनुमानाद्युच्छेदापत्तेः ।

प्रत्यासत्तिः = सन्निकर्षः । तत एव = ज्ञानात्मकसन्निकर्षादेव । उच्छेदो विलोपः । अयमाशयः—ज्ञानस्य सन्निकर्षत्वं न स्वीकर्त्तुमर्हम् । ज्ञानस्य सन्निकर्षतायां अनुमानादीनां प्रामाण्याभावप्रसङ्गात् । तथा हि पर्वतो वह्निमानित्यनुमिति-स्थले, पर्वतदर्शनात् धूमदर्शनाद्वा वह्निविषयक-संस्कारोद्बोधे वह्निस्मरणस्य स्वाभाविकतया, तादृशस्मरणं सन्निकर्षीकृत्य वह्निप्रत्यक्षस्यैव चक्षुषा सम्भवात् अनुमानप्रमाणस्वीकारस्याप्रयोजनकत्वापातः । न केवलमनुमानस्यैव, एवं क्रमेण शब्दादीनामपि प्रमाणानाम् । ननु सुरभि चन्दनमित्यत्र का गतिरिति चेत्, न खल्वस्माभिः तादृशस्थले सौरभे प्रात्यक्षिकी विषयता स्वीक्रियते । सौरभस्मरण-चन्दनखण्डचाक्षुषयोस्तत्र स्वीकारात् । न च तर्हि—शुक्तौ जायमाने इदं रजतमिति भ्रमेऽपि सैव पद्धतिरस्तु । तत्रापि ज्ञानद्वयकल्पने बाधकाभावात् इति वाच्यम् । रजतमहमद्राक्षमित्यनुभवविरोधभयात् तत्र तथा वक्तुमशक्यत्वात् । सुरभि चन्दन-मिति स्थले तु सौरभांशे तथानुभवाभावेन ज्ञानद्वयकल्पने बाधकाभावात् । न चेन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणास्वीकर्तृवेदान्तिभवने किं नाम

प्रयोजनं सन्निकर्षस्य ? चक्षुषो रजतसन्निकर्षाभावेऽपि कथं न रजतस्य भ्रमात्मक प्रत्यक्षमिति शङ्क्यम् । सन्निकर्षाभावे इन्द्रियप्रणालिकया विषयपर्यन्तमन्त.करणस्य गमनासम्भवेन विषयाकाराकारितारूपायाः तद्वृत्तेरनुदयेन, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्यस्य विषयचैतन्याभेदासम्भवेन विषयांशे प्रत्यक्षलक्षणस्यासम्भवापातात् ।

अथासम्भवेन भ्रमस्थले रजताद्युत्पत्तिमाक्षिपति—

ननु रजतोत्पादकानां रजतादीनामभावे शुक्तौ कथ तवापि रजतमुत्पद्यते ?

तवापि शुक्तौ रजतं कथमुत्पद्यते इत्यन्वयः। तवापीत्यत्र मध्ये "मते" इति शेषः। तथा च तवापीत्यस्य तव वेदान्तिनो मतेऽपीत्यर्थः। अयमाशयः—कपालाभ्यां घटः, तन्तुभिः पटः उत्पद्यते इति सार्वजनीनानुभवो न भवद्भिरप्यन्यथयितुं शक्यः । तथा चावयविद्रव्यं प्रति अवयवद्रव्यस्योपादानत्वमवश्यं मन्तव्यम् । शुक्तिषु इदं रजतमिति भ्रमस्थले रजतसामान्याभावेन, अवयवभूतरजताभावेन, अवयविभूतरजतोत्पादः कथं शक्यो वक्तुमिति ।

उत्तरयति—

इति चेत् उच्यते। न हि लोकसिद्धसामग्री प्रातिभासिकरजतोत्पादिका। अपि तु तद्विलक्षणैव ।

लोक्यते अवलोक्यते इति लोको व्यवहारः ततः तस्मै वा सिद्धा या सामग्री । यद्वा लोक्यते इति लोकः फलं कार्यं घटादि वस्तु, तदर्थं सिद्धिः अपेक्षा यस्या. सा लोकसिद्धा सामग्री। सामग्री फलोपधानवत् कारणकूटम् । प्रातिभासिकं यद्रजतं तदुत्पत्तौ । प्रतिभासः प्रतीतिः, तत्सिद्धः प्रातिभासिकः। प्रातीतिक इति यावत् । रजतपदं वस्तुमात्रोपसंग्राहकम् अतो न न्यूनता । अयमभिसन्धिः—आहरणादितत्त-त्क्रियासमर्थवस्तुनिष्पादनाय या अपेक्ष्यते लोकैः सामग्री, नापेक्षिता सा प्रातीतिका-व्यावहारिकमात्रिकवस्तूत्पत्तौ, यतः औचित्यमावहदयमाक्षेपो यदवयवाभावे कथमवयव्युत्पत्तिरिति । अवयव्युत्पत्तौ अवयवप्रयोजनमस्माभिरप्यभ्युपगम्यते । किन्तु प्रातिभासिकं तु रजतं नावयवि यतस्तत्र भवेत्प्रयोजनमवयवस्य । किञ्च व्यावहारिकवस्तूत्पत्तौ अदृष्टद्वारा प्राणिविशेषस्यैव भवति निमित्तत्वम् न तु

सामान्येन सर्वेषां प्राणिनाम् । प्रातीतिकवस्तूत्पत्तौ तु सर्वेषां प्राणिनां निमित्तत्व-योग्यत्वमिति महद्वैलक्षण्यं व्यावहारिक-प्रातीतिक-कार्ययोः । सति चैवमुपादान-वैलक्षण्यमपि स्वाभाविकमेवेति न व्यावहारिकोपादानावयवापेक्षा प्रातीतिक-वस्तूत्पत्ताविति निगूढाशयः । विलक्षणैव = लोकसामग्रीभिन्नैव ।

ननु का तर्हि प्रातीतिकवस्तूत्पादप्रणाली ? इत्यत आह—

तथा हि काचादिदोषदूषितलोचनस्य पुरोवृत्तिद्रव्यसंयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा च काचिदन्तःकरणवृत्तिरुदेति । तस्यां च इदमवच्छिन्नचैतन्यं प्रतिबिम्बते । तत्र पूर्वोक्तरीत्या वृत्तेर्बहिर्निर्गमनेन इदमवच्छिन्नचैतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चाभिन्न भवति । ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्न-विषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वाऽवरिका ऽविद्या चाकचिक्यादिसादृश्यसन्दर्शनसमुद्बोधितसंस्कारसध्रीचीना काचादि-दोषसमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते ।

काचादिरेव दोषः, तेन दूषत लोचनं यस्य, तस्य पुरोवृत्ति यत् द्रव्यं शुक्त्यादि तेन सह संयोगात् । तथा च सदोषेन्द्रियविषयसन्निकर्षात् इत्यर्थः । काचिदित्यनेन वृत्तिगतैकत्वव्यञ्जनम् । आकारो विषयित्वम् तथा च इदंनिष्ठविषयतानिरूपित-विषयितावती चाकचिक्यनिष्ठविषयतानिरूपितविषयितावती च "चाकचिक्य-वदिदम्" इयं वृत्तिः उदेति = सम्पद्यते । पूर्वोक्तरीत्या एतस्य "अभिन्नं भवति" इत्यनेन सम्बन्धः । पूर्वोक्तरीतिः = अवच्छेद्यचैतन्याभेदप्रयोजकं अवच्छेदकैक-देशस्थत्वमिति नियमः । चाकचिक्यादिसादृश्यसन्दर्शनसमुद्बोधित-संस्कारसध्रीचीना, काचादिदोषसमवहिता, प्रमातृचैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वावरिका अविद्या रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते इत्यन्वयः । प्रमातृचैतन्याभिन्नं यद्विषयचैतन्यं तन्निष्ठा इत्यर्थः । शुक्तित्वमावृणोति इति शुक्तित्वावरिका । चाकचिक्यादिरूपं यत् सादृश्यं तस्य यत् सन्दर्शनं = प्रत्यक्षं तेन समुद्बोधितो यः सस्कारः, तत्सध्रीचीना = तत्साहाय्यमादधाना इत्यर्थः । काचादिरेव दोषः तत्समवहिता तद्युक्ता इत्यर्थः । रजतरूपो योऽर्थः = विषयः, तदाकारेण = तेन रूपेण । रजतस्य यः ज्ञानाभासः = आभासभूतं ज्ञानम्, फलतः भ्रान्तिज्ञानम्, तदाकारेण = तेन रूपेण । चः समुच्चये । परिणमते = परिणतं

भवति। तथा च काचादिदोषः, रजतादिविषयकसमुद्बुद्धसंस्कारः, शुक्तित्वाद्यज्ञानमिति त्रितयमेव ईश्वरेच्छादिसचिवं विलक्षणसामग्री, यया भवति खलु समुत्पत्तिः शुक्तिरजतादिभ्रान्तिज्ञानस्य तद्विषयशुक्तिरजतादेश्च इति। सामग्र्यां अज्ञानं परिणाम्युपादानम्, शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यं वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यप्रमातृचैतन्याभ्याममेदनुपगत आरोपाधिष्ठानोपादानम्, अन्यच्च प्रोक्तं सर्वं निमित्तभूतमित्यवगन्तव्यम्। समुच्चयार्थकेन चकारेण रजत-तज्ज्ञानाभासाकारपरिणत्योः समसामयिकत्वं द्योतितम्। रजतमित्युपलक्षणम्, तेन सर्वत्र भ्रान्तिज्ञानस्थले इयमेव रीतिरवगन्तव्या।

ननु परिणमते इत्युक्तम्, तत्र को नाम परिणामशब्दार्थः ? इत्यत आह—

परिणामो नामोपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः।

"नाम" इति वाक्यालङ्कारे। उपादानेन समाना सत्ता यस्य, तदुपादानसमसत्ताकम्। तादृक् यत् कार्यं, तस्याः आपत्तिः = अभिव्यक्तिः। उपादानं = परिणामि, अधिष्ठानाज्ञानमित्यर्थः। अयमाशयः—यावदेव शुक्तित्वाज्ञानं तावदेव शुक्तिरूप्यं तज्ज्ञानाभासश्च तिष्ठति, इति निरुक्ताज्ञानात्मकपरिणामिनः शुक्तिरूप्यादेः परिणामस्य च अस्तित्वरूपा सत्ता समानैव। ननु मृद्धटादौ व्यभिचारः तत्र मृद्घटयोः समसामायिकत्वाभावात् इति चेन्मैवम्। न वयमारम्भवादिनो यदेवं स्यादभियोगः। कुलालव्यापारात्पूर्वं मुद्गरपाताद्यनन्तरमपि च अनभिव्यक्तरूपेण घटस्य विद्यमानतया समसामयिकत्वाभावाभावात्। यद्वा त्रिविधा सत्ता पारमार्थिकी व्यावहारिकी प्रातिभासिकी च। तत्र पारमार्थिकी ब्रह्मणि, व्यावहारिकी घटादिषु प्रातिभासिकी शुक्तिरूप्यादिषु। एवं च मृद्घटयोरुभयोः व्यावहारिकसत्ताश्रयतया समसत्ताकत्वम्। एकविषयकस्याप्यज्ञानस्य बहुत्वाभ्युपगमपक्षे शुक्तित्वाज्ञानशुक्तिरूप्ययोः तद्भ्रान्तिप्रतिभाससमयमात्रवृत्तितया तयोरपि समसत्ताकत्वमिति न व्यभिचारावकाशः। रजतावयवशुक्तिरूप्योः, शुक्तित्वाज्ञानहट्टस्थरजतयोः ब्रह्मघटयोः, ब्रह्मशुक्तिरूप्ययोर्वा न समसत्ताकत्वमिति न तत्र तत्र परिणामपरिणामिभावः। ननु समसत्ताकत्वं यदि परिणामपरिणामिभावप्रयोजकं मन्यते तदा वैपरीत्यमपि स्यात्। परिणामस्य परिणामित्वं परिणामिनश्च परिणामत्वमपातेत्। घटपटाद्योरपि वा तद्भावापत्तिः स्यादिति चेन्न। न खलु समसत्ताकत्वे परिणामपरिणामिभावव्याप्यत्वमभ्युपगम्यते येनैवं स्यात्। अपि तु तद्व्यापकत्वम्। तथा च ययोर्न समसत्ताकत्वं न तयोः परिणामपरिणामिभावः इत्येव नियमः समायाति, न

नु यत्र यत्र समसत्ताकत्वं तत्र तत्र परिणामपरिणामिभाव इति। तथा च नोक्तदोषावकाशः। वस्तुतस्तु कार्ये विद्यमानमुपादानसमसत्ताकत्व परिणामः। उपादानसमसत्ता च उपादानान्यूनसत्तारूपा न विवक्षितेति न प्रोक्तप्रश्नावकाशः।

उपादेयत्वस्य परिणामविवर्त्तोभयसाधारणतया स्मृतिविषयत्वेन, उपेक्षानर्हत्वेन च विवर्त्तमुपदिशति—

विवर्त्तो नामोपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः।

उपादानं = अध्यासाधिष्ठानम्। वैषम्यं विरोधः। आपत्तिपदं सम्पातापातम्। **तथा च आरोपाधिष्ठानगतसत्ताविरुद्धसत्तावत्कार्यमेव विवर्त इति फलितम्।** यथा ब्रह्म उपादानम्, घटादिको विवर्त्तः, उभयगतसत्तयोस्तु न सामाधिकरण्यम्। ब्रह्मणि पारमार्थिकसत्तायाः, घटादौ च व्यावहारिकसत्तायाः सत्त्वात्। यद्वा ब्रह्मणि अधिकसत्तायाः, घटादौ च ततो न्यूनसत्तायाः विद्यमानत्वात्। एवञ्च उपादानभूतब्रह्मसत्ताविषमसत्ताककार्यपदेन घटादेर्ग्रहणात् लक्षणसमन्वयः। विवर्त्तत्व कार्यत्वसमनियतमवज्ञेयम्, तेन प्रातिभासिकेऽपि विवर्त्तत्वम् इति

ननु परिणामत्वविवर्त्तत्वयोः यदि समनियतत्व कृतमुभयोः भेदस्वीकारेण व्यर्थगौरवान् इत्यत आह—

प्रातिभासिकं रजतन्त्वविद्यापेक्षया परिणामः चैतन्यापेक्षया विवर्त्त इति चोच्यते।

तुकारः अप्यर्थकः। तेन व्यावहारिकस्यापि संग्रहः। रजतपदं कार्यमात्रोपलक्षकं पूर्ववदेव। अयमाशयः—सत्यं विवर्त्तभूते परिणामिभूते च धर्मिणि न कोऽपि भेदः, एकस्मिन्नेव घटे शुक्तिरूप्ये वा परिणामत्वविवर्त्तत्वयो उभयोः सत्त्वात्। किन्तु धर्मभूतयोः विवर्त्तत्वपरिणामत्वयोः व्यावहारिको भेदो मन्तव्य एव, तयोर्विभिन्नापेक्षत्वात्। यतो हि चैतन्यापेक्षं विवर्त्तत्वं परिणामत्वं तु न तदपेक्षम्, अपि तु अविद्यापेक्षम्। तथा च एकस्मिन्नेव द्रव्यत्वपृथिवीत्वादौ आपेक्षिकं परत्वमपरत्वं च यथा मन्यते नैयायिकैः तथा अत्रापि धर्मद्वयस्वीकारे न किञ्चिद्बाधकम् उपधेयसंकरेऽप्युपाधेरसंकरात्।

विवर्त्तशब्दस्य योगरूढत्वं व्यनक्ति—

अविद्यापरिणामरूपं च तद्रजतं अविद्याधिष्ठाने इदमवच्छिन्न-चैतन्ये वर्त्तते ।

अयमर्थ :—न केवलं घटादेः प्रातिभासिकस्य च उपादानविषमसत्ताकतया विवर्त्तपदवाच्यत्त्वम् । अपि तु विशेषेण वर्त्तनादपि तेषां विवर्त्तपदवाच्यत्वम् । विशेषेण वर्त्तते इति विवर्तः इति हि योगार्थः । ते हि घटादयः अध्यासाधिष्ठाने चैतन्ये वर्त्तन्ते इत्यतोऽपि तेषां विवर्त्तत्वम् ।

अविद्यापरिणाममात्रस्य विवर्त्तत्वे हेतुमाह—

अस्मन्मते सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठानाश्रितत्व-नियमात् ।

अस्मन्मते = वेदान्तिमते । सर्वस्य = व्यावहारिकस्य प्रातिभासिकस्य चेत्यर्थः । स्वं = कार्यं, तदुपादान = तत्परिणामिनी या अविद्या, तदधिष्ठानं = तदाश्रयः = यत् चैतन्यं, तदाश्रितत्वनियमात्, इत्यर्थः । **अयमाशय :—परिणामपरिणामिनोस्तादात्म्यमनुभवसिद्धम्, सति चैवं परिणामिन्यविद्या यदा चैतन्याश्रिता, यदा तत्तादात्म्यापन्नस्य परिणामस्यापि चैतन्याश्रितत्वं दंडापूपायितम् । एवञ्च चैतन्ये विशेषेण वर्तमानतया परिणाममात्रस्य विवर्त्तत्वमबाधम् ।** ननु तर्हि यत् यन्निरूपितवृत्तितावद्भवति तत्तस्य विवर्त्त इति लभ्यते । तथा च भूतलादिवृत्तिघटादेः भूतलादिविवर्त्तत्वापत्तिरिति चेन्मैवम् । न यत् यन्निरुपित-वृत्तितावद्भवति तत्तस्य विवर्त्त इति लभ्यते, अपि तु यत् विशेषेण यन्निरूपितवृत्तितावद्भवति तत् तस्य विवर्त्त इति । विशेषश्च सम्बन्धगतः । स च आध्यासिकत्वरूपो बोध्यः । तथा च आध्यासिकेन यत् यत्र वर्त्तते तत् तस्य विवर्त्त इति फलितोऽर्थः । न खलु घटादिराध्यासिकेन सम्बन्धेन भूतलादौ वर्त्तते, येन भूतलादि विवर्त्तभूतं स्यात् । नन्वेवं सति अविद्याया अपि ब्रह्मविवर्त्तत्वापत्तिः । आध्यासिकेनैव सम्बन्धेन तस्या अपि चैतन्याश्रितत्वात् इति चेत् इष्टापत्तेः । न च विवर्त्तत्वस्य परिणामत्वसमनैयत्यक्षतिः । परिणाम-परिणामिनोस्तादात्म्यमादाय तदुपपत्तेः ।

प्रतीत्यनुपपत्तिमाशंकते—

ननु चैतन्यनिष्ठरजतस्य कथमिदं रजतमिति पुरोवर्त्तिना तादात्म्यम्?

पुरः = अग्रे, भूतलादिदेशे वर्त्तते इति पुरोवर्त्ति = शुक्त्यादि, तेन। तादात्म्यं = तादात्म्यावगाही प्रत्ययः। अत एवानुपदमुत्तरग्रन्थे "पुरोवर्त्तिसंसर्ग-प्रत्यय उपपद्यते" इत्युच्यते न तु "तादात्म्यमुपपद्यते" इति। अयं भावः—अविद्यायाः परिणामभूतं रजतं चैतन्याश्रितमिति चैतन्यस्य विवर्त्तभूतं तत् इत्युक्तम्। एव सति भूतलादिसयुक्तेन शुक्त्यादिना चैतन्याश्रितस्य प्रातिभासिकरजतादेः वैयधिकरण्यात् कथं तयोः तादात्म्यावगाही"इदं रजतमिति सामानाधिकरण्य-प्रत्ययः ? कथं वा तादृग्रजतं प्रकारीकृत्य भूतले "रजतवदिदं भूतलम्" इत्यादि-प्रत्ययः ? इदपदार्थाविना तस्य सम्बन्धाभावात् इति।

उत्तरयति—

उच्यते। यथा न्यायमते आत्मनिष्ठस्य सुखादेः शरीरनिष्ठत्वेनो-पलम्भः, शरीरस्य सुखाद्यधिकरणावच्छेदकत्वात्। तथा चैतन्य-मात्रस्य रजतं प्रत्यनधिष्ठानतया, इदमवच्छिन्नचैतन्यस्य तदधिष्ठान-त्वेन, इदमोऽवच्छेदकतया रजतस्य पुरोवर्त्तिसंसर्गप्रत्यय उपपद्यते।

शरीरस्य सुखाद्यधिकरणावच्छेदकत्वात्, आत्मनिष्ठस्य सुखादेः, न्यायमते यथा शरीरनिष्ठत्वेनोपलम्भः इत्यन्वयः। सुखादीत्यत्र आदिपदेन दुःखज्ञानेच्छाप्रयत्ना-दीनां परिग्रहः। सुखाद्यधिकरणं = जीवात्मा, तस्यावच्छेदकत्वात्। उपलम्भः = प्रत्ययः, "ससुखं शरीरम्" इत्यादिरूपः। मात्रपदं कैवल्यार्थकम्। तथा च केवल-चैतन्यस्य = निरवच्छिन्नचैतस्य। रजतं प्रति = प्रातिभासिकरजतं प्रति। तदधिष्ठानत्वेन = प्रातिभासिकरजताधिष्ठानत्वेन। इदमः = इदंपदार्थस्य शुक्तेरित्यर्थः। पुरोवर्त्तिनि = शुक्तौ यः संसर्गः = तादात्म्यं तस्य प्रत्ययः अयं भावः—अक्षपादानुयायिमते सुखदुःखादिकं समवायनामकेन सम्बन्धेन जीवा-त्मन्येव तिष्ठति, एवं च तत्समक्षं "तव मते ससुखं शरीरमिति" प्रत्ययः कथं सम्पद्यते ? इत्येवं कश्चिज्जिज्ञासिते, ते एवं वदन्ति यत् सत्यमस्मन्मते समवायेन सुखादिकं जीवात्मन्येव तिष्ठति, किन्तु नानवच्छिन्ने शरीरेतरावच्छिन्ने वा तस्मिन।

तथा च शरीरस्यावच्छेदकतया अवच्छेदकतानामकेन सम्बन्धेन सुखादेः शरीरे सत्त्वात् नोक्तप्रत्ययानुपपत्तिरिति । एवं च तथाकल्पितेन सम्बन्धेन सुखादिकं शरीरे समानीय "ससुखं शरीरम्" "सुखवच्छरीरम्" इत्यादिप्रत्ययं समुपपादयन्ति ते, तथा अस्माभिरपि "इदं रजतमिति प्रत्ययः समुपपाद्यः। तथा हि—प्रातीतिकं रजतं नानवच्छिन्ने चैतन्ये समाश्रित न वा इदंपदार्थातिरिक्तावच्छिन्ने, इति, इदं-पदार्थशुक्तेरवच्छेदकतया, कल्पितेनावच्छेदकतासम्बन्धेन प्रातीतिकं रजतं पुरोवर्त्तिशुक्तौ समागतमेवेति क्वानुपपत्तिरुक्तप्रत्ययस्य ?

ननु दृष्टान्तवैषम्यम्—तथा हि—तत्रावच्छेदकतासम्बन्धेन सुख शरीरे समानीय "ससुखं शरीरम्" "सुखवच्छरीरम्" इति सुखशरीरयोः भेदावगाह्येव भवति प्रत्ययः, न तु प्रकृत इव तादात्म्यावगाही इति चेत् न, रजतं रजततादात्म्यं चैकमेव वस्तु, सति चैवं इदमवच्छिन्नचैतन्ये रजताध्यासस्य रजततादात्म्याध्यासस्य चैकतया, इदं पदार्थशुक्तौ रजततादात्म्यमवच्छेदकतासम्बन्धेन समानीय तथा प्रत्ययस्य सम्पादनीयत्वात् । इदं रजतमित्यस्य "रजततादात्म्यवदिदम्" इत्यर्थकत्वात् ।

ननु "इदमवच्छिन्नचैतन्ये रजताध्यासः" इत्यस्य शुक्त्यवच्छिन्ने, फलतः विषयावच्छिन्नचैतन्ये अध्यासः इत्यर्थः। तथा च घटादिक यथा स्वावच्छिन्नचैतन्यात्मकविषयावच्छिन्नचैतन्याध्यस्त तथा प्रातिभासिकं रजतमपि इदमवच्छिन्न-चैतन्यात्मकविषयावच्छिन्नचैतन्याध्यस्तमिति घटादिवत् कथं नान्यवेद्यत्वम् ? कथं वा केवलसाक्षिवेद्यत्वम् ? इत्याशङ्कापरिहाराय आह—

तस्य विषयचैतन्यस्य तदान्तःकरणोपहितचैतन्याभिन्नतया विषय-चैतन्येऽध्यस्तमपि रजतं साक्षिण्यध्यस्तं केवलसाक्षिवेद्यमिति चोच्यते ।

तस्य विषयचैतन्यस्य = शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य । तदा = प्रतिभासकाले । अन्तःकरणोपहितचैतन्याभिन्नतया = साक्षिचैतन्याभिन्नतया । साक्षिण्यध्यस्तमिति हेतुगर्भविशेषणम् । तथा च यतः साक्षिण्यध्यस्तमतः केवलसाक्षिवेद्यं सुखवत् अनन्यवेद्यं चेत्यर्थः। साक्षिण्यध्यस्तमित्यनेन प्रमाणादिव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वं द्योतितम् । तदेव हि केवलसाक्षिवेद्यत्वमित्युक्तं प्राक् स्वयमेव । अयं भावः—घटादीनां स्वावच्छिन्नचैतन्यमात्राध्यस्तत्वं प्रातिभासिकरजतादीनां तु स्वभिन्न-शुक्तित्वादीदमर्थावच्छिन्नचैतन्याभिन्नान्तःकरणोपहितचैतन्याध्यस्तत्वमिति द्वयोः मह-

द्वैलक्षण्यम्, अतो न घटादिदृष्टान्तेन प्रातिभासिकरजतादीनां केवलसाक्षिवे द्यत्वानन्यवेद्यत्वानुपपत्तिः । स्वानच्छिन्नचैतन्याध्यस्तत्वं अनन्यवेद्यत्वप्रयोजकम् । सत्यपि सर्वत्र चैतन्याभेदे अवच्छेदकभेदप्रयुक्तव्यवस्थोपपत्तिः । घटादिपूर्वसद्धिव्यावहारिकवस्तुनि प्रमाणादिव्यापारसम्भावनया न प्रमाणादिव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वम् । तथा च कथ तेषां केवलसाक्षिवेद्यत्वम्, ततश्चानन्यवेद्यत्वमापतेत् ? सुखप्रातिभासिकादीनां तु प्रतिभासमात्रकालावस्थापित्वेन पूर्वमसिद्धत्वात् प्रमाणव्यापारासम्भवात् प्रमाणव्यापारमन्तरेण साक्षिविषयत्वात् केवलसाक्षिवेद्यत्वं ततश्चानन्यवेद्यत्वमिति । अनवच्छिन्नशुद्धचैतन्ये एव घटपटाद्यध्यासस्वीकारे तु घटपटयो: अनेकपुरुषवेद्यत्वेऽपि यथा तदुभयगता संख्या अनन्यवेद्या भवति, अनेकपुरुषीयचक्षुस्संयुक्तसमवायस्य सन्निकर्षस्य समानत्वेऽपि, तथा प्रकृतेऽपि भवितुमर्हति एकचैतन्याध्यस्तत्वेऽपि घटप्रातिभासिकरजतादेः अन्यवेद्यत्वानन्यवेद्यत्ववैलक्षण्यम् । तथा च नैयायिकैर्यथा फलबलात् तत्पुरुषीयापेक्षाजन्य-द्वित्वादिक तेनैव ग्राह्यमिति नियमः स्वीक्रियते तथाऽस्माभिरपि यदीयदोषक्षुब्धा अविद्या यदाकारेण परिणमते तस्य तद्दोषवत्पुरुषग्राह्यत्वम् इति नियमोभ्युपगन्तव्य, तथा च नोक्त दोषः इति । ननु घटादिकं स्वावच्छिन्नचैतन्ये अध्यस्तं प्रातिभासिकरजतादिकं न तथेत्यस्य कोऽर्थः इति चेत् अयमर्थः—अविद्यमानं नावच्छेदकं अपि तु विद्यमानमेवेति विश्वजनीनोनुभवः । घटादेः प्रतिभासात् पूर्व घटादेः व्यावहारिकतया विद्यमानत्वेन भवितुमर्हति तेषां चैतन्यावच्छेदकत्वम् । अतस्तदवच्छिन्नचैतन्ये एव पुनर्घटाध्यासस्तज्ज्ञानकाले । प्रातिभासिकरजतादीनां तु अपूर्वपदार्थतया, प्रतिभासात्पूर्वमविद्यमानतया चैतन्यावच्छेदकत्वाभावात् न तदवच्छिन्नत्वं चैतन्यस्येति न स्वावच्छिन्नचैतन्याध्यासः । इदंपदार्थस्य व्यावहारिकस्य चैतन्यावच्छेदकत्वात् तदवच्छिन्नचैतन्ये तेषामध्यासः । घटादिकल्पना अव्यवहितानादिसिद्धा, इति यश्चैतन्यांशो विषयतया जडेन पूर्वकल्पितेन घटेन आवृतः, तस्मिन्नेव चैतन्यांशे पुनर्घटकल्पनं भवति, इत्येव "स्वावच्छिन्नचैतन्ये तदध्यास इत्यस्य सरलार्थः । प्रातिभासिकरजतादिकल्पना अनादिसिद्धापि नाव्यवहितानादिसिद्धा, इति न तदावृतचैतन्यांशे पुनः पुनस्तत्कल्पनम् । अपि तु इदंपदार्थावृतचैतन्यांशे, इत्यतस्तेषां स्वानवच्छिन्नचैतन्ये अध्यासः । घटादेरावरकत्वमविद्याऽविद्यकयोर्भेदाभावात् । व्यावहारिकसत्तानङ्गीकर्तॄणां मते तु प्रश्नस्यैव नावकाशः । तेषां मते घटादीनामपि प्रातिभासिकतया अनन्यवेद्यत्वात् । व्यावहारिकसत्ताङ्गीकर्तॄं मते सुखादेः प्रातिभासिकत्वापत्तिरिति तु न शङ्क्यम् इष्टत्वात् इत्यभिनवः पन्थाः ।

पुनः शङ्कते—

ननु साक्षिण्यध्यस्तत्वे अहं रजतमिति प्रत्ययः स्यात् अहं-सुखीतिवत्—

शुक्तिरजतादेः इत्यादिः । **अयं भावः**—साक्ष्यध्यस्तसुखदुःखादिप्रत्यये नियमतः अस्मदर्थविषयकत्वं भासते । शुक्तिरजतादेरपि साक्ष्यध्यस्तत्वे तद्विषयकप्रत्ययेऽपि अस्मदर्थविषयकत्वं स्वीकर्त्तव्यम् । न चेष्टापत्तिः । अहं सुखी अहं दुःखी इत्यादि-प्रयोगवत् "अहं रजतम्" इत्यपूर्वप्रयोगापत्तेः ।

उत्तरयति—

इति चेत्, उच्यते—न हि सुखादीनामन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य-निष्ठाविद्याकार्यत्वप्रयुक्तमहं सुखीति ज्ञानम् । सुखादीनां घटादिवच्छुद्ध-चैतन्य एवाध्यासात् । किन्तु यस्य यदाकारानुभवाहितसंस्कार-सहकृताविद्याकार्यत्व तस्य तदाकारानुभवविषयत्वमित्येवानुगतं नियामकम् । तथा चेदमाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताऽविद्याकार्य-त्वात् घटादेरिदमाकारानुभवविषयत्वम् । अहमाकारानुभवाहितसंस्कार-सहकृताऽविद्याकार्यत्वात् अन्तःकरणादेः अहमनुभवविषयत्वम् । शरीरेन्द्रियादेरुभयाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताऽऽविद्याकार्यत्वात् उभयविधानुभवविषयत्वम् । तथा चोभयविधानुभवः—इदं शरीर-मयं देहः, अहं मनुष्यः, अहं ब्राह्मणः, इदं चक्षुरहं काणः, इदं श्रोत्र-महं बधिर इति ।

यदाकारः यः अनुभवः, तेनाहितो यः संस्कारः तेन सहकृता या अविद्या, तत्कार्यत्वम् । एवमेव परत्रापि बोध्यम् । कार्यत्वपरिणामत्वम् । **तथा च पूर्ववर्त्ती—समानाकारकोऽनुभवः संस्कारसम्बन्धेन अन्तःकरणे विद्यमानः परवर्त्तिसमाना-कारकानुभव-प्रयोजकः । अतः यद्विषयको यदाकारोऽनुभवः आनादेः कालात् भवन्नागच्छति परवर्त्तिकालेऽपि तदाकारक एवानुभवो भविष्यति, नान्यथेति सरलार्थः** । एवं च घटविषयकः प्रत्ययः अनादिकालात् इदमर्थावगाही "अयं घटः" इत्येवं भवन्नागच्छति, ततः परवर्त्तिकाले वर्त्तमानकालेऽपि वा तद्विषयकः तथैव

प्रत्ययो भवितुमर्हति, न त्वस्मदर्थावगाही "अहं घटः" इति । प्रातिभासिकरजतादेरपि इदमर्थावगाही "इद रजतम्" इति प्रयत्य एव अनादेःकालात् भवन्नागच्छति, नतः परवर्त्तिकालेऽपि नाहं रजतमित्यापादयितु शक्यते सत्यपि तस्य साक्ष्यध्यस्तत्वे । न चाद्यनुभवे व्यभिचारः, संसारस्यानादितया अनुभवे प्राथम्यानभ्युपगमात् । मनुष्यत्वब्राह्मणत्वयोः शरीरधर्मतया—"अहं मनुष्यः" "अह ब्राह्मणः" इति प्रतीत्योः शरीरविषयकत्वम् । पूर्वप्रतीत्योस्तु शरीरविषयकत्वं स्पष्टमेव । काणत्वबधिरत्वयोः चक्षुष्कर्णवृत्तितया चक्षुष्कर्णविषयत्वम् ।

दृष्टान्तसिद्धं वृत्तं दार्ष्टान्तिके स्मारयति—

प्रकृते च प्रातिभासिकरजतस्य प्रमातृचैतन्याभिन्नेदमवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठाऽऽविद्याकार्यत्वेऽपि इदं रजतमिति सत्यस्थलीयेदमाकारानुभवाहितसंस्कारसहकृताऽविद्याकार्यत्वादिदमाकारानुभवविषयता न त्वह रजतमित्यहमाकारानुभवविषयतेत्येदमनुसन्धेयम् ।

प्रमातृचैतन्याभिन्नं यद् इदमवच्छिन्नं चैतन्यं तन्निष्ठा या अविद्या, तत्कार्यत्वेऽपि । इदं रजतमिति सत्यस्थलीयः इदमाकारानुभवः, तदाहितेत्यादि पूर्ववत् । सत्यपदं उभयसाधारणं यद्रजतत्वम्, अनुगतरूपेण तदवच्छिन्नानुभवग्रहणाय । अन्यथा वैयर्थ्यापत्तेः । पूर्वपूर्वसिद्धशुक्तिरजतविषयकानुभवाहितसंस्कारमादायैव व्यवस्थोपपत्तेः । सत्यानुभव इव असत्यानुभवेऽपि प्राथम्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् । व्यावहारिकघटादेः स्वावच्छिन्नचैतन्याध्यासपक्षेऽपि परवर्त्यनुभवाकारव्यवस्थापकतया अयमेव नियमोवसेयः । स्मृत्याकारनियामकत्व त्वनुभवाकारस्य सर्वप्रसिद्धमेव ।

अविद्या रजतार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते इत्युक्तम् तत्र ज्ञानाभासाकारपरिणमनमसहमान आह—

नन्वेवमपि मिथ्यारजतस्य साक्षात्साक्षिसम्बन्धितया भानसम्भवेन रजतगोचरज्ञानरूपायाः अविद्यावृत्तेः अभ्युपगमः किमर्थः ?

साक्षात्साक्षिसम्बन्धितया = प्रतिभाससमय एव साक्षिचैतन्याध्यस्ततया । [illegible]—घटादयो व्यावहारिकाः पदार्थाः तद्भानादनेककालपूर्वं मूलाऽ-

विद्यावशात् कल्पिताः । मध्ये चिद्घटयोर्मध्ये घटाविद्यात्मकतूलाविद्यायाः समागततया न चिता पूर्वसिद्धघटभानम् । व्यवहिततया चिदनुपरक्तत्वात् । घटाकारायामन्तःकरणवृत्तौ स्वीक्रियमाणाया तैजसतया स्वच्छस्यान्त.करणस्य स्वच्छायां वृत्तौ जले सूर्यस्येव भवति प्रतिबिम्बनम् । एवञ्च वृत्तेर्घटाकारायाः चित्प्रतिबिम्बनात् प्रतिबिम्बाक्रान्तजलप्रदेश इव प्रकाशकता समायाति । ततो घटाविद्यायाः खडन वृत्तिप्रतिबिम्बितचिता तस्य पूर्वसिद्धघटस्य सम्बन्धश्च संजायते इति तादृशस्थले स्वीक्रियता नाम आवरणभंगार्था चिदुपरागार्था वा वृत्तिः । प्रातिभासिकस्थले कि प्रयोजनम् अविद्यावृत्त्यभ्युपगमस्य ? इति

वृत्तिस्वीकृतिव्यतिरेकेण रजते तादृशे विषयगनप्रत्यक्षत्वानुपपत्तिपरिहाराय वृत्त्यभ्युपगमः, इति समाधत्ते—

इति चेत् । उच्यते । स्वगोचरवृत्त्युपहितचैतन्यभिन्नसत्ताकत्वाभावास्य विषयापरोक्ष्यरूपतया रजतस्यापरोक्षत्वसिद्धये तदभ्युपगमात् ।

स्वं विषय., तद्गोचरा या वृत्तिः, तदुपहितं यच्चैतन्यं, तद्भिन्नसत्ताकत्वाभावस्य । तद्भिन्नसत्ताकत्वाभावश्च तत्सत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावरूपः पूर्ववत् बोध्यः । विषयं गत यत् आपरोक्ष्य = प्रत्यक्षत्वं, तद्रूपतया = तल्लक्षणतया । अपरोक्षत्वस्य सिद्धये = अपरोक्षत्वसम्पादनाय । तदभ्युपगमात् = रजतज्ञानाभासात्मकाविद्यावृत्त्यभ्युपगमात् । अयमाशयः—पूर्वं यः विषयगतप्रत्यक्षत्वस्य परिष्कारः प्रमातृसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभाव इति विहितः, तत्र चैतन्ये स्वगोचरवृत्त्युपहितत्वमपि ध्रुवं विशेषणं देयम् । अन्यथा वृत्तिं विनाऽपि प्रत्यक्षो घट इति प्रतीत्यापत्तेः । चैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्र सर्वदैव विद्यमानत्वात् । न चेष्टापत्तिः अतीन्द्रियेऽपि तथा व्यवहारप्रसंगात् । चैतन्याभिन्नसत्ताकत्वस्य तत्रापि वर्तमानत्वात् । एवं च यदि प्रातिभासिकरजताकारा काचन वृत्तिर्न स्वीकार्या, तर्हि स्वाकारवृत्त्यप्रसिद्धया निरुक्तलक्षणगमनाभावेन प्रातिभासिकस्य रजतस्य न कथमपि विषयगतापरोक्ष्यं सम्भवितुमर्हतीति । ननु वृत्त्युपहितत्वविशेषणदाने अनुमिते घटे, प्रत्यक्षो घट इति प्रतीत्यापत्तिर्दुर्वारेति चेत्, सत्यम् । वृत्तिपदेन इन्द्रियसन्निकर्षाधीनवृत्तेर्ग्रहणात्, अनुमित्यादिपरोक्षवृत्तेस्तादृशत्वाभावात् । न चान्तःकरणस्यैव स्वीक्रियता रजताकारा वृत्तिः । कथमभ्युपगम्यते अविद्यावृत्तिः ?

इति चेन्, अन्त करणवृत्ते रिन्द्रियद्वारकत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धतयाप्रवृत्ते र्बाह्यदेशे रजताभावेन इन्द्रियसन्निकर्षाभावात् तद्वारकान्तःकरणवृत्ते रसम्भवात् ।

अपसिद्धान्तापात शङ्कते—

नन्विदंवृत्तेः रजताकारवृत्तेश्च प्रत्येकमेकैकविषयत्वे गुरुमतवद्विशिष्टज्ञानानभ्युपगमे कुतो भ्रमज्ञानसिद्धिः ?

इदंवृत्तिः = इदम् इत्याकारा वृत्तिः । रजताकारवृत्तिः "रजतम्" इत्याकारा वृत्ति. । प्रत्येकमेकैकविषयत्वे = विभिन्नविषयकत्वे । गुरुमतवत् = प्रभाकरमतवत् । विशिष्टज्ञानानभ्युपगमे = विशेषणविशिष्टविषयकैकज्ञानानभ्युपगमे । कुतः इति आक्षेपे । तथा च न सिद्धिरिति भावः । **अयमर्थः—अनिर्वचनीयोत्पादस्थले यत्र "इदं रजतम्" इति वृत्तिर्भवति, तत्र सा रजतत्वविशिष्टेदंविषयिणी एका वृत्तिः वृत्तिद्वयी वा ? नैकेति वक्तुं शक्यम् "इदम्" इत्येतस्य इन्द्रियसन्निकर्षाधीनतया अन्तःकरणवृत्तित्वात् । रजतमित्यस्य अविद्यावृत्तित्वात् । वृत्तिद्वित्वाभ्युपगमे अख्यातिवादिगुरुमतप्रवेशात् भ्रमासिद्धिः इति ।**

वृत्तिद्वयस्वीकारेऽपि न गुरुमतप्रवेशो न वाऽपसिद्धान्तापातः इति समाधत्ते—

इति चेन्न । वृत्तिद्वयप्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैकस्य सत्यमिथ्यावस्तुतादात्म्यावगाहित्वेन भ्रमत्वस्वीकारात् ।

"इदम्" इत्येका, "रजतम्" इत्यपरा वृत्तिः । सत्यम् = इदंपदार्थः । मिथ्या = रजतादिः । तादात्म्यावगाहित्वेन = उभयतादात्म्यस्य विषयीकरणेन । अयं भावः—न केवलं वृत्तिद्वयस्वीकारमात्रेण प्रभाकरमतप्रवेशः शक्यते वक्तुम् । यतस्ते हि भ्रमस्थले हट्टस्थस्य रजतस्य स्मृतिं वदन्ति । अस्माभिस्तु तत्र तत्कालोत्पन्नप्रातिभासिकरजतस्य प्रत्यक्षमभ्युपेयते न स्मरणमिति महद्वैलक्षण्यम् । नापि विशिष्टज्ञानैक्यानुपगमात् भ्रमासिद्धिः । यतो नास्माभिः परमते इव भ्रमत्वं तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूपं अभ्युपेयते । अपि तु विषयाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य मिथ्यातादात्म्यावगाहित्वम् । प्रकृते च इदमित्याकारान्तःकरणवृत्तौ रजतमित्याकाराविद्यावृत्तौ च प्रतिबिम्बितं यदैकचैतन्यं, तस्य व्यावहारिकेदमर्थ—

प्रातिभासिकरजतपदार्थोभयतादात्म्यावगाहित्वेन मिथ्यातादात्म्यावगाहित्वात् । चैतन्ये मिथ्यातादात्म्यावगाहित्वं तु मिथ्यार्थप्रकाशकत्वम् ।

ननु घटादेर्मिथ्यात्वमुपेयते न वा ? आद्ये हट्टस्थरजतघटादिवृत्तेरपि अविद्यावृत्तित्वापत्तिः । द्वितीये द्वैतापत्तिः, इत्यभिप्रायेण शङ्कते—

ननु सिद्धान्ते देशान्तरीयरजतमप्यविद्याकार्यमध्यस्तं चेति कथं शुक्तिरूप्यस्य ततो वैलक्षण्यम् ?

सिद्धान्ते=वेदान्तसिद्धान्ते । देशान्तरीयरजतं = हट्टादिदेशस्थरजतम् । अपिकारेण—प्रातिभासिकरजतपरिग्रहः । कार्यं = परिणामभूतम् । अध्यस्तमित्यनन्तरं "चैतन्ये" इति शेषः । कथमित्याक्षेपे । ततः = हट्टस्थरजतात् । न कथमपि वैलक्षण्यमित्यर्थः । **उभयोः सर्वथा साम्यात् "इदं" "रजतम्" इति वृत्तिद्वयस्य अविद्यावृत्तित्वमेवास्तामन्तःकरणवृत्तित्वमेव वा । ओमित्युक्तौ आद्ये "चैतन्यस्यैकस्य सत्यमिथ्यावस्तुतादात्म्यावगाहित्वेन" इत्यत्र सत्यावगाहित्वकथनासङ्गतिः । द्वितीये पुनर्भ्रमासिद्धिरिति निगूढाभिप्रायः ।**

एकरूपेणाविशेषे न सवर्था विशेषलोपः कैरप्यभ्युपगम्यः । अन्यथा अतिप्रसङ्गात् । विशेषप्रयोजक-जिज्ञासा चेत् सर्ववादिसिद्धं स्वभावमेवावधारयेति समाधत्ते—

इति चेन्न । त्वन्मते सत्यत्वाविशेषेऽपि केषाञ्चित्क्षणिकत्वं केषाञ्चित्स्थायित्वमित्यत्र यदेव नियामकं तदेव स्वभावविशेषादिक ममापि ।

त्वन्मते = नैयायिकमते । सत्यत्वं = अविद्यापरिणामत्वाभावः, चैतन्याध्यस्तत्वाभावो वा । अविशेषः = साम्यम् । केषाञ्चित् = जन्यज्ञानेच्छाशब्दादीनाम् । क्षणिकत्वं = तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम् । केषाञ्चित् = उत्पन्नविनष्टातिरिक्तघटपटादीनां परमाण्वाकाशादीनां च । स्थायित्वं = निरुक्तक्षणिकभिन्नत्वम् । स्वभावविशेषादिकमित्यस्य यदेव तदेवेत्युभयत्रान्वयः । ममापीत्यनन्तरं नियामकमित्यस्य संबन्धः । **अयमभिप्रायः—नैयायिकानां मते घटपटादीनामनेककालस्थायिनां जीवज्ञानेच्छा-शब्दादीनां च सत्यत्वं समानमेव । न चैकमपि काल्पनिकम् । किन्तु सत्यप्येवंरूपेण साजात्ये, घटपटादीनां यथा अनेक-**

कालस्थायित्वं न तथा जीवज्ञानेच्छादीनाम्, तथैव अस्माकमपि मते घटपटादीनां यथा अनेककालावस्थायित्वं न तथा जीवज्ञानेच्छादीनाम्, — तथैव अस्माकमपि मते घटपटादीनां व्यावहारिकाणां शुक्तिरूप्यादीनां प्रातिभासिकानां च चिदध्यस्तमाया-परिणामत्वादिना साम्येऽपि घटादीनां वृत्तिपूर्वपश्चाद्वर्त्तित्वं शुक्तिरूप्यादेः वृत्ति-कालमात्रस्थायित्वम् इति भवितुमर्हति विशेषः । प्रयोजकप्रश्ने भवदाश्रयणीयः स्वभावविशेष एवाश्रयणीयः प्रयोजकतया अस्माभिरपि इति । तथा च शुक्तिरूप्या-पेक्षया घटादेः सत्यत्वात् न सत्यपदप्रयोगासङ्गतिः । ब्रह्मापेक्षया मिथ्यात्वेन न वा द्वैतापत्तिः । येषां ज्ञानानां ब्रह्मघटाद्युभयापेक्षया फलतः सर्वापेक्षया मिथ्याभूत-शुक्तिरूप्यादिविषयकत्वं तेषां भ्रमत्वमिति न भ्रमासिद्धिः । इति ।

प्रतिवन्द्युत्तरमनुत्तरमिति कृत्वा आह—

यद्वा घटाद्यध्यासेऽविद्यैव दोषत्वेन हेतुः । शुक्तिरूप्याद्यध्यासे तु काचादयोऽपि दोषाः ।

यद्वा = अथवा । एवकारः अन्ययोगव्यवच्छेदार्थः । तथा चाविद्यामात्र-मित्यर्थः । घटाद्यध्यासे हेतुरित्यन्वयः । काचादयोपीत्यपिकारेण अविद्यायाः संग्रहः । अयमभिप्रायः—अध्यासमात्रे दोषः कारणम् । अध्यासश्च द्विविधः मूलाज्ञानमूलकः तूलाज्ञानमूलकश्च । घटादिव्यावहारिकवस्त्वध्यासो मूलाज्ञानमूलकः । तत्र घटादि-परिणाम-परिणामिभूता अविद्यैव दोषोऽपि । दोषान्तराभावात् । तूलाज्ञानमूलके शुक्तिरूप्याद्यध्यासे तु न परिणामिमात्रं दोषः, अपि तु इन्द्रियविषयादिगतं काच-चाकचिक्यादिकमपीति न व्यावहारिक-प्रातिभासिकयोरविशेषापत्तिः । न वा तन्मूलकपूर्वविकल्पित-दोषावकाश इति ।

एतत्कल्पे प्रातिभासिकत्व-प्रयोजकं स्पष्टतया आह—

तथा चागन्तुकदोषजन्यत्वं प्रातिभासकत्वे प्रयोजकम् ।

आगन्तुको यो दोषः तज्जन्यत्वमित्यर्थः । आगन्तुकत्वं परिणामिभिन्नत्वम् । दोषजन्यत्वं च दोषत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतारूपम् । तेन न दोषध्वंस-दोषप्रत्यक्षादौ वा अतिव्याप्तिः । तत्रत्यजनकतायाः प्रतियोगित्वविषयत्वाद्य-वच्छिन्नत्वात् ।

अन्यथा सिद्धान्तहानिमाह —

अत एव स्वप्नोपलब्धरथादीनामागन्तुकनिद्रादिदोषजन्यत्वात् प्रातिभासिकत्वम् ।

अत एव = आगन्तुकदोषजन्यत्वस्य प्रातिभासिकत्वे प्रयोजकत्वादेव । स्वप्ने उपलब्धाः ये रथादयः तेषाम् । आगन्तुको यो निद्रादिः दोषः तज्जन्यत्वात् । **आगन्तुकदोषजन्यत्वस्य प्रातिभासिकता-प्रयोजकतानभ्युपगमे वेदान्तसिद्धं स्वाप्नरथादीनां प्रातिभासिकत्वं कथं स्यात् ? मायापरिणामत्वचैतन्याध्यस्तत्वादीनां व्यावहारिकसाधारण्यस्य पूर्वमेव दर्शितत्वात् इति भावः ।**

नन्वास्ता जाग्रच्छुक्तिरूप्यादीनां प्रातिभासिकत्वमुक्तयुक्त्या, स्वाप्नरथादेः प्रातिभासिकत्वाभ्युपगमः किमर्थः ? व्यर्थगौरवात् इत्याह—

ननु स्वप्नस्थले पूर्वानुभूतरथादेः स्मरणमात्रेणैव व्यवहारोपपत्तौ न रथादिकल्पनं गौरवात् ।

स्वाप्नं ज्ञानं स्मरणमेवास्तु का क्षतिः ? इति भावः । न च संस्कारानुद्बोधे कथं स्मरणम् ? असति चोद्बोधके कथं संस्कारोद्बोधः ? न खलु निद्रैवोद्बोधिकेति वक्तुमर्हम्, सत्यामपि निद्रायां सर्वदा स्मरणाभावात् इति वाच्यम् । अदृष्टविशेषस्यैवागत्या उद्बोधकत्वकल्पनात् इति

अनुभवविरोधेनोत्तरयति—

इति चेन्न। रथादेः स्मृतिमात्राभ्युपगमे रथं पश्यामि स्वप्ने रथमद्राक्षमित्याद्यनुभवविरोधापत्तेः ।

मात्रपदेन अनिर्वचनीयरथाद्युत्पादव्यावृत्तिः । यद्यपि स्मृत्यभ्युपगम इत्युक्तावपि अनिर्वचनीयव्यावृत्तिर्भवत्येव, स्मृतेः परोक्षज्ञानत्वात् , तथापि स्पष्टतार्थं तदुक्तिः । ननु निद्रापदेन किमभिप्रेतम् ? विलक्षणा वृत्तिर्वा अज्ञानं वा ? आद्ये अनुभवबाधितवृत्तिद्वययौगपद्यप्रसङ्गः । द्वितीये जाग्रत्प्रातिभासिकस्यापि स्वाप्नत्वापत्तिः । अज्ञानात्मक-दोषजन्यत्वस्य तत्राप्यक्षतत्वात् इति चेत् न, इन्द्रियविलयस्यैव निद्रापदार्थत्वात् । न च तस्य सुषुप्तावपि सत्त्वेन तदानीं स्वाप्नसृष्ट्या-

पत्तिः । अन्तःकरणविलयकालिकेन्द्रियविलयस्यैव तथात्वस्वीकारात् । यदि सत्यपीन्द्रियमात्रविलोपे न सर्वदा स्वाप्नवृत्तिरनुभवसिद्धा तदा निद्रापदेन अदृष्ट-विशेषस्य ग्रहणं वेदितव्यम् ।

अत एव—

अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात् करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् । इति नैषधीय-खण्डनखण्डखाद्यकृदुक्तिरपि सगच्छते । एतेन स्वप्ने स्वशिरःकर्त्तनादिदर्शनानुपपत्तिः, प्रातिभासिकोत्पत्तौ उद्बुद्धसंस्कारसध्रीचीनाया एवाविद्यायाः परिणामित्वेना-पेक्षितत्वात् । संस्कारस्य चानुभवसापेक्षतया स्वशिरःकर्त्तनानुभवस्याभावेन तादृशसंस्कारस्याप्यसम्भवात्, इत्यपि निरस्तम् । जाग्रत्प्रातिभासिकस्थले अविद्यायाः उद्बुद्धसंस्कारसाचिव्यस्य, स्वाप्नप्रतिभासस्थले तु अदृष्टविशेष साचिव्यस्यापेक्षितत्वात् । न च सामग्र्यननुगम इति वाच्यम् । निद्रायाः दोषत्वपक्षेऽपि स्वाप्नप्रतिभासे निद्राघटिता सामग्री, जाग्रत्प्रतिभासे तु तदघटिता सामग्रीति तदनुगमस्याशक्यत्वात् । दोषत्वेन निद्रा-काच-चाकचिक्यादीन् एकीकृत्यानुगमे सामग्र्याः प्रकृतेऽपि तथा सम्भवात् ।

न खल्वनुभवविरोध एव श्रुतिविरोधोपीत्याह—

"अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इति रथादिसृष्टिप्रतिपादक-श्रुतिविरोधापत्तेश्च ।

रथयोगः = रथप्रतियोगिकमार्गानुयोगिकसंयोगः । अथवा रथयोगो येषां ते रथयोगाः रथ्याश्वसारथिप्रभृतयः । किं वा रथस्य योगः = संयोगो यतः ते रथयोगाः उत्तरोत्तरमार्गानुयोगिकरथसंयोगकारणभूताः क्रियाः, तथा च रथयोगो रथकम्पनमित्यर्थः । आदिपदेन अन्येषां संग्रहः । रथादिसृष्टेः प्रतिपादिका या प्रोक्तश्रुतिः तद्विरोधापत्तेरित्यर्थः । श्रुतिविरोधः = श्रुत्यप्रामाण्यम्, तदापत्तिः । अथवा श्रुतिविरोध : = श्रुतिबाधितत्वम् । तथा च स्वप्ने पूर्वानुभूतपदार्थस्य स्मरणं श्रुतिबाधितमित्यर्थः ।

उपसंहरति—

तस्माच्छुक्तिरूप्यवत् स्वप्नोपलब्धरथादयोऽपि प्रातिभासिकाः यावत्प्रतिभासमवतिष्ठन्ते ।

निद्रादिदोषजन्यत्वस्य प्रातिभासिकत्वप्रयोजकत्वम्, अनुभवविरोधः, श्रुत्यप्रामाण्य च तत्पदार्थः । प्रातिभासिका इत्यनन्तरं यत इत्यध्याहार्यम्, तथा च यावत्प्रतिभासमवतिष्ठन्ते इत्यनेन योगशक्त्या तेषां प्रातिभासिकशब्दवाच्यत्वमपि स्पष्टमेवेति दर्शितम् ।

ननु शुक्तिरजतादिस्थले इदम्पदार्थशुक्त्यादिदैशिकपदार्थस्य रजताद्यध्यासाधिष्ठानस्य सत्त्वेन अध्यासस‌म्भवाद् अस्तु तत्र तत्र प्रातिभासिकवस्तूत्पादाम्युपगमः स्वप्ने तु अधिष्ठानाभावात् अध्यासाभावेन कथं प्रातिभासिकरथाद्युत्पादाभ्युपगमः ? इत्याशयेन शङ्कते—

ननु स्वप्ने रथाद्यधिष्ठान-देशविशेषस्यापि तदाऽसन्निकृष्टतयाऽनिर्वचनीयप्रातिभासिकदेशोभ्युपगन्तव्यः । तथा च रथाद्यध्यासः कुत्र ?

रथादेः अधिष्ठानतया उपलभ्यमानो यो देशविशेषः तस्यापि । असन्निकृष्टतया = इन्द्रियसन्निकर्षानाश्रयतया । अनिर्वचनीयः सत्त्वेनासत्त्वेन च निर्वक्तुमनर्हः । एतावता अवयविभिन्न इति फलितम् । प्रातिभासः प्रतीतिः तत्रभवः = तद्विषयः प्रातिभासिक. । तथा च इदन्त्वेनानुभूयमान इति फलितम् । तेन नार्थपुनरुक्तिः । अयं भावः—जाग्रत्प्रतिभासस्थले यथा प्रतीतिः इदमर्थात्मकाध्यासाधिष्ठानावगाहिनी भवति, स्वप्नेऽपि "अयं रथः" इत्यादिप्रतीतिः इदमर्थावगाहिन्येव भवति । परन्तु तत्र कार्यरजतापेक्षया अधिकसत्ताकत्वेन सत्यस्य इदमर्थशुक्त्यादेः अधिष्ठानत्वमर्हति भवितुम् । स्वप्ने तु इदमर्थोऽपि न व्यावहारिकः अपि तु प्रातिभासिक एव वक्तव्यः । आरोप्याधिकसत्ताकस्य सत्यस्यैव चाध्यासाधिष्ठानत्वमिति नियमः । तथा चाधिष्ठानाभावात् कस्मिन्नधिष्ठाने रथस्य इदमर्थस्य वा अध्यासः स्यात् ? असति चाध्यासे कथं स्वाप्नरथादीनां प्रातिभासिकत्वम् इत्यतः स्मृतिरेव स्वीकर्त्तव्या इति ।

सिद्धान्तानवबोधप्रयुक्तैव इयं शङ्का इति समाधत्ते—

इति चेन्न । चैतन्यस्यैव स्वयम्प्रकाशस्य रथाद्यधिष्ठानत्वात् ।

रथाद्यधिष्ठानेत्यत्र आदिपदेन देशस्य ग्रहणम् । रज्जुत्वादिविशेषरूपेण ज्ञातायां रज्जौ न सर्पाध्यासः, तथा नात्यन्तमज्ञातायां रज्जौ इत्यधिष्ठानप्रकाशो-

प्यावश्यकः इति शङ्कानिरासायोक्तम् 'स्वप्रकाशस्य" इति । अयमाशयः—शुक्तिरूप्यादिभ्रमस्थले नास्माभिरिदंपदार्थे रजतमध्यस्यते, अपि तु इदमर्थावच्छिन्नचैतन्ये । जडस्यानधिष्ठानत्वात् । सति चैव नाधिष्ठानविरहशङ्केति ।

नन्वत्यन्तवृत्त्यविषयपदार्थस्याप्यधिष्ठानत्वाभ्युपगमे सुषुप्तावपि रथादिसृष्ट्यापातः । स्वयंप्रकाशस्य चैतन्यस्य तदाप्यधिष्ठानत्वसम्भवात् । न चेदं वक्तुं शक्यं यदविद्या तत्र नास्ति । यतस्तर्हि सुषुप्तस्य मुक्तत्वापातः, इत्यत आह—

प्रतीयमानो हि रथादिरस्तीत्येव प्रतीयते, इति सद्रूपेण प्रतीयमानं चैतन्यमेवाधिष्ठानम् ।

सतः रूपं = धर्मः सत्त्वं, तेन । अयं भावः—न स्वाप्नस्थलेऽपि अत्यन्तावच्छिन्ने चैतन्ये रथाध्यासः उच्यते, अपि तु "इद रजतम्" इत्यत्रेव "रथः" "अस्ति" इति वृत्तिद्वयसत्त्वेन, इदं रजतमित्यत्र यथा इदमर्थावच्छिन्नचैतन्ये रजताध्यासः, प्रकृतेऽपि अस्तिपदार्थावच्छिन्ने अध्यासः । इति चैतन्यावच्छेदकीभूतास्तित्ववृत्तेरावश्यकतया न सुषुप्तौ रथाद्यध्यासापत्तिः ।

रथवृत्तं प्रतीयमाने देशविशेषे प्रातिभासिकरथादिनिष्ठेन्द्रियग्राह्यत्वे चातिदिशति—

देशविशेषोऽपि चिदध्यस्तः प्रातिभासिकः । रथादाविन्द्रियग्राह्यत्वमपि प्रातिभासिकम् । तदा सर्वेन्द्रियाणामुपरमात् ।

देशविशेषः = मार्गादिः । रथादौ इत्यत्र सप्तम्यर्थो वृत्तित्वम् । तथा च रथादिवृत्तीन्द्रियग्राह्यत्वमित्यर्थः । अयं भावः—चक्षुरादिना घटादेः "अयं घटः" इति प्रत्यक्षानन्तरं "चक्षुषा घटमहं जानामि" "मच्चक्षुर्ग्राह्योऽयं घटः" इत्याद्यनुव्यवसायविषयीभूतं घटादिनिष्ठं चक्षुर्ग्राह्यत्वं, कथञ्चित् भवितुमर्हति व्यावहारिकम् । आश्रयस्य घटादेः व्यावहारिकत्वात् । स्वप्ने "अयं रथः" इति ज्ञानानन्तरं जायमानस्य "रथश्चक्षुषा गृहीतः" "रथं चक्षुषा पश्यामि" इत्यादिज्ञानस्य विषयभूतं रथादिगतं चक्षुर्ग्राह्यत्वं न भवितुमर्हति कथमपि व्यावहारिकम् । धर्मिप्रातिभासिकत्वे धर्मव्यावहारिकत्वस्यानुभवबाधितत्वात् । अतः प्रातिभासिक-

रथादिगतेन्द्रियग्राह्यत्वमपि प्रातिभासिकमेव मन्तव्यम् । किञ्च यदा इन्द्रियाणामेवोपरमः, तदा का सम्भावना व्यावहारिकस्येन्द्रियग्राह्यत्वस्य ? इति ।

ननु यदि शुद्धचैतन्ये फलतः साक्षिचैतन्ये एव स्वप्नरथगजादेरध्यासः तदा कथं न "अहं गजः" "अहं रथः" इत्यादिप्रतीतिः ? इति शङ्कां निराकर्त्तुं पूर्वोक्तसमाधिं स्मारयति—

अहं गज इत्याद्यापादनं तु पूर्ववन्निरसनीयम् ।

पूर्वं = अहं रजतमिति प्रतीत्यापादनम्, तद्वत् । निरसनीयम् = निराकरणीयम् । यस्य यदाकारानुभवाहित-संस्कारसहकृताविद्याकार्यत्वं तस्य तदाकारानुभवविषयत्वमिति नियमं स्वीकृत्य यथा पूर्वं अहं रजतमित्यापादनस्य वारणं कृतमासीत् तथैवाहं गजः इत्याद्यापादनस्यापि वारणं करणीयम् इति भावः ।

सर्वाण्येव कार्याण्यविद्यापरिणामभूतानि इति पूर्वमवगतम् । तथा च स्वप्नगजादीनामपि तत्परिणामत्वं दण्डापूपायितम् । किन्तु स्वाप्नस्थले अन्तःकरणस्यापि द्वारत्वं मायायाः परिणमने इति मतभेदं प्रदर्शयति—

स्वप्नगजादयः साक्षान्मायापरिणामाः इति केचित् । अन्तःकरणद्वारा तत्परिणामाः इत्यपरे ।

ननु अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारे हि प्रतिभासनाशे प्रतिभास्यनाश इति प्रसिद्धो वेदान्तसिद्धान्तः । प्रकृते च शुद्धचैतन्यस्यैव स्वप्नगजाद्यधिष्ठानत्वमुक्तम् । तथा च शुद्धचैतन्यज्ञानपर्यन्तं स्वप्नगजादेः तज्ज्ञाननाश्यस्य सत्त्वमनिवार्यम् । शुद्धचैतन्यज्ञानं च अनेकजन्मानन्तरं कषायपाके एव सम्भवितुमर्हेत् । सति चैवं जाग्रत्कालेऽपि स्वप्नगजादेः सत्त्वात् तज्ज्ञानापत्तिर्दुर्वारेत्याशयवान् शंकते—

ननु गजादेः शुद्धचैतन्याध्यास्तत्वे इदानीं तत्साक्षात्काराभावेन जागरणेऽपि स्वप्नगजादयोऽनुवर्त्तेरन् ।

इदानीं = रागद्वेषमोहात्मकदोषकाले । अनुवर्त्तेरन् = स्युः । "अनेकजन्मसंसिद्धः ततो याति परां गतिम्" इति महदुक्तेः न झटिति शुद्धचैतन्यात्मकस्य

स्वप्नगजाद्यधिष्ठानस्य ज्ञानसम्भावना। अधिष्ठानज्ञानं विना च न स्वप्नगजादेः प्रातिभासिकस्य नाश इति जागरणेऽपि तत्सत्त्वमावश्यकम्। प्रातिभासिकस्य प्रतिभाससमकालत्वमिति स्वयमेव "यावत्प्रतिभासमवतिष्ठन्ते" इत्यनेनोक्तम्। तथा च जाग्रत्काले स्वाप्नगजादिमानवारणस्य कस्तावदुपायः? इति भावः।

नाशद्वैविध्यमुपगम्य समाधत्ते–

उच्यते कार्यविनाशो हि द्विविधः। कश्चिदुपादानेन सह कश्चित् विद्यमान एवोपादाने। आद्यो बाधः द्वितीयस्तु निवृत्तिः। आद्यस्य कारणमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारः। तेन विनोपादानभूताविद्याया अनिवृत्तेः।

कार्यत्वं = परिणामत्वं, व्यावहारिकप्रातिभासिकोभयसाधारणं बोध्यम्। उपादानेन सह इत्यस्य उपादानाशोत्पत्तिक्षणोत्पत्तिमान् इत्यर्थः। विद्यमान एवोपादाने इत्यस्य उपादानकालवृत्तिस्वप्रतियोग्युभयकः इत्यर्थः। बाधः = बाधसंज्ञकः। निवृत्ति = निवृत्तिसंज्ञक.। आद्यस्य = बाधस्य। अधिष्ठानमेव तत्त्वं = वस्तु, तस्य य. साक्षात्कारः। स्वप्रतियोग्यध्यासाधिष्ठानवस्तुसाक्षात्कार इत्यर्थः। अधिष्ठानस्य परोक्षज्ञानात् नाध्यस्तबाध इत्यत उक्तं साक्षात्कारेति। तेन = अध्यासाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेण। उपादानभूता या अविद्या तस्याः। उपादानं = परिणामि।

ननु प्रकृते इतः को लाभः? इत्यत आह—

तदिह ब्रह्मसाक्षात्काराभावात् स्वप्नप्रपञ्चो मा बाधिष्ट, मुसलप्रहारेण घटादेरिव विरोधिवृत्त्यन्तरोदयेन स्वजनकीभूतनिद्रादिदोषविनाशने वा गजादिनिवृत्तौ को दोषः?

तत् = तस्मात्, नाशद्वैविध्यस्वीकारात् इत्यर्थः। इह = प्रपञ्चकालान्तःपातिजाग्रत्काले। स्वप्नप्रपञ्चः = स्वप्नकालिकप्रातिभासिकपदार्थनिकरः। मा बाधिष्ट = मा भवतु बाधितः। मुसलस्य प्रहारः प्रहरणं = सवेगं निपातः, तेन घटादेरिव = घटादेर्निवृत्तिरिव। अस्य गजादिनिवृत्तौ को विरोध इत्यनेनान्वयः। अन्या वृत्तिः वृत्त्यन्तरं = विरोधिवृत्त्यन्तरं, तस्य उदयः = उत्पादः,

तेन । स्वं = स्वप्नगजादिः, तस्य जनकीभूतो यो निद्रादिदोषः, तस्य यो विनाशः, तेन । वाकारो विकल्पार्थकः । एकस्य विरोधिनः समुदये अपरस्य तद्विरोधिनः अकिञ्चित्करत्वरूपः तूष्णीभाव एवानुभवसिद्धो न तु विनाशः इत्याशंक्य स्वजनकीभूतेति परकल्पानुसरणम् । पक्षेऽस्मिन् कारणविघटने कार्यविघटनमावश्यकमित्यनुभवः । तथा चायं समुदितार्थः । स्वप्नोपलब्धगजादयोऽनुवर्तेरन् इत्यनेन कीदृशस्य स्वप्नगजादिनिष्ठस्यानुवर्त्तनस्यापत्तिरभिमता भवताम् ? अबाधितत्वरूपस्य आहोस्वित् अनिवृत्तत्वरूपस्य ? अबाधितत्वस्येति चेत् इष्टैव सा । शुक्तिरूप्यस्थले शुक्तित्वसाक्षात्कारानन्तरं यथा "नेदं रूप्यमपि तु शुक्तिका" इति बाधप्रतीतिर्भवति, तथा स्वप्नगजादिस्थले "नायं गजः अपि तु चैतन्यम्" इति बाधप्रतीतेरजायमानत्वात् । अनिवृत्तत्वस्य चेत् ? न तत्सम्भावना, मुसलप्रहारात्मकविरोधिप्राप्त्या यथा घटस्य निवृत्तिर्भवति स्वप्नगजादेरपि तथा जाग्रत्कालिकव्यावहारिक-घटपटादिवृत्त्यात्मकविरोधिनः प्राप्त्या निवृत्तेः सुसम्भूततया निवृत्ति प्रति प्रतियोगित्वरूपस्य निवृत्तत्वस्यैव तत्र गतत्वात् । प्रतियोगिप्रतीत्यभावप्रयोजकता तु प्रत्येकमुभयविधस्यैव नाशस्य, न ततो जाग्रत्कालेऽबाधितत्वेऽपि स्वप्नगजादेः प्रतीतिप्रसंगः । यद्वा स्वप्नगजादिरूपेण परिणामिन्या अविद्यायाः परिणमने साहाय्यमाचरन्त्याः दोषरूपाया अविद्यायाः विनाशेनैव स्वप्नगजादेर्निवृत्तिः, तत एव च न तत्प्रतीतिर्जाग्रत्काले इति ।

ननु तर्हि प्रातिभासिकत्वाविशेषात् शुक्तिरूप्यादेरपि निवृत्त्यैव भवितव्यं न बाधेन इत्याशंकायामाह—

एवञ्च शुक्तिरूप्यस्य शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठतूलाविद्याकार्यत्वपक्षे शुक्तिरिति ज्ञानेन तदज्ञानेन सह रजतस्य बाधः । मूलाविद्याकार्यत्वपक्षे मूलाविद्यायाः ब्रह्मसाक्षात्कारमात्रनिवर्त्यतया शुक्तितत्त्वज्ञानान्निवृत्तिमात्रं मुसलप्रहारेण घटस्येव ।

शुक्त्यवच्छिन्नं यत् चैतन्यं, तन्निष्ठा या तूलाविद्या, तस्याः कार्यत्वं परिणामः । तत्पक्षे = तत्स्वीकारे । तूलाविद्येत्यस्य साद्यविद्येत्यर्थः । तदज्ञानेन सह = शुक्त्यज्ञानेन सह । मूलाविद्या नाम अनाद्यविद्या । यथोक्तमभियुक्तैः—

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादय. । इति ।

ब्रह्मसाक्षात्कारः "अहं ब्रह्मास्मि" इत्याकारकः, तन्मात्रनिवर्त्यत्वं तदेकबाध्यत्वम् । **अयमभिप्रायः**—शुक्तिरूप्यादीनां मूलाज्ञानस्य परिणामत्वं तूलाज्ञानस्य वा परिणामत्वमत्र वर्त्तते वैमत्यं स्वगृहेऽपि, तत्र यदि मूलाविद्याकार्यत्वमभ्युपेयं तदा परिणामिन्याः तस्याः शुद्धचैतन्यमाश्रयीकृत्यैव वर्त्तमानतया, शुक्तिरूप्यादेरपि स्वप्नगजादिवत् शुद्धचैतन्यमेवाधिष्ठानम् । सति चैवं शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तदनधिष्ठानतया, तत्साक्षात्कारो नाधिष्ठानसाक्षात्कारभूत इति न शुक्तिरूप्यादेरपि बोधः, अपि तु अव्यवहितोत्तरकालनिवृत्तिरेव । तथा च यथा शुक्तिरूप्यस्वप्नगजयोः प्रातिभासिकत्वेनाविशेषः, तथा प्रपञ्चसमसामयिकबाधाविषयत्वरूपेणाबाधितत्वेनापि । मूलाविद्या शुद्धचैतन्यमेवाश्रिता । यथोक्तम्—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला । इति ।

शुक्तिरूप्यादेः तूलाविद्याकार्यत्वपक्षे तु शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यमेवाधिष्ठानम् । अतस्तत्साक्षात्कारोऽपि भवति तद्बाधसम्पादकः । पक्षेऽस्मिन् प्रातिभासिकत्व-व्यवहारकालबाध्यत्वयोर्मध्ये प्रातिभासिकत्वं व्यापकम्, निरुक्तबाध्यत्वं व्याप्यम् । पक्षान्तरे तु बाध एकविध एव, न तु व्यवहारकालीनः सः, अतः बाध्यत्वं व्यापकं प्रातिभासिकत्वमेव व्याप्यम् इति ।

प्रातिभासिकत्वाभ्युपगमे प्रतीतिविरोधं शङ्कते—

ननु शुक्तौ रजतस्य प्रतिभाससमयसत्त्वाभ्युपगमे इदं न रजतमिति त्रैकालिकनिषेधज्ञानं न स्यात् । किन्तु इदानीमिह न रजतमिति । इदानीं घटः श्यामो नेतिवत् ।

प्रतिभासः = इदं रजतम् इति प्रतीतिः तत्समये यत् सत्त्वं = वर्त्तमानत्वं, तस्याभ्युपगमे । त्रैकालिकनिषेधः = कालविशेषानवच्छिन्नो भेदः । सामान्यधर्ममात्रावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद इति सरलार्थः । **अयमाशयः—आविद्यकस्य शुक्तिरूप्यादेः प्रतीतिसमसामयिकत्वमुच्यते** । तथा सति प्रतीतेः पूर्वं, ततः परं

च तत् रूप्यं न तिष्ठति किन्तु मध्ये किञ्चित्काल तिष्ठति, इत्येवं सिद्धं भवति । सति चैवं इदं न रजतम् अपि तु शुक्तिकेति यत् सर्वेषां बाधज्ञानं जायते तन्न स्यात् । न खलु नेदं रजतमिति प्रतीतेरयं विषयो, यत् "इयं शुक्तिका पूर्वं शुक्तिकासीत्, तत्परं इयं रजतमभवत्, अनन्तरमिदानीं पुनः शुक्तिका सञ्जाता न रजतमस्ति" इति । अपि तु "इयं पूर्वमपि शुक्तिकैवासीत् इदानीमपि सैवास्ति, परस्तादपि सैव स्थास्यति, अतः सर्वथा रजतभिन्नेयम्" इत्येव विषयः । यदि मध्ये रजतास्तित्वमभिप्रेयात् ज्ञाता, तदा "इदानीमिदं न रजतम्" इत्येव जानीयात् । मध्ये किञ्चित्कालं लब्धश्यामताकं घटं विषयीकृत्य यथा "इदानीमयं घटो न श्यामः" इति करोति परस्ताद् बाधप्रत्ययं इदानींकालावच्छिन्ननिषेधावगाहिनम्" । परन्तु प्रकृते सामान्यतो रजतनिषेधावगाहिनः "नेदं रजतमित्यस्यैव बाधप्रत्ययस्य सर्वानुभवविषयत्वमिति कथंकारं स्वीकरणीयं मध्ये सत्त्वं प्रातिभासिकस्य ? इति ।

समाधत्ते—

इति चेन्न । न हि तत्र रजतत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो निषेधधीविषयः, किन्तु लौकिकपारमार्थिकत्वावच्छिन्न-प्रातिभासिक-रजत-प्रतियोगिताकः ।

तत्र = शुक्तिकायाम् । रजतत्वधर्मेणावच्छिन्ना या प्रतियोगिता तन्निरूपकाभावः । निषेधधीः = नेदं रजतमिति निश्चयः, तस्याविषयः । लौकिकपारमार्थिकत्वं = व्यावहारिकसत्त्वं तदवच्छिन्ना या प्रातिभासिकनिष्ठा प्रतियोगिता तन्निरूपकः । अभावो निषेधधीविषयः इत्यनेनान्वयः । अयमाशयः इदं रजतमिति भ्रमानन्तरं जाते शुक्तितत्त्वसाक्षात्कारे, यदिदं न रजतमिति बाधज्ञानं जायते, तन्न रजतत्वावच्छिन्नरजतसामान्यनिषेधविषयकं नापि कालविशेषावच्छिन्न-रजतविषयकम् येन स्यातां भवदुक्ते नेदं रजतमिति प्रतीत्यनुपपत्तिः इदानीमिदं न रजतमिति प्रतीत्यापत्तिश्च । अपि तु व्यावहारिकत्वेन प्रातिभासिकरजत-भेदविषयकम् । तादृशस्य तस्य त्रैकालिकतया नावकाशः कस्यापि दोषस्य । व्यावहारिकत्वेन प्रातिभासिकरजतं नेत्यस्य व्यावहारिकत्व-विशिष्ट-प्रातिभासिक-रजतं नेत्यर्थः । मध्ये यदा प्रतिभासकाले प्रातिभासिकरजतस्य सत्त्वमासीत् न

तदाऽपि तस्य व्यावहारिकत्व-विशिष्टतया आसीत् सत्त्वम् । व्यावहारिकत्वस्य सर्वथा सर्वदैव च प्रातिभासिकावृत्तितया प्रातिभासिके व्यावहारिकत्ववैशिष्ट्यासम्भवात् । एवं च व्यावहारिकत्वविशिष्ट-प्रातिभासिकरजत न कदाप्यासीत् नास्ति न स्थास्यतीति सर्वथा सम्भवः तन्निषेधस्य तादृशनिषेधावगाहिन्याः प्रतीतेश्चेति ।

ननु प्रतियोग्यवृत्तिधर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वमसङ्गतम् । व्यावहारिकत्वं प्रातिभासिकावृत्तीति तस्य प्रातिभासिकगतनिषेधप्रतियोगितावच्छेदकत्वमसम्भवि । तथा च कथं तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रातिभासिकभेदः, तदवगाही च प्रत्ययः शक्यो वक्तुम् ? इत्यत आह—

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाभ्युपगमात् ।

वैयधिकरण्यं = प्रतियोगित्वासामानाधिकरण्यम् । तथा च प्रतियोगित्वासमानाधिकरणो यो धर्मः, तदवच्छिन्ना या प्रतियोगिता, तन्निरूपको योऽभावः, तस्याभ्युपगमात् = स्वीकारात् इत्यर्थः । प्रकृते व्यधिकरणधर्मो व्यावहारिकत्वं, तदवच्छिन्ना या प्रतियोगिता सा प्रातिभासिकरजते, तन्निरूपकोऽभावो भवति तादृशरजताभावः । अयमाशयः—अस्माकं मते परमार्थसत्तु केवलं स्वरूपचैतन्यमेव नान्यत् किञ्चित् अन्यपदार्थकल्पना व्यवहारनिर्वाहाय प्रतीतिनिर्वाहाय वा क्रियते । सत्यां चैवं वस्तुस्थितौ घटपटादयो भावपदार्थाः तत्सामान्यविशेषाभावादयो अभावपदार्थाः यथा व्यवहारप्रतीत्योर्निर्वाहाय स्वीकर्त्तव्याः, तथा घटवत्यपि देशे घटत्वेन पटो नास्तीति व्यवहारप्रतीत्योर्निर्वाहाय व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावः कथं न स्वीकर्त्तव्यः ? सति चैवं यथा न दोषस्तथोपपादितमधस्तात् । स्वीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वं प्रति स्वाभाववन्निष्ठाधिकरणतानिरूपित-निरूपकतावच्छेदकत्वं प्रयोजकमिति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावानङ्गीकर्तॄणां मतम् । किन्तु नास्ति तत्र किञ्चिन्मानम्, प्रत्युत वर्त्तते तद्बाधको व्यवहारः प्रोक्तः प्रत्ययश्चेति । यस्तु तैः घटत्वेन पटो नास्तीत्यस्य पटे घटत्वं नास्तीत्यर्थः कल्प्यते, सोऽपि तादृशप्रयोगस्थले सप्तम्यर्थवृत्तित्वादिभासकशब्दाभावादनुभवविरुद्ध एव । सति चैवं समानविषयकव्यवहार-प्रतीत्योः समानाकारकतानियमेन तादृशप्रत्ययस्यापि तद्विषयकत्वासम्भवः ।

पुनः प्रतीतिविरोधमुज्जीवयति—

ननु प्रातिभासिकरजते पारमार्थिकत्वमवगतं न वा ? अनवगमे प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाज्ञानादभावप्रत्यक्षानुपपत्तिः । अवगमेऽपरोक्षावभासस्य तत्कालीनविषयसत्तानियतत्वात् रजते पारमार्थिकत्वमप्यनिर्वचनीयं रजतवदेवोत्पन्नमिति तदवच्छिन्नरजतसत्त्वे तदवच्छिन्नाभावस्तत्र कथं वर्त्तेत ?

अवगमो ज्ञानम् । तथा च अवगतं न वेत्यस्य ज्ञातं न वा इत्यर्थः । अनवगमे = अज्ञाने । प्रतियोगितावच्छेदकं व्यावहारिकत्वं तदवच्छिन्नस्य = तद्विशिष्टस्य प्रातिभासिकनिषेधस्य । प्रत्यक्षानुपपत्तिः = प्रत्यक्षाभावप्रसंग. । अवगमे = ज्ञाने सति अपरोक्षावभासस्य = प्रत्यक्षज्ञानस्य । तत्कालीना = अपरोक्षावभासकालीना, या विषयनिष्ठा सत्ता, तत्समनियतत्वात् । निरुक्तसत्तासमनियतत्वं च निरुक्तसत्ताव्यापकापरोक्षावभासव्यापकत्वम् । प्रथमव्यापकतावच्छेदकः सम्बन्धो विषयत्वम् । द्वितीयव्यापकतावच्छेदकसम्बन्धस्तादात्म्यम् । यद्वा व्यापकत्वमात्रम् । व्याप्यतावच्छेदको व्यापकतावच्छेदकश्च सम्बन्धःकालिकः । स च खण्डकालानुयोगिको ग्राह्यः, नातो महाकालमादाय दोषावकाशः । तदवच्छिन्नरजतसत्त्वे = व्यावहारिकत्वावच्छिन्नप्रातिभासिकरजतसत्त्वे । तदवच्छिन्नाभावः = व्यावहारिकत्वावच्छिन्नप्रातिभासिकरजताभावः अयं भावः—प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियोगिज्ञानं अभावप्रत्यक्षे कारणम् । न हि घटत्वावच्छिन्नघटज्ञानं विना घटत्वावच्छिन्नाभावप्रत्यक्षं जायते, तथा सति अतीन्द्रियाभावस्यापि प्रत्यक्षापातात् । एवं च व्यावहारिकत्वावच्छिन्न-प्रातिभासिकरजताभावज्ञाने कर्त्तव्ये व्यावहारिकत्वावच्छिन्न-प्रातिभासिक-ज्ञानमावश्यकम् । अवच्छेदकं नावर्त्तमानं भवतीति तस्य वर्त्तमानत्वं रजतेऽभ्युपेयम् । किन्तु पटे घटत्वमिव प्रातिभासिके तन्नास्तीत्यगत्या तस्यापि प्रातिभासिकं सत्त्वमुपेयम् । तथा च नेदं रजतमिति बाधपूर्वकालिकेदंरजतमिति ज्ञानकाले तज्ज्ञानविषयीभूतस्य रजतस्येव प्रातिभासिकरजते व्यावहारिकत्वस्याप्रातिभासिकसत्तावतः स्वीकर्त्तव्यतया, व्यावहारिकत्वस्य प्रतियोगिवृत्तित्वेन व्यधिकरणधर्मत्वाभावेन, स्वीकृत्यापि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावं, न नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधप्रत्ययोपपादनसम्भवः । प्रातिभसिक-

व्यावहारिकत्व-विशिष्ट-प्रातिभासिकरजतस्य प्रतिभासकाले सत्त्वेन तन्निषेधस्य त्रिकालसम्बन्धासम्भवस्याक्षतत्वात् । भवति तु तादृशनिषेधप्रत्ययः सर्वेषामिति तद्विरोधात् प्रातिभासिकरजतोत्पादः कल्पयितुमनर्हः । इति ।

स्थलविशेषेऽन्यथाख्यातिमभ्युपेत्य समाधत्ते—

इति चेन्न पारमार्थिकत्वस्याधिष्ठाननिष्ठस्य रजते प्रतिभास-सम्भवेन रजतनिष्ठपारमार्थिकत्वोत्पत्त्यनभ्युपगमात् ।

पारमार्थिकत्वस्य = व्यावहारिकत्वस्य । अधिष्ठानं शुक्तिका तन्निष्ठस्य । प्रतिभाससम्भवेन = ज्ञानसम्भवेन । रजतनिष्ठं = व्यावहारिकरजतनिष्ठं यत् पारमार्थिकत्वं = व्यावहारिकत्वं, तदनभ्युपगमात् = तस्यास्वीकारात् । अयमाशयः——निषेधज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिज्ञानमावश्यकमित्यस्माभिरपि मन्तव्यमेव । नेदं रजतमिति निषेधज्ञानार्थं प्रतियोगिनि प्रातिभासिकरजते व्यावहारित्वरूपस्य व्यधिकरणधर्मस्य यन्वा[illegible]पं वैशिष्ट्यं तज्ज्ञानस्यावश्यकत्वेऽपि, निषेधज्ञानकारणीभूतं तत् व्यावहारिकत्वप्रकारकं प्रातिभासिकरजतविशेष्यकं ज्ञानं न प्रतिभासभूतमभ्युपेयते, येन प्रातिभासिकरजतमेव तस्मिन् व्यावहारिकत्वमपि समुत्पद्येत, ततश्च प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिनां, मध्ये किञ्चित्कालसत्त्वप्रस[illegible] तया त्रैकालिकत्वस्य निषेधेऽभावात् युक्तः स्यात् भवदुक्त आक्षेपः । परन्तु इदं रजतमित्यत्र इदंपदार्थभूता या प्रातिभासिकरजताध्यासाधिष्ठानभूता तदवच्छेदकभूता या शुक्तिका तन्निष्ठं यद्व्यावहारिकत्वं, तस्य ज्ञानं रजतान्यथाख्याति[illegible]पम् । अन्यथाख्यातिस्थले च न विषयसमुत्पादः, ततोऽनेकपूर्वमेव अज्ञानस्य तेन रूपेण परिणततया, इदानीं तदपरिणामात् । सति चैवं शुक्तिकानिष्ठस्य व्यावहारिकत्वस्य कस्मिन्नपि काले प्रातिभासिकरजतेऽसत्त्वेन तदवच्छिन्ननिषेधस्य त्रिकालसम्बन्धितया प्रातिभासिकरजतोत्पादाभ्युपगमेऽपि नेदं रजतमिति त्रैकालिकरजतनिषेधप्रतीतेः सुसम्पादतया नाक्षेपावकाश इति । तथा च प्रथमं इदं रजतमिति प्रतिभासः, तत्समसमयमेव च प्रातिभासिकरजतोत्पत्तिः, ततो "रजतमिदं व्यावहारिकम्" इति व्यावहारिकत्वात्मकान्यधर्मपुरस्कारेण पूर्वसमुत्पन्नप्रातिभासिकरजतस्य ख्यातिः, तदनन्तरं शुक्तितत्त्वसाक्षात्कारः, ततो नेदं रजतमिति त्रैकालिकनिषेधज्ञानमिति न काप्यनुपपत्तिः ।

ननु प्रातिभासिकवस्तूत्पादमङ्गीकृत्यापि यदि अन्यथाख्यातिस्वीकार आवश्यकः कृतं तर्हि प्रातिभासिकसृष्टिस्वीकारेण, इत्याशङ्कानिरासायाह—

यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं तत्रैव प्रातिभासिकवस्तूत्पत्तेरङ्गीकारात् ।

आरोप्यं = रूप्यादि । असन्निकृष्टं = इन्द्रियसन्निकर्षाभाववत् । तत्रैवेत्येवकरेणागतिर्व्यज्यते । अयं भावः—न खल्वन्यथाख्यातिप्रद्वेषात् स्वीक्रियतेऽस्माभिरनिर्वचनीयख्यातिः, किन्तु यत्रान्यथाख्यातिर्न भवितुमर्हति तत्रागत्या स्वीक्रियते सा । अन्यथाख्यातिर्हीन्द्रियसन्निकर्षाधीना । न हि हट्टस्थरजतेन तद्गतरजतत्वेन वा सह सम्भवी कश्चन सन्निकर्षः केवलशुक्तिसन्निकृष्टचक्षुष इत्यगत्या अनिर्वचनीयरजततत्प्रतिभाससृष्टिरभ्युपेयते । व्यावहारिकेदंपदार्थनिष्ठव्यावहारिकत्वस्य चक्षुस्संयुक्ततादात्म्य-सन्निकर्षवत्तया तेन रूपेण प्रातिभासिकरजतज्ञानात्मकप्रतियोगितावच्छे[illegible]प्रतियोगिज्ञानसम्भवेन नाङ्गीकरणीया गौरवग्रस्ता प्रातिभासिकव्यावहारिकत्वोत्पत्तिरिति ।

अपसिद्धान्तापातशङ्कां निराकरोति ।

अत एवेन्द्रियसन्निकृष्ट-जपाकुसुमगत-लौहित्यस्य स्फटिके भानसम्भवान्न स्फटिकेऽनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिः ।

अत एव = सन्निकृष्टाऽऽरोप्यस्थले अन्यथाख्यातिस्वीकारादेव । इन्द्रियसन्निकृष्टं यत् जपाकुसुमगतं लौहित्यं तस्य । अनिर्वचनीयं यत् लौहित्यं, तस्योत्पत्तिर्नेति सम्बन्धः । स्वीक्रियते वेदान्तिभिरिति शेषः । अयमाशयः अनावृतजपाकुसुमसमीपवर्त्तिनि स्फटिकशकले यत् सकलस्यारुण्यभानं जायते तदन्यथाख्यातिरेवेति स्वीक्रियत एव वेदान्ताचार्यैः । तथा चारुण्येन सह सन्निकृष्टत्वाविशेषात् कुतो न प्रकृतेऽपि इदंपदार्थनिष्ठस्य व्यावहारिकत्वस्य प्रातिभासिकरजतनिष्ठतया भानमुपेयम् ? दृष्टान्तलाभान्नापसिद्धान्तापातशङ्का, इति । प्रातिभासिकमनन्यवेद्यं भवतीति, पूर्वमुक्तं जपाकुसुमसन्निहितस्फटिकारुण्यं नानन्यवेद्यमिति युक्तमेव तस्याप्रातिभासिकत्वम् । इदमर्थसन्निहितप्रातिभासिकरजतव्यावहारिकत्वमनन्यवेद्यमन्यवेद्यं वेति तु चिन्तनीयम् ।

यदि आरोप्येन्द्रियसन्निकर्षस्थल एवान्यथा ख्यातिः, इतरथा अनिर्वचनीयख्यातिः, तदा यत्रानव्यवहितौ जपास्फटिकौ विद्येते, किन्तु जपाचक्षुषोर्मध्ये वर्तते व्यवधानम्, स्फटिकचक्षुषोर्मध्ये चाव्यवधानम्, तादृशस्थले स्फटिकविशेषणतया भासमानमारुण्यं पुनरनिर्वचनीय स्यात् इत्याह—

नन्वेवं यत्र जपाकुसुमं द्रव्यान्तरव्यवधानादसन्निकृष्टं स्फटिकमात्रं सन्निकृष्टं तत्र लौहित्यप्रतीत्या प्रातिभासिकलौहित्यं स्वीक्रियनाम् ।

अन्यत् द्रव्यं द्रव्यान्तरं, तदेव व्यवधानं = व्यवधायकम्, तस्मात् । असन्निकृष्टं = सन्निकर्षाभाववत् । चक्षुषः इति शेषः । अव्यवहितजपाकुसुमस्फटिकखण्डस्थल एव द्विविधाकल्पना न युक्तेति भावः ।

आपत्तेरिष्टतामभ्युपगच्छन् परिहरति—

इति चेन्न, इष्टत्वात् ।

अयमाशयः—पूर्वमेवेदं प्रतिपादितं यत् सन्निकृष्टारोप्यस्थल एवान्यथाख्यातिसम्भावना नान्यत्र । तथा च प्रकृते स्फटिके जपाकुसुमारुण्यप्रतिफलनसाम्येऽपि जपारुण्येन्द्रियसन्निकर्षाभावात् नान्यथाख्यातिसम्भावना । तस्मादनिर्वचनीयख्यातिरादरणीयैवेति नापत्तिः सन्निकर्षाभावश्चारुण्ये चक्षुषो जपासंयोगाभावादवसेयः ।

वृत्तां प्रक्रियां स्थलान्तरे सञ्चारयति—

प्रत्यक्षभ्रमान्तरेष्वपि प्रत्यक्षसामान्यलक्षणानुगमो यथार्थप्रत्ययलक्षणासद्भावश्च दर्शनीयः ।

प्रत्यक्षभ्रमान्तरेषु = रज्जुसर्पादिभ्रमेषु । प्रत्यक्षस्य यत् सामान्यलक्षणं तस्यानुगमः समन्वयः । लक्षणे सामान्यत्वं च भ्रमप्रमोभयनिरूपितवृत्तित्वम् । ज्ञप्तिगतप्रत्यक्षसामान्यलक्षणं चित्त्वम् । तत्तद्विषयांशे प्रत्यक्षत्वम्—तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेदः । भ्रमप्रमासाधारणमिदं लक्षणद्वयं शुक्तिरूप्यभ्रम इव रज्जुसर्पादिभ्रमेऽपि समन्वेति । **प्रत्यक्षप्रमालक्षणं** तु अनधिगताबाधितार्थ-

विषयकज्ञानात्वम्, तस्य च न तत्र तत्रातिव्याप्तिः । विषयस्य बाधितत्वात् इति भावः ।

यद्वा—ननु यद्यन्यथाख्यातिरपि स्वीक्रियते तर्हि वक्तव्यमिदं यत् तत्रापि प्रत्यक्षसामान्यलक्षणाक्रान्तिर्भवति न वेत्याकांक्षायामुक्तं प्रत्यक्षभ्रमान्तरेष्वित्यादि । तथा चान्यथाख्यातिष्विति तदर्थः । अन्यथाख्यातौ प्रत्यक्षप्रमालक्षणातिव्याप्त्यभावं दर्शयति प्रत्यक्षप्रमेति । अव्याप्त्यभावेऽसम्भवाभावः कैमुतिकन्यायसिद्धः इति अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवाभावेन प्रत्यक्षलक्षणमदुष्टमिति भावः । अन्यथाख्यातिस्थले वैशिष्ट्यांशे बाध., प्रातिभासिकस्थले विशिष्टांशे इति विशेषः ।

प्रपञ्चितस्य प्रत्यक्षस्य इन्द्रियजन्यत्वेन्द्रियाजन्यत्वाभ्यां द्वैविध्यं दर्शयति—

उक्तं प्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण द्विविधम् इन्द्रियजन्यं तदजन्यं चेति— तत्रेन्द्रियाजन्यं सुखादिप्रत्यक्षम् मनस इन्द्रियत्वनिरासात् ।

तदजन्यम् = इन्द्रियाजन्यम् । मनसः इत्यनन्तरं पूर्वमेवेति शेषः । मनसः इन्द्रियत्वे अनुमित्यादेरपि मनोजन्यत्वेन इन्द्रियजन्यतया प्रत्यक्षत्वापत्तेरिति भावः ।

ननु तर्हि सिद्धान्तेऽस्मिन् कतीन्द्रियाणि कानि च तानि ? इत्याकांक्षयामाह—

इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वगात्मकानि

द्वन्द्वान्तश्रूयमाणस्य स्वरूपार्थकस्यात्मशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः । तथा च घ्राणं रसनं चक्षुः श्रोत्रं त्वक् इत्येतानि पञ्चेन्द्रियाणीत्यर्थः । गन्धग्राहकमिन्द्रियं घ्राणम् । रसग्राहकमिन्द्रियं रसनम् । रूपग्राहकमिन्द्रियं चक्षुः, शब्दग्राहकमिन्द्रियं श्रोत्रम् । स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं त्वक् इति तत्तल्लक्षणमवसेयम् । ननु श्रोत्रलक्षणस्य सर्पचक्षुषि अतिव्याप्तिः तस्य पृथक् कर्णाभावेन चक्षुष एव शब्दग्राहकत्वात् इति चेन्न न खलु गोलकस्यैव चक्षुष्ट्वं येनेयमाशङ्का स्यात् किन्तु गोलकाद्यतिरिक्तमतीन्द्रियं तत् । सति चैवं एकस्मिन्नेव सर्पगोलके इन्द्रियद्वयावस्थानकल्पनात् । न च तस्मिन् चक्षुःश्रवेति व्यवहारानुपपत्तिः गोलकैकाभिप्रायेण तथा व्यवहारात् ।

इन्द्रियैः व्यवहितविप्रकृष्टादिप्रत्यक्षं कुतो न जायते ? इत्याकांक्षायामाह—

सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्वस्वविषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति ।

विषयसंयुक्तत्वं = विषयसम्बद्धत्वम् । तेन घटरूपादिना चक्षुषः संयोगाभावेऽपि नासङ्गतिः । स एव च सम्बन्धः सन्निकर्षः । स पञ्चविधः । संयोगः, संयुक्ततादात्म्यं संयुक्ततदात्मतादात्म्यं, तादात्म्यं, तदात्मतादात्म्यं चेति । घटादिप्रत्यक्षजनने संयोगः । तद्गतरूपादिप्रत्यक्षजनने संयुक्ततादात्म्यम् । रूपत्वादि प्रत्यक्षे संयुक्ततदात्मतादात्म्यम् । शब्दप्रत्यक्षे तादात्म्यम् शब्दत्वप्रत्यक्षे तदात्मतादात्म्यम् सन्निकर्षकार्यतावच्छेदकसम्बन्धो विषयत्वम् इदं तु श्रोतव्यशब्दाश्रयस्य श्रोत्रत्वमभिप्रेत्य । परिच्छिन्नस्य श्रोत्रस्य शब्दाश्रयपर्यन्तगतिस्वीकारे तु त्रय एव सन्निकर्षाः । शब्दाश्रयेण श्रोत्रसंयोगात् शब्दे श्रोत्रसंयुक्ततादात्म्यस्यैव संभवात् । शब्दत्वेन श्रोत्रसंयुक्ततदात्मतादात्म्यस्यैव सम्भवात् ।

स्वसिद्धान्तसिद्धं सन्निकर्षघटकसंयोगे प्रतियोग्यनुयोगिवैचित्र्यं प्रतिपादयति—

तत्र घ्राण-रसन-त्वगिन्द्रियाणि स्वस्वस्थानस्थान्येव गन्धरसस्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति । चक्षुःश्रोत्रे तु स्वत एव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः ।

तत्र = तेषु पञ्चसु इन्द्रियेषु मध्ये । घ्राणं च रसनं च त्वक् च घ्राणरसनत्वचः, तानि चेन्द्रियाणि घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणि । गन्धोपलम्भादीनां यथासंख्यमन्वयः । तथा च स्वस्थानस्थितं घ्राणं गन्धोपलम्भं जनयति इत्यर्थः । एवमेव रसादिष्वपि । तथा च घ्राणादिना स्वस्वविषयोपलम्भस्थले सन्निकर्षघटकः संयोगः स्वानुयोगिको ग्राह्यः । चक्षुःश्रोत्राभ्यां विषयोपलम्भस्थले तु संयोगतादात्म्ये चक्षुःश्रोत्रप्रतियोगिके ग्राह्ये । संयोग एव वा चक्षुःश्रोत्रप्रतियोगिक इति निगूढाशयः ।

ननु श्रोत्रस्याकाशस्य गमनासम्भवेन कथं भवदुक्तिर्युक्ता ? इत्यत आह—

श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात् ।

परिच्छिन्नतया = अव्यापकतया । व्यापकत्वे अतिदूरवर्त्तिशब्दस्यापि ग्रहणप्रसङ्गात् तस्याव्यापकत्वमवश्यं वाच्यम् । अव्यापके च पदार्थे गमनं नासम्भवि, इति युक्तं तस्य शब्ददेशगमनमिति भावः ।

उक्तेऽर्थेऽनुभवं प्रमाणयति—

अत एवानुभवो भेरीशब्दो मया श्रुत इति ।

अत एव श्रोत्रस्य शब्ददेशगमनादेव । अयमाशयः—श्रोत्रस्य शब्ददेशगमनास्वीकारे न भवितुमर्हति कथमप्ययमनुभवः, भेर्युत्पन्नप्रथमशब्दस्याकाशगुणस्य गमनासम्भवेन स्वस्थानस्थितेन श्रोत्रेण ग्रहणासम्भवात् । शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण कर्णविवरे शब्दादुत्पन्नस्य शब्दस्यैव श्रोत्रेण ग्रहणं भवतीति स्वीकार्यतया शब्दजशब्दस्य श्रुतत्वेन भेरीजन्यशब्दस्याश्रुतत्वात् श्रोत्रस्य शब्ददेशगमनस्वीकारे तु भेर्युत्पन्नस्यैव शब्दस्य श्रोत्रेण गृहीतत्वात् सम्पद्यते तथानुभवः ।

ननु भेरीशब्द इत्यस्य न भेरीजन्यप्रथमशब्द इत्यर्थः किन्तु भेरीजन्यशब्दसजातीयशब्दः । तथा च नानुभवबाधः, इति कथं श्रोत्रस्य गमनं कल्प्यम् ? इत्याशङ्कायामाह—

वीचीतरङ्गन्यायेन कर्णशष्कुलीप्रदेशेऽनन्तशब्दोत्पत्तिकल्पनागौरवम्, भेरीशब्दो मया श्रुत इत्यादिप्रत्ययस्य भ्रमत्वकल्पनागौरवञ्च स्यात् । तदेवं प्रत्यक्षं समाप्तम् ।

तथा चानन्त-शब्दोत्पत्तिकल्पनागौरवात् न तार्किकमतस्य सौष्ठवम् । किञ्च भेरीशब्दो मया श्रुतः इति व्यवहारस्थले भेरीशब्दशब्दस्य यथा श्रुतार्थकत्वे तज्जन्यशाब्दबोधस्य भ्रमत्वकल्पनापत्तिः बाधितार्थविषयकत्वात् । यदि च भेरीशब्दसजातीयशब्दोऽर्थः तदा लक्षणापत्तिः इति सर्वथा गौरवमिति भावः ।

प्रत्यक्षपरिच्छेदभगवती इति समाप्ता ॥

अथानुमान-परिछेद-भगवती

इन्द्रियं तत्सन्निकर्षो वा प्रत्यक्षप्रमाणमिति विवेचितं प्राक्। नियतसाहचर्यात्मिकायाः व्याप्तेः प्रत्यक्षस्यैव धूमादिलिङ्गकवह्न्यादिऽप्रसिद्धविधेयकानुमितिस्थले अनुमानपदार्थतया प्रत्यक्षप्रमाण कारणं, व्याप्तिप्रत्यक्षात्मकमनुमानं कार्यमिति कारणकार्यभावसङ्गत्या अनुमानं निरूपयितु प्रतिजानीते—

अथानुमानं निरूप्यते।

अथ = अनन्तरं। प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरमित्यर्थः। अनुमानं = अनुमितिकरणात्मकमनुमानप्रमाणम्। निपूर्वकरूपधात्वर्थो ज्ञानानुकूलो व्यापारः। आश्रयत्वं तिङर्थः। मयेति शेषः। तदर्थो मत्कर्तृकत्वम्-तस्य च अथार्थैकदेशप्रत्यक्षनिरूपणे निपूर्वकरूपधात्वर्थे चान्वयः। धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वञ्चानुमाने स्वजन्यज्ञान विषयत्वसम्बन्धेन। अथार्थानन्तर्य च निरूपणान्तरव्यवधानराहित्यम्। न तु सामान्यतो व्यवधानराहित्यरूपं व्यापारान्तरव्यवधानाभावस्य निश्शङ्कं वक्तुमशक्यत्वात्। व्यापारश्च ग्रन्थग्रथनात्मको बोध्यः। ज्ञानञ्चोपदेश्यनिष्ठमवसेयम्। तथा चास्मत्कर्तृको यः उपदेश्यनिष्ठप्रत्यक्षविषयकज्ञानानुकूलो व्यापारः, तदव्यवहितोत्तरवर्ती यः अस्मत्कर्तृकोपदेश्यनिष्ठज्ञानानुकूलो व्यापारः, स्वजन्यज्ञानविषयतासम्बन्धेन तद्विशिष्टमनुमानम् इति वाक्यार्थबोधः। एवमेवान्यत्राप्यूह्यम्।

ज्ञानं लक्षणपरीक्षाधीनमिति अनुमानप्रमाणलक्षणमाह—

अनुमितिकरणमनुमानम्।

अनुमितेःकरणं अनुमितिकरणम्, तदेवानुमानम्। करणत्वमसाधारणकारणत्वम्। तथा चानुमितित्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावत्वमनुमानत्वम् इति तल्लक्षणम्। तेनानुमितिसाधारणकारणीभूतानां ईश्वरादृष्टादीनां वारणम्। कार्यतायामनुमितित्वावच्छिन्नत्वनिवेशान्मनसः अनुमानत्वनिराकरणम्। न चैवं व्याप्तिसंस्कारे अनुमित्यसाधारणकारणेऽतिव्याप्तिः। तस्य लक्ष्यत्वाभ्युपगमात्। न चानुमिति कारणं च व्याप्तिज्ञानमित्युत्तरग्रन्थविरोधः, फलायोगव्यवच्छिन्नस्यैव कारणस्य

करणत्वमिति सिद्धान्तादरे तस्यान्यथाव्याख्यास्यमानत्वात् । सस्कारस्य कारणतावच्छेदकसम्बन्धत्वं न तु प्रकृत कारणत्वमिति कारणपदादेव तद्वारणम् । अत्र करणमनुमानमित्युक्तौ दण्डादावतिव्याप्तिः । मितिकरणमनुमानमित्युक्तौ प्रत्यक्ष प्रमाणादावतिव्याप्तिरिति ।

ननु अनुमितिमविज्ञाय न शक्यं ज्ञातुमनुमितिकरणत्वमित्यत आह —

अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या ।

व्याप्तेः ज्ञानं व्याप्तिज्ञानं तेन जन्या । व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावती इत्यर्थः । तत्र व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकताया व्याप्तिज्ञानत्वेनेति तृतीयान्तार्थस्यान्वयः । तृतीयार्थोऽवच्छिन्नत्वम् । तथा च व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्ना या जनकता, तादृशजनकतानिरूपिता या जन्यता, तादृशजन्यतावत्वमनुमितेर्लक्षणम् । पर्वतो वह्निमानित्यत्र व्याप्तिज्ञानं = महानसे जायमानं यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरित्याद्याकारकं—धूमनियतवह्निसमानाधिकरणो धूम इति ज्ञानम् । तादृशज्ञानत्वावच्छिन्ना या जनकता सा प्रोक्तज्ञाननिष्ठैव जनकता, तन्निरूपितजन्यत्वस्य पर्वतो वह्निमानित्यनुमितावायाततया लक्षणसमन्वयः ।

जनकतायां व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नत्वनिवेशप्रयोजनमाह—

व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेः तत्त्वेन जन्यत्वाभावान्नानुमितित्वम् ।

व्याप्तिज्ञानस्यानुव्यवसायः व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायः, तदादेः । आदिपदेन ध्वंसेच्छाप्रयत्नादीनां संग्रहः । अयमाशयः—यदि जनकतायां व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नत्वमनिवेश्य केवलं व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकतानिरूपितजन्यत्वमात्रं लक्षणमुच्येत तदा "धूमनिष्ठवह्निव्याप्तिमहं जानामि" । इति धूमनिष्ठवह्निव्याप्तिविषयकज्ञानात्मकानुव्यवसायेऽतिव्याप्तिर्दुर्वारा स्यात् । प्रत्यक्षं प्रति विषयस्य कारणतया व्याप्तिज्ञानप्रत्यक्षात्मकानुव्यवसायं प्रति व्याप्तिज्ञानस्यापि विषयविधया जनकतया व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकतानिरूपितजन्यत्वस्य निरुक्तानुव्यवसायेऽपि गतत्वात् । एवं व्याप्तिज्ञानेच्छायां, व्याप्तिज्ञानविषयकप्रयत्नेऽतिव्याप्तिः; तत्र तत्र व्याप्तिज्ञानस्य विषयविधया कारणत्वात् । किञ्च व्याप्तिज्ञानध्वंसेप्यतिव्याप्तिः । ध्वंसं प्रति प्रतियोगिनः कारणतया, व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकतानिरूपितजन्यत्वस्य व्याप्तिज्ञानध्वसेऽपि गतत्वात् । जनकताया व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्नत्वदाने च अनुव्यवसाये,

जिज्ञासायां प्रयत्ने च विषयत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपित जन्यतायाः ध्वंसे च प्रतियोगित्वावच्छिन्नजनकतानिरूपिताया एव सत्त्वेन व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन्न-जनकतानिरूपितजन्यतायाः अभावात् नातिव्याप्तिः ।

अनुमानलक्षणलक्ष्यमाह विशेषतः—

अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम् ।

हेतौ या साध्यनिरूपिता व्याप्तिः तज्ज्ञानमनुमितौ करणम् । यथा पर्वतो वह्नि-मानित्यत्र महानसे जायमानं "धूमो वह्निव्याप्यः" "धूमव्यापकवह्निसमानाधिकरणो धूमः" इत्याद्याकारकं ज्ञानम् । इदन्तु संस्कारस्य कारणतावच्छेदकसम्बन्धतापक्षे, करणलक्षणे व्यापारवत्त्वनिवेशाभ्युपमे वा । यदि च फलायोगव्यवच्छिन्नकारणस्यैव करणत्वं, संस्कारस्य न कारणतावच्छेदकसम्बन्धत्वं, तदा "व्याप्तिः ज्ञायते स्मर्यते अनेन इति व्याप्तिज्ञानम्" = व्याप्तिविषयकः संस्कारः इत्यर्थः । तथा च व्याप्तिसंस्कार एव करणमिति भावः । न चानुपदं "तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः" इत्यस्य वक्तव्यतया नास्य पक्षस्य ग्रन्थकृत्सम्मतत्वमिति वाच्यम् । एतत्पक्षे तत्र सन्निकर्षार्थकव्यापारशब्दप्रयोगेन सन्निकर्षस्थानीयत्वसूचनात्, मध्यवर्त्तिता-सूचकावान्तरपदेन अनुमित्यव्यवधानसूचनात् फलायोगव्यवच्छिन्नत्वस्य व्यक्तीकृतत्वेन प्रकृतार्थस्यैव तेन ग्रन्थेन ज्ञानात् । करणं चेत्यत्र चकारोऽप्यर्थकः, तेन व्याप्यत्वेन ज्ञायमानस्य हेतोरपि अनुमितिकरणत्वं शक्यते वक्तुमिति सूचितम् । न चातीतानागत-हेतोर्जायमानायाः अनुमितेरभावापत्तिः । व्याप्त्यनुभवकरणत्वपक्षे अतिव्यवहितस्या-पि तस्य यथा संस्कारसम्बन्धेन अनुमित्यव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वं सुसम्पादं तथा हेतोरपि अतीतानागतादेः तेन सम्बन्धेन अनुमित्यव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वस्य सुसम्पादत्वात् । तार्किकमते परामर्शे अतीतादिहेतुजन्यत्वासम्भवेन तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्व-रूपस्य व्यापरत्वस्यैवानपेक्षणात् । सत्यामपि वा व्यापारापेक्षायां संस्कारस्यैव तथा-त्वेन तत्रातीतानागतहेतुजन्यत्वस्यापि सम्भवादित्यभिनवा दिक् ।

ननु अतिपूर्वध्वस्तस्य व्याप्तिज्ञानस्य अनुमित्यव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वाभावात्-कारणत्वमप्यसम्भवि, कुतः पुनः करणत्वमितिशङ्कानिरासाय प्रोक्तव्याप्तिज्ञान-पदार्थं विवृणोति—

तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः ।

तत्संस्कारः = व्याप्तिसंस्कारः । अवान्तरव्यापारः = प्रत्यक्षस्थले अवान्तर-व्यापारो यः सन्निकर्षः तत्स्थानीयः । एतेन फलायोगव्यवच्छिन्नत्वं प्रदर्श्य

असाधारणत्वं ध्वनितम् । इति तु संस्कारकरणत्वपक्षे । संस्कारस्य करणतावच्छेदक-सम्बन्धत्वपक्ष तुपूर्वोक्तशङ्कयैवैतद्ग्रन्थावतारः । एतत्पक्षे अवान्तरव्यापार इत्यस्य, मध्यवर्त्ती-सन्निकर्षः, सम्बन्ध इति पर्यवसितोऽर्थः । तथा च पूर्वध्वस्तस्यापि व्याप्त्य-नुभवस्य तथैवानुमित्यव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वं सुसम्पाद्यं, यथा स्मृतिस्थले विषयानु-भवस्य, स्वर्गादिस्थले च चिरध्वस्तस्य यागादेः इति भावः । करणस्य व्यापार-सापेक्षत्वकल्पे तु व्याप्तिज्ञानं करणं चेत् व्यापारः कः ? इत्याकांक्षायामेवास्य ग्रन्थस्यावतारः । अत्र कस्मिन् पक्षे ग्रन्थकारस्वरस इति विवेच्यमाने संस्कारकरणत्व-पक्षस्यैव ग्रन्थकृत्सम्मतत्वं प्रतिभाति । अन्यथा "तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः" इत्यस्याव्यवहितोत्तरं "न तु तृतीयलिङ्गपरामर्शोनुमितिकरणम्" इत्युक्त्या परामर्शस्यानुमितिकरणत्वखण्डनमनुचितं स्यात् । करणचर्चायाः व्यवहित-त्वात् । तथा च "तृतीयलिङ्गपरामर्शो न व्यापारः' इत्युक्तिर्युक्ता स्यात् । अथवा ' तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः" इत्यतः पूर्वमेव "अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम्" इत्यनन्तरं एतदुल्लेखः संगतः स्यात् ।

ननु तार्किकविशेषमत इव तृतीयलिङ्गपरामर्शस्यैव कुतो नानुमितिकरण-त्वमभ्युपेयते इत्यत आह—

न तु तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितिकरणम् । हेतुत्वासिद्ध्या तत्करण-त्वस्य दूरनिरस्तत्वात् ।

लिङ्गस्य हेतोः परामर्शो ज्ञानम् लिङ्गपरामर्शः । तृतीयस्य तस्यानुमिति करणत्व-मभ्युपगच्छन्ति तार्किकाः । तेषां मते—"महानसं धूमवत्" इति लिङ्गज्ञानं प्रथमं तदनन्तरं धूमवान् पर्वत इति द्वितीयम् । अनन्तरं वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति तृतीयं लिङ्गज्ञानं भवति । तदेव तैर्लिङ्गपरामर्श इत्यभिधीयते । लिङ्गपरामर्शोऽसौ नानुमितिकरणम् इत्यर्थः । तस्य = परामर्शस्य । अनुमितेर्हेतुत्वं अनुमिति-हेतुत्वम्, तस्यासिद्धिः, तया । तत्करणत्वस्य = अनुमितिकरणत्वस्य । दूरनिरस्त-त्वात् = असम्भूतत्वात् । करणत्वस्य कारणत्वघटिततया, यत्र परामर्शे कारणत्व-मेव नास्ति अनुमितिं प्रति, का प्रत्याशा तत्र तत्करणत्वस्य ? व्यापकाभावे व्याप्या-भावस्य स्वभावसिद्धत्वात् । अयं भावः—व्याप्यसत्वे व्यापकसत्वमावश्यकमिति नियमः सर्वानुभवसिद्धः । तथा च यत्राधिकरणे व्याप्यस्य ज्ञानं भवति तत्र

व्यापकज्ञानात्मिका अनुमितिर्जायते । सति चैवं "यत्र वह्निव्याप्यो धूमः" इत्येक स्मरणात्मक ज्ञानम् धूमवान् पर्वतः इत्येवं च द्वितीयं स्मरणत्मक ज्ञानं, अथवा "वह्निव्याप्यो धूम" इति संस्कारोद्बोधः धूमवान् पर्वतः इति प्रत्यक्षं, तत्राऽपि प्रोक्तनियमबलेन अनुमितेरभ्युपगन्तव्यतया व्याप्तिविशिष्ट-वैशिष्टयावगाहिपरामर्श-मन्तरेण अनुमित्युत्पत्त्या व्यतिरेकव्यभिचारान्न तस्य कारणत्वं वक्तुं शक्यमिति । न च प्रोक्तस्थलद्वये कादाचित्के वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति परामर्शस्थले च प्रोक्तनियमबलेनानुमितिः स्वीकर्त्तव्या । तन्निर्वाहाय अनुगतः कञ्चित्कार्यकारण-भावः अङ्गीकर्त्तव्यः. स चासिद्ध इति वाच्यम् । उद्बुद्धव्याप्तिसंस्कारसहकृत-हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारकपक्षविशेष्यकज्ञानत्वेन हेतुत्वस्य वाच्यत्वे क्षत्य भावात् । न च वह्निव्याप्यो धूमः पर्वते इति परामर्शासंग्रहः । इष्टत्वात् । न च वह्निव्याप्यवानिति ज्ञानासंग्रहः । व्याप्तिप्रकारकसंस्कारविशेष्यप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वस्य वक्तव्यत्वात् । वस्तुतस्तु किञ्चिदनुयोगिकसम्बन्धवद्विशेष्यकव्याप्ति-प्रकारकोद्बुद्धसंस्कारत्वेनैव जनकत्वम् । तादृशसम्बन्धवत्त्वं च तादृशसम्बन्धवत्तया ज्ञातत्वम् तथा च नासंग्रहगन्धोऽपि ।

अनुमितेः संस्कारजन्यत्वाङ्गीकारे स्मृतित्वापत्तिरित्याशङ्क्य परिहरति—

न च संस्कारजन्यत्वेनानुमितेः स्मृतित्वापत्तिः, संस्कारमात्र-जन्यत्वस्य स्मृतिप्रागभावजन्यत्वस्य वा स्मृतित्वप्रयोजकतया संस्कार-ध्वंससाधारणसंस्कारजन्यत्वस्य तदप्रयोजकत्वात् ।

संस्कारनिष्ठ निमित्तकारणता-निरूपित कार्यत्वं संस्कारजन्यत्वं, तेन । स्मृतित्वा-पत्तिः = स्मरणत्वप्रसंगः । संस्कारेतरासाधारणकारणाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वं संस्कारमात्रजन्यत्वं विवक्षितम् । अन्यथा स्मृतेरपि स्मृतित्वानापत्तिः । तस्या अपि ईश्वर-तदिच्छादृष्टादिसाधारणकारणजन्यत्वात् । स्मृतेः प्रागभावः स्मृतिप्रागभावः; तज्जन्यत्वस्य । स्मृतित्वप्रयोजकतया = स्मृतित्वव्यवस्थापकतया । संस्कारस्य ध्वंसः संस्कारध्वंसः, तत्साधारणं = तत्रापिवृत्ति, यत्संस्कारजन्यत्वं तस्य । तदप्रयोजकत्वात् = स्मृतित्वाप्रयोजकत्वात् । अयमभिप्रायः—संस्कारजन्यत्वमात्रं न स्मृतिलक्षणम् । तथा सति संस्कारध्वंसस्यापि स्मृतित्वापत्तेः । संस्कारस्य प्रतियोगिविधया तं प्रत्यपि जनकत्वात् । संस्कारत्वावच्छिन्नजनकता-निरूपितजन्यत्वे क्त्या तद्दोषवारणेऽपि, त्वन्मतसिद्धप्रात्यभिज्ञायामतिव्याप्तिः । अतः संस्कारमात्रजन्यत्वं स्मृतित्वमिति वक्तव्यम् । तथा च संस्कारपक्षधर्मताज्ञानाभ्यां-

जायमानायां नन्वनुमितौ नावकाशः स्मृतित्वापादनस्य, तत्र संस्कारमात्रजन्यत्वाभावात् । अथवा–कारणेन न कार्यं भवति, अपि तु सामग्र्या । सामग्र्यां च सर्वत्र स्वप्रागभावस्यापि प्रवेशः । सति चैवं स्मृतिसामग्रीकुक्षिनिक्षिप्तस्य स्मृतिप्रागभावस्य यत् जनकत्वं, तन्निरूपितजन्यत्वस्य स्मृतावेव सत्त्वेन, अनुमितौ तदभावेन न तत्र स्मृतित्वापादावकाशः । तथा च स्मृतिप्रागभावसहकृतसंस्कारजन्यत्वमेव स्मृतित्वं तत्प्रयोजकं वा । अनुमितौ संस्कारजन्यत्वसत्त्वेऽपि स्मृतिप्रागभावसहकृतसंस्कारजन्यत्वाभावेन नापत्त्यवकाश इति । प्रागभावानङ्गीकर्तृमते पक्षस्यैतस्य क्षोदक्षमत्वमित्यस्वरससूचनाय वाकारः ।

ननु यत्र "वह्निव्याप्यो धूमः" इति व्याप्तिस्मरणम्, "धूमवान् पर्वतः" इति च पक्षधर्मताज्ञानम् ततः अनुमितिः, तत्र स्मृत्या संस्कारनाशेन, संस्काराभावेऽपि अनुमित्युत्पादेन, व्यतिरेकव्यभिचारात् कथं संस्कारस्य अनुमितिहेतुत्वम् ? इति शङ्कां निराकरोति—

न च यत्र व्याप्तिस्मरणादनुमितिस्तत्र कथं संस्कारोऽनुमितिहेतुरिति वाच्यम् व्याप्तिस्मृतिस्थलेऽपि तत्संस्कारस्यैवानुमितिहेतुत्वात् । न हि स्मृतेः संस्कारनाशकत्वनियमः, स्मृतिधारादर्शनात् ।

न चेति वाच्यमिति परेणान्वयः । यत्र = यादृशस्थले । व्याप्तेः स्मरणं व्याप्तिस्मरणम्, वह्निव्याप्यो धूम इति स्मरणात्मकं ज्ञानं, तस्मात् पक्षधर्मताज्ञानसहकृतादिति शेषः तत्संस्कारस्यैव = हेतुनिष्ठव्याप्तिसंस्कारस्यैव । संस्कारस्य यन्नाशकत्वं, तस्य नियमः न हीत्यन्वयः। स्मृतिधारादर्शनादिति भावः । अयमाशयः—न संस्कारस्य फलसामान्यनाश्यत्वम्, अपि तु फलविशेषनाश्यत्वम् । अन्यथा तद्विषयकस्मरणोत्तरं पुनः तद्विषयकस्मरणं न स्यात् । प्रथमस्मरणेनैव संस्कारनाशे, कारणाभावेन कार्योत्पादासम्भवात् । सम्भवति च क्रमेण तद्विषयकं नानास्मरणम् । सति चैवं नास्याः शङ्कायाः अवसरो यत्, व्याप्तिस्मरणस्थले तेन संस्कारनाशात् कारणाभावे सर्वानुभवसिद्धा अनुमितिः, कथं स्यात् संस्कारकारणत्ववादिनाम् ? इति । चरमस्मरणस्यैव संस्कारनाशकत्वेन व्याप्तिस्मरणकालेऽपि संस्कारसत्त्वात् ततोऽनुमितेः शक्यसम्पादत्वात् । इदमुपलक्षणम् । सामान्यतः संस्कारत्वस्मृतित्वाभ्यां नाश्यनाशकभावाभ्युपगमेऽपि नानुपपत्तिरनुमितेः । तथा हि—यस्मिन् मते

सामन्यतः तयोः नाश्यनाशकभावः, तस्मिन् मते न संस्कारं प्रति अनुभवत्वेन हेतुता, अपि तु तद्विषयकज्ञानत्वेन। सति चैवं व्याप्तिस्मरणस्य यथा पूर्वसंस्कारनाशकत्वं तथा परसंस्कारजनकत्वमपि । एवञ्चोद्बुद्धतादृशसंस्कारपक्षधर्मताज्ञानाभ्यां क्षणविलम्बेन अनुमित्युत्पादस्य सम्भवात् । न च क्षणविलम्बकल्पनागौरवमिति वाच्यम्। तादृशस्थले परामर्शकारणत्ववादिभिरपि क्षणविलम्बस्यागत्या कल्पनीयतया तादृशगौरवस्यापोद्यत्वात्। न च संस्कारकरणत्वपक्षे एतस्य सुवचत्वेऽपि व्याप्त्यनुभवस्य करणत्वपक्षे न तथेति वाच्यम्। स्वजन्यवृत्त्यैतद्विषयकसंस्कारत्वावच्छिन्नस्य कारणतावच्छेदकसंसर्गतोपगमात् । करणत्वस्य व्यापारघटितत्वपक्षे तु नेयं गतिरिति।

अनुद्बुद्धव्याप्यसंस्कारपक्षधर्मत्वाभ्यां अनुमितिमाशङ्क्य निवारयति—

न चानुद्बुद्धसंस्कारादप्यनुमितिः, तदुद्बोधस्यापि सहकारित्वात् ।

अनुमित्यापत्तिर्न चेत्येवं सम्बन्धः। उद्बोधं प्राप्तः उद्बुद्धः, न उद्बुद्धः अनुद्बुद्धः तादृशो यः संस्कारः तस्मात्। संस्कारे उद्बोधः स्मृतिजनकतावच्छेदकः शक्तिविशेषः, सहकारित्वात्, जनकतावच्छेदकत्वात्। अन्यथा भिन्नयोरेव सहकार्यभावादसङ्गत्यापत्तेः। **अयमाशयः—न खलु संस्कारमात्रस्य अनुमितिकारणत्वमुच्यते येनानुद्बुद्धसंस्कारादापादिता भवेदनुमितिः अपि तु उद्बुद्धसंस्कारस्य। तादृशसंस्कारपक्षधर्मताज्ञानयोः सत्त्वे त्वनुमितिरिष्टैव इति ।**

फलितार्थमुपसंहरति—

एवं च धूमवान् पर्वत इति पक्षधर्मताज्ञाने धूमो वह्निव्याप्य इत्यनुभवाहितसंस्कारोद्बोधे च सति वह्निमानयमित्यनुमितिर्भवति । न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणं, तज्जन्यं वह्निव्याप्यधूमवानयमित्यादिविशिष्टज्ञानं वा हेतुत्वेन कल्पनीयम् । गौरवात् मानाभावाच्च ।

एवं च = व्याप्तिस्मरणतृतीयलिङ्गपरामर्शयोः कारणत्वे खण्डिते च "धूमो वह्निव्याप्यः" इति योऽनुभवः, तेन आहितः = उत्पादितो यः संस्कारः, तस्य उद्बोधे। न तु कल्पनीयमिति सम्बन्धः । मध्ये संस्कारानुमित्योः = अनुभवानुमित्योर्रिति शेषः। **अयं भावः—तद्विना कार्यानुत्पत्तिरेव कस्यापि कारणत्वाभ्युपगमे**

भवति मानम्। प्रकृते व्याप्तिस्मरणतृतीयलिङ्गपरामर्शयोः कारणत्वमनङ्गीकृत्यापि यदशक्यत एव सम्पादयितुमनुमितिः, तर्हि किं प्रयोजनं तयोः कारणत्वाभ्युपगमस्य गौरवदोषदूषितस्य ? इति।

ननु वह्निमानयमित्यनुमितिर्भवितुमर्हतीति प्रतिपादितं भवता, तत्रायमित्यनेन, ध्रुवं पक्षोऽभिप्रेतः, तथा च पर्वतो वह्निमान् इत्याद्यनुमितिर्भवतीति तदर्थः फलितः। तत्रेदं तावद्वक्तव्यम् यत्, "पर्वतः, वह्निमान्" इत्येकैव वृत्तिः द्वे वा ते ? वृत्तेरेकतायां तदनन्तरं जायमानस्य "पर्वतं पश्यामि" इत्यनुभवस्य विरोधः। वृत्त्यनैक्ये "वह्निमानयमित्यनुमितिर्भवतीति भवदुक्तिरयुक्ता इत्याशंकां परिजिहीर्षुराह—

तच्च व्याप्तिज्ञानं वह्निविषयकज्ञानांश एव कारणम् न तु पर्वतविषयकत्वांशे, इति पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञानस्य वह्न्यंश एवानुमितित्वं न पर्वतांशे।

व्याप्तिज्ञानम् = व्याप्तिविषयकानुभवः। ज्ञानस्यांशो ज्ञानांशः वह्निविषयको यो ज्ञानांशः तस्मिन्। न तु पर्वतांशे = न तु पर्वतविषयकज्ञानांशे। इतिशब्दो हेतुवाची। अयं भावः—पर्वतो वह्निमान् इति नैका वृत्तिः, अपितु वृत्तिद्वयी। तत्र पर्वत इति प्रत्यक्षात्मिका वृत्तिः, वह्निमान् इत्यनुमित्यात्मिका। कुत एवमिति चेत् ? यतः कारणीभूतव्याप्तिज्ञानस्य न पर्वतवृत्तिजननसामर्थ्यं तत्र। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यावगतिसम्पन्नव्याप्तिज्ञाने पर्वतस्यात्यन्तमनुल्लेखात्। तथा चानुमितित्वप्रयोजकीभूतव्याप्तिज्ञानजन्यत्वस्याभावात् न "पर्वतः" इति वृत्तौ अनुमितित्वसम्भवः। एवं च न पर्वतं पश्यामीत्यनुभवविरोधः इति। न च वह्निमानयमित्यनुमितिर्भवतीति प्रतिपादनविरोधः, वह्निमान् इत्यंशस्यैववानुमितित्वाभिप्रायेण तथोक्तः। वृत्तिद्वयावच्छिन्नचैतन्यस्यैक्यात् वृत्तिद्वये एकज्ञानत्वमुपगम्य तत्रानुमित्यैक्यादिव्यवहार इति सरलार्थः। एतेन ज्ञानस्य निरंशतया "ज्ञानांशे" त्युक्त्ययुक्तिः इत्यपि निरस्तम्। वृत्तिद्वये एकस्मिन् ज्ञानत्वे अभ्युपेते एकैकस्याः तस्या अंशत्वव्यवहारस्य सादृश्यसिद्धत्वात्। न च सर्वत्र वृत्तिद्वयानियमापत्तिः, कार्यस्य सामग्रीनियम्यत्वात्।

ननु पर्वतवृत्तावनुमितित्वानभ्युपगमे तत्र किमनुभवत्वम् ? इत्यत आह—

तदंशे प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात् ।

तदंशे = पर्वतांशे । इन्द्रियप्रणालिकया अन्तःकरणस्य पर्वताकारधारणात् अन्तःकरणवृत्तिपर्वतयोः एकदेशस्थतया तदुभयावच्छिन्नचैतन्याभेदात् विषयभूत-घटस्य प्रत्यक्षत्वमिति पूर्वमेवोक्तमिति भावः ।

ननु व्याप्तिज्ञानमनुमितिं प्रति करणमिति प्रतिपादितम्, तत्र का नाम व्याप्तिः ? इत्याकाङ्क्षायामाह—

व्याप्तिश्चाशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा ।

अशेषत्वं साधनाश्रये विवक्षितम् । साधनं = हेतुः । तथा च अशेषो यः साधनस्य = हेतोराश्रयः तदाश्रितं यत् साध्यं, तत्समानाधिकरण्यं हेतौ व्याप्तिः । प्रपञ्चो मिथ्यादृश्यत्वात् इति सद्धेतुस्थले साधनं दृश्यत्वम्, तस्याशेषाश्रयः प्रातिभासिकव्यावहारिकादिः, तदाश्रितं साध्यं = मिथ्यात्वं, तदधिकरणे यावति व्यावहारिकप्रातिभासिकपदार्थे दृश्यत्वहेतोर्वृत्तितया मिथ्यात्व-सामानाधिकरण्यस्य दृश्यत्वहेतौ सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः । सर्वमिथ्या–सत्त्वात् इत्यत्रा साधनस्य सत्त्वस्याशेषाधिकरणान्तःपाति ब्रह्मापि, तदाश्रितं साध्यं न मिथ्यात्व, ब्रह्मणः सत्यत्वात् । तथा चाशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्या प्रसिद्ध्या, तत्सामानधिकरण्यस्याप्यप्रसिद्ध्या हेतौ तदभावान्नातिव्याप्तिः । अव्याप्त्यभावे तु असम्भवस्य सुतरां नावकाशः, इति अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवात्मकदूषणत्रय-शून्यतया लक्षणस्यादुष्टत्वमिति । साधनाश्रये अशेषत्वानुक्तौ सर्वं मिथ्या सत्त्वात् इत्यत्रातिव्याप्तिः सत्त्वाधिकरणव्यावहारिकप्रातिभासिकान्यतराश्रितमिथ्यात्व-सामानाधिकरण्यस्य सत्त्वहेतौ गतत्वात् । एवमेव पर्वतो वह्निमान्धूमात् इत्यादावपि लक्षणसमन्वयादिकं बोध्यम् । साधनाश्रयत्वसाधननिष्ठनिरूपकतानिरूपिताधिक-रणत्वम् । तत्र निरूपकता साधनतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना ग्राह्या । अन्यथा स्वाधिष्ठानत्व-स्वपरिणाम्यधिष्ठानत्वादिसम्बन्धेन दृश्यत्वहेतोर्ब्रह्मण्यपि सत्त्वेन साधनाश्रयब्रह्माश्रितत्वस्य मिथ्यात्वसाध्येऽभावात् अव्याप्तिः स्यात् । तदुक्तौ च स्वरूपेण सम्बन्धेन दृश्यत्वस्य ब्रह्मभिन्ने एव पदार्थे सत्त्वेन तत्र मिथ्यात्वस्य साध्यस्याश्रितत्वेन अव्याप्त्यभावात् । आश्रितत्वं वृत्तित्वम् तच्च साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्नं ग्राह्यम् । अन्यथा सर्वं मिथ्या सत्त्वात् इत्यत्र साधनाश्रयब्रह्मणि

स्वाध्यस्ताश्रितत्वसम्बन्धेन साध्यस्य मिथ्यात्वस्याश्रिततया अतिव्याप्त्यापत्तेः । तदुक्तौ च स्वरूपसम्बन्धेन ब्रह्मणि मिथ्यात्वसाध्यस्यानाश्रितत्वेन अतिव्याप्त्ययोगः । एवमेव साध्यसामानाधिकरण्यमित्यत्र साध्यनिष्ठं निरूपकत्व साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नं साधननिष्ठ वृत्तित्वं च साधनतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न बोध्यम् । अन्यथा प्रोक्ताव्याप्त्यतिव्याप्त्योः तादवस्थ्यापत्तेः । साधनाश्रितेत्यत्र साधनपदं साधनतावच्छेदकत्वावच्छिन्नपर बोध्यम् । अन्यथा "घटो ब्रह्मज्ञान बाध्यः पारमार्थिकप्रातिभासिकान्यत्वविशिष्टसत्वात् इत्यत्राव्याप्त्यापत्तेः । विशिष्टः शुद्धान्नातिरिच्यते" इति नियमेन सत्त्वात्मकसाधनाधिकरणे ब्रह्मणि ब्रह्मज्ञान-बाध्यत्वस्यानाश्रितत्वात् । साधने साधनतावच्छेदकावच्छिन्नत्वनिवेशे तु विशिष्ट शुद्धधर्मावच्छिन्नाश्रयत्वयोर्भेदात् साधनाधिकरणपदेन व्यावहारिकस्यैव 'धर्त्तु' शक्यतया तत्र साध्यस्याप्याश्रितत्वेनादोषात् । विशिष्टशुद्धयोरभेदानभ्युपगमे तु यथाश्रुतमेव सम्यक् । साध्यपदं साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नपर बोध्यम् । अन्यथा पर्वतो वह्निमान्धूमादितिनानाव्यक्तिसाध्यहेतुकसद्धेतुस्थले तत्तद्धूमात्मकसाधने तत्तद्वह्निसामानाधिकरण्यस्यानुगततया अनुगतव्याप्त्यलाभप्रसङ्गात् । नन्वेवमपि सामानाधिकरण्यस्य तदाधिकरणवृत्तित्वरूपतया तस्य च वृत्तिभेदाद्भिन्नतया व्याप्तिरैक्याभाव इति चेत्, तादृशसाध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदकहेतुतावच्छेदक स्यैव व्याप्तित्वाभ्युपगमात् । एतेन अशेषधूमाश्रयाश्रितवह्निसामानाधिकरण्यस्य पर्वतवृत्तिरासभादिसाधारणतया "वह्निव्याप्यो रासभः" इति व्याप्तिज्ञानाहित-संस्कारसहितात् रासभवान् पर्वत इति ज्ञानादभ्रान्तस्याप्यनुमित्यापत्तिरिति-निरस्तमिति दिक् ।

ननु व्याप्त्यनुभवं विना यदि नानुमितिरुत्पादाहि तदाव्याप्त्यनुभवोपायो वक्तव्यः इत्यत आह—

सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते ।

व्याप्तिः गृह्यते इत्यन्वयः । व्यभिचारस्यादर्शनं व्यभिचारादर्शनम् तस्मिन् सति । व्यभिचारः साध्यवदन्यवृत्तित्वम् । तस्य अदर्शनं दर्शनाभावः, ज्ञानाभाव इति फलितोऽर्थः । सहचरणं सहचारः सामानाधिकरण्यमिति यावत् । तस्य दर्शनं ज्ञानम् । तथा च साध्यवदन्यवृत्तित्वज्ञानाभावसहितसाध्यवद्वृत्तित्वज्ञानम् व्याप्तिज्ञापकमिति फलितोऽर्थः ।

ननु सहचारदर्शने भूयस्त्वं व्याप्तिज्ञानाय समपेक्षितं न वेति जिज्ञासायामाह—

तच्च सहचारदर्शनं भूयोदर्शनं सकृद्दर्शनं वेति विशेषो नादरणीयः । सहचारदर्शनत्वस्यैव प्रयोजकत्वात् ।

तत् = व्यभिचारादर्शनसहितम् । सहचारदर्शने भूयस्त्व = अनेकत्वम् । सकृत्-एकम् । विशेषो नादरणीयः = वैलक्षण्यं नादरणीयम् । सहचारदर्शनत्व-स्य = व्यभिचारादर्शनसहकृतसहचारदर्शनत्वस्य । प्रयोजकत्वात् = व्याप्त्यनु-भवोपायताप्रयोजकत्वात् । **अयं भावः—भूयोदर्शनात्मकादेव सहचारदर्शनात् व्याप्ति-निश्चयः सम्भवतीति न नियमः पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोः शतशः सहचारदर्शनेऽपि एकत्र हीरके व्यभिचारदर्शनेन व्याप्त्यनिश्चयात् । अतः व्यभिचारज्ञानं न चेत्, सकृत्सहचारदर्शनादपि सम्भवितुमर्हति व्याप्तिनिश्चयः । सत्येवं व्यभिचारज्ञान विगमस्थले यदि भूयः सहचारदर्शनं, तर्हि तत्र व्याप्तिनिश्चयो दण्डापूपायित एव ।**

ननु तार्किकैरिव केवलान्वयि-केवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदेन लिङ्गस्य त्रैविध्यमुपेयते न वा ? अभ्युपेयते चेत् हेतुगतस्य केवलान्वयिसाध्यकत्वरूपस्य केवलान्वयित्वस्य, साध्यगतकेवलान्वयित्वाधीनतया, तस्य चात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व-रूपतया, अत्यन्ताभावाप्रतियोगिनो वाच्यत्वज्ञेयत्वादेरभ्युपगमे तमादाय द्वैतापत्तिः । प्रोक्तव्याप्तेः पृथिवीतरभेदसाधकगन्धवत्त्वादिहेतावसिद्ध्या अव्या-प्त्यापत्तिश्च । नाभ्युपेयते चेत् लक्षणस्येतरभेदानुमापकत्वासिद्ध्या लक्षणसामान्या-सिद्धिरिति व्याप्त्यादिलक्षणमप्यसिद्धम्-अत आह—

तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव न तु केवलान्वयि ।

तत् = अनुमितिकरणभूतम् । अनुमानं = व्याप्त्यनुभवः तत्संस्कारो वा । अन्वयो = निरुक्तान्वयव्याप्तिः अस्ति अस्मिन् हेतौ इति अन्वयी हेतुः । तेन अन्वयिना विषयभूतेन रूप्यते = परिचीयते इति अन्वयिरूपम् । तथा च निरुक्तान्वयव्याप्तिविशिष्टहेतुविषयकम् इत्यर्थः । एकमेव = एकविधमेव । केवलान्वयः = अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा व्याप्तिः अस्ति अस्मिन् हेतौ, असौ केवलान्वयी हेतुः, असौ विषयतया यस्य ज्ञानस्य, तत् व्याप्ति-ज्ञानं केवलान्वयि, तत् न तु अभ्युपेयते इति शेषः । इदन्तु एवकारार्थस्यैव विवरण-

भूतम्। अयं भावः— हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यरूपां व्याप्तिं वह्निमान् धूमात् घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् इत्युभयस्थलसाधारणीं वदन्ति यद्यपि तार्किकाः तथापि—घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादित्यादिस्थलीयलक्षणे अभावे हेतुसामानाधिकरण्यनिवेशस्यानावश्यकतया, अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यमिति लक्षणद्वये निगूढाशयस्तेषाम्। तथा च तेषां मते अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरयम् केवलान्वयव्याप्तिः। हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावा प्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यम् अन्वयव्यतिरेकव्याप्तिः। सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वं केवलव्यतिरेकव्याप्तिः इति व्यप्तित्रयी, इति तद्विषयकस्य व्याप्तिज्ञानस्यापि त्रैविध्यम्, व्याप्तिविशिष्टहेतोरपि च त्रैविध्यं स्वाभाविकम्। अस्मन्मते तु हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यापरपर्याया अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपैव व्याप्तिरूपेयते, इति तादृशव्याप्तिज्ञानरूपमनुमानमप्येकमेव, तादृशव्याप्तिविशिष्टलिङ्गमप्येकविधमेव न त्रिविधमित्यभिनवः पन्थाः

यद्वा—तच्च व्याप्तिज्ञानमित्यत्राप्यर्थकचकारसूचितहेतोः अनुमानपक्षत्वस्वीकाराभिप्रायेणोक्तं तच्चानुमानेत्यादि। तथा च "अन्वयि" इत्यस्य अन्वयिलिङ्गमित्यर्थः। न तु केवलान्वथीत्यस्य न तु केवलान्वयिलिङ्गमित्यर्थः। लिङ्गे केवलान्वयित्वमत्यतन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वम्।

ननु कुतो न व्यप्तेः तज्ज्ञानस्य, व्याप्तिविशिष्टलिङ्गस्य वा त्रैविध्यमित्यत आह—

सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनात्यन्ताभावाप्रतियोगिकत्वरूपकेवलान्वयित्वासिद्धेः।

अपिकारः एवार्थकः। प्रमेयत्वादिसंग्रहसूचनाय सर्वपदम्। धर्मस्य = धर्मत्वेनाभिमतस्य। ब्रह्मणि निष्ठा वृत्तिर्यस्य, तादृशो यः अत्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगित्वेन। अत्यन्ताभावस्याप्रतियोगि = प्रतियोगिभिन्नं यत् साध्यं तत्कत्वम् = तत्सामानाधिकरण्यम्। तद्रूपस्य = केवलान्वयित्वस्य या अप्रसिद्धिः, ततः। तद्रूपत्वं = तदात्मकत्वम्। तद्विषयकत्वं वा। आद्यस्य लिङ्गे द्वितीयस्य व्याप्तिज्ञाने सम्भवः। अयं भावः—अस्मन्मते केवलब्रह्मण एव परमार्थसत्तया तदतिरिक्तस्य सर्वस्यैव तस्मिन् ब्रह्मण्यभावसत्वात् साध्यत्वे नाभिप्रेते प्रमेयत्वादावपि प्रतियोगित्व-

स्यव सत्त्वात् निरुक्ताप्रतियोगिसाध्याप्रसिद्ध्या तादृशसाध्यकत्वरूपस्य केवलान्वयित्वस्याप्रसिद्धिरिति न केवलान्वय्यनुमानकेवलान्वयिलिङ्गाभ्युपगमसम्भवः । न वा द्वैतापत्तिः, निरुक्ताप्रतियोगिभूतपदार्थाप्रसिद्धेः इति ।

नन्वेवमप्यनुमानलिङ्गद्वैविध्यं निराबाधमिति कथमेकविधत्वोक्तिसङ्गतिः इत्याकाङ्क्षायामाह—

नाप्यनुमानस्य व्यतिरेकिरूपत्वं, साध्याभावे साधनाभावनिरूपितव्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात् ।

अनुमानस्य = व्याप्तिज्ञानस्य लिङ्गस्य वा, अयं भावः—व्यभिचारादर्शनसहकृतेन सहचारदर्शनेन व्याप्तिज्ञानं भवतीति पूर्वमेव सिद्धम् । व्यतिरेकसहचारज्ञानं च "यत्र यत्रासाध्याभावः तत्र तत्र हेत्वभावः" इत्यात्मकमेव सर्ववादिसिद्धम् । एतेन च सहचारज्ञानेन साध्याभावनिष्ठायाः हेत्वभावनिरूपितायाः अन्वयव्याप्तेरेव ज्ञानं भवति भवितुमर्हति वा । सैव च व्याप्तिर्यदि साध्याभावात्मकव्यतिरेकनिष्ठत्वेन व्यतिरेकव्याप्तिरित्युच्यते तर्हि—नाममात्राधिक्यं न तु वस्तुवैचित्र्यम् । साध्याभावनिष्ठायाः तस्याः व्याप्तेः प्रकृतहेत्वनिष्ठत्वेन हेतौ ज्ञानात्मकस्यानुमानस्य वा व्यतिरेकित्वासम्भवः । स्वाश्रयव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन हेतौ तस्याः नयनेऽपि परम्परात्मतादृशसम्बन्धेन साध्याभावनिष्ठायाः अन्वयव्याप्तेरेव तत्र गतत्वेन अन्वययोगादन्वयित्वमेव तस्य वक्तुमुचितम् । सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वरूपा चेल्लिङ्गनिष्ठा व्यतिरेकव्याप्तिः, न तस्याः प्रोक्तव्यतिरेकसहचारदर्शनेन ज्ञानसम्भवः । साध्याभावनिष्ठान्वयव्याप्तेरेव ततो ग्रहस्यानुभवसिद्धत्वात् इति ।

व्यतिरेकव्याप्त्यनङ्गीकारे अनुपपत्तिमाशङ्कते—

कथं तर्हि धूमादावन्वयव्याप्तिमविदुषोऽपि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानादनुमितिः ?

तर्हि अनुमितिः कथमित्यन्वयः । तर्हि = व्यतिरेकव्याप्तितदनुमानानङ्गीकारे । धूमादावित्यत्र आदिना आलोकादिपरिग्रहः । अन्वयव्याप्तिं = यावद्धूमाश्रयाश्रितवह्निसामानाधिकरण्यरूपाम् । अविदुषोऽपि = अजानतः अपि ।

व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानात् = वह्न्यभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगी धूम इति ज्ञानात्। अयं भावः—केषांचित् "यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः" इत्यन्वयसहचारज्ञानाधीना "शेषधूमाश्रयाश्रितवह्निसमानाधिकरणो धूम" इति व्याप्त्यनुभवादनुमितिर्भवति। केषांचिच्च "यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभाव" इति व्यतिरेकसहचारज्ञानाधीन "वह्न्यभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगी धूम" इति ज्ञानात् पर्वतो वह्निमान् इत्यनुमितिर्जायते इति सर्वानुभवसिद्धम्। इदानीं यदि व्यतिरेकव्याप्तिरेव नाभ्युपेयते, तदाऽन्वयव्याप्तिम गृह्णतां जनानां या वह्निमान् इत्यनुमितिर्भवति सा कथं सम्पद्येत ? इति।

यस्य ज्ञानस्यानुपपत्तिरापाद्यते न तदनुमितिरूपम्। अपि तु तदर्थापत्तिरूपम्। अर्थापत्तिरेव प्रमाणं, तस्मात्। अन्वयव्याप्तिमविदुषः पर्वतो वह्निमानितिज्ञानमुत्पद्यत इतीति पूर्वं योज्यम्। वक्ष्याम इत्यनन्तरं अर्थापत्तिपरिच्छेदे इति शेषः। अयमाशयः—व्यतिरेकव्याप्त्यस्वीकारे युक्तिरुक्तैव। अन्वयव्याप्तिमविदुषस्तु यत् पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमुत्पद्यते, तत्तु नानुमानप्रमाणात्, अपि तु अर्थापत्तिप्रमाणात्। अतो न तत्सम्पादनाय व्यतिरेकव्याप्तेः तज्ज्ञानरूपस्य वानुमानस्य स्वीकरणावश्यकता। न चेदमाशङ्क्यं यत् तर्हि पर्वतो वह्निमानित्याद्यनुमितेः। अर्थापत्तिप्रमाणादेव सम्पादसम्भवेऽन्वयव्याप्तितज्ज्ञानरूपानुमानस्वीकारोऽपि—निष्प्रयोजनः इति। अनुपपत्तिज्ञानानधीन—पर्वतोवह्निमानिति ज्ञानसम्पादनाय "व्यावहारिको ब्रह्मज्ञानबाध्यः मायापरिणामत्वात् इत्यादि जन्यजनकभावनापन्नहेतुसाध्यकस्थलीयानुमितिसम्पादनाय तस्य स्वीकरणायत्वात् इति।

व्यतिरेकासिद्धौ तद्घटितान्वयव्यतिरेकित्वासिद्धिरपि लिङ्गस्थदण्डापूपायिता इत्याह—

अत एवानुमानस्य नान्वयव्यतिरेकित्वम्। व्यतिरेकिव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात्।

अत एव = अव्यवहितोरन्तरवक्ष्यमाणाहेतोरेव। अनुमानपदस्य व्याप्तिज्ञानपरत्वं लिङ्गपरत्वं च पूर्ववदवसेयम्। अयम्भावः—लिङ्गे वा अनुमाने वा किं नामान्वयव्यतिरेकित्वम् ? इति प्रश्ने अन्वयित्वे सति व्यतिरेकित्वमिति वक्तव्यम् ? तच्चान्वयव्याप्तिविशिष्टत्वे सति व्यतिरेकव्याप्तिविष्टस्वरूपमेव वक्तव्यम्

तदसिद्धम्, व्यतिरेकव्याप्तेरेव खण्डितत्वात् इति । **किञ्चेदमपरमत्रावधेयम् यत्रान्वयव्यतिरेकसहचारज्ञानाभ्यां व्याप्तिज्ञानं ततोऽनुमितिः, तत्रानुमानस्यान्वयव्यतिरेकित्वमुपेयं तार्किकैः, तत्रेदं प्रष्टव्यम्**—किमुभाभ्यां सहचारज्ञानाभ्यां एकं व्याप्तिज्ञानं जननीयं द्वे वा ? नैकमिति वक्तुमर्हम् तथाविधव्याप्तिज्ञानं प्रति कस्यापि सहचारज्ञानास्यासामर्थ्यात् । अभ्युपगते वा सामर्थ्येऽन्यतरवैयर्थ्यापातात् । नापि द्वे व्याप्तिज्ञाने इति । तथा सति एकविधसहचारज्ञानानन्तरं तज्जन्यव्याप्तिज्ञानं, ततोऽपरसहचारज्ञानं, ततस्तज्जन्यापरव्याप्तिज्ञानं, तत एक विधानुमितिरिति वक्तव्यम् । न तत्समञ्जसम्, ज्ञानक्षणिकत्ववादिनां नैयायिकानां मते परवर्त्तिव्याप्तिज्ञानकाले पूर्ववर्त्तिज्ञाननाशात् अनुमितेस्तज्जन्यत्वानुपपत्तिः । अपेक्षाबुद्धिन्यायेन तदा तत्स्थितावपि नौचित्यम् । अनुमितिसमर्थव्याप्तिज्ञानकालक्षेपायोगात् । प्रथमव्याप्तिज्ञानाव्यवहितोत्तरकाल एवानुमित्युत्पत्त्या अपरसहचारज्ञानस्यानुमितिपश्चाद्भावित्वापातात् । न चेदं वक्तव्यं यत् परामर्शकारणत्ववादिनां तेषां मते तदानी तदभावान्नानुमितिरिति । तथापि परामर्शोत्पादप्रसङ्गस्यापरव्याप्तिज्ञानक्षणेऽपरसहचारज्ञानात्पूर्वमेवानुमित्युत्पादप्रसंगस्यानिराकरणीयत्वादिति व्यतिरेकव्याप्त्यादिस्वीकारपक्षेऽपि न सम्भवस्त्वदुक्तान्वयव्यतिरेक्यनुमितितदनुमान-तल्लिङ्गानामिति का प्रत्याशा व्यतिरेकव्याप्त्याद्यस्वीकारे इति ।

प्रोक्तमनुमानं प्रकारान्तरेण विभजते—

तच्चानुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम् ।

तच्चेत्यत्र चकारः एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च । तद् अनुमानं स्वार्थपरार्थभेदेनैव द्विविधम्, न तु अन्वयव्यतिरेकिभेदेन इत्यर्थः। यद्वा त्वर्थकोऽसौ । तथा च अन्वयित्वेन एकमपि तदनुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन तु भवति द्विविधम् इत्यर्थ. । स्वेन अर्थ्यते इति स्वार्थः, स्वार्थभूतं अनुमानं स्वार्थानुमानम् । एवं परेण अर्थ्यते इति परार्थः, परार्थभूतमनुमानं परार्थानुमानम् । फलतः परवाञ्छितमनुमानं परार्थानुमानम् । परार्थानुमितिस्थले परानुमितिजननक्षमं व्याप्तिज्ञानं वाञ्छन् परो न्यायप्रयोगं करोतीति सर्वानुभवसिद्धम् ।

वृत्तं स्मारयन् स्वार्थं बोधयति—

तत्र स्वार्थं तूक्तमेव ।

तत्र = स्वार्थानुमानपरार्थानुमानयोर्मध्ये। उक्तमेव "एवं चायं धूमवानितिपक्षधर्मताज्ञाने धूमो वह्निव्याप्य इत्यनुभवाऽऽहितसंस्कारसमुद्बोधे च सति वह्निमानयमित्यनुमितिर्भवती" ति ग्रन्थेनेत्यर्थः। **अयं भावः**—या परोक्तप्रतिज्ञादिन्यायोपदेशमन्तरैव महानसगृहीतवह्निव्याप्त्यनुभवस्येद्बुद्धसंस्कारधूमवान् पर्वत इति पक्षधर्मताज्ञानाभ्यां भवत्यनुमितिः, सा स्वार्थानुमितिः, तत्करणभूतो व्याप्त्यनुभवः तदुत्थसंस्कारो वा स्वार्थानुमानमिति।

परार्थं लक्षणमुखेन बोधयति—

परार्थं तु न्यायसाध्यम्।

परार्थं = परार्थानुमानम्। न्यायेन साध्यते इति न्यायसाध्यम्। साध्यत्वञ्चात्र प्रयोज्यत्वरूपं बोध्यम् न तु जन्यत्वम्, प्रत्येकावयवार्थबोधानन्तरं व्याप्तिज्ञानस्य जायमानतया अवयवसमुदायरूपस्य न्यायवाक्यस्य व्याप्तिज्ञानं प्रति स्वार्थबोधव्यवहिततया जनकत्वाभावात्। **तथा च न्यायवाक्यनिष्ठप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्यतावदनुमानं परार्थानुमानम्।** ननु न्यायस्यावयवसमुदायरूपतया अनुपदं वक्ष्यमाणतया पक्षे साध्यवैशिष्ट्यबोधकप्रतिज्ञावाक्यघटितन्यायवाक्यजबोधत्वस्यैवानुमितित्वेनाभिप्रेतज्ञाने स्वीकारसम्भवेन तत्करणभूतस्य परार्थानुमानस्यासिद्धिरिति चेन्न। प्रतिज्ञादितत्तद्वाक्यार्थबोधानन्तरं व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानाभ्यां जायमानाया अनुमितेः अनुमिनोमीति साक्षिकायाः अपलपितुमशक्यत्वात्। न च व्याप्तिज्ञानस्यानुमानतया तस्य च केवलोदाहरणवाक्यसाध्यतया अनुमानस्य अवयवसमुदायात्मकन्याय-साध्यत्वाभिधानस्यासङ्गततया लक्षणासङ्गतिरिति वाच्यम्। अनुमानत्वघटकस्य जनकत्वस्य फलोपधानरूपस्य विवक्षितत्वात् पक्षधर्मताज्ञानसहितस्यैव च व्याप्तिज्ञानस्य तथाविधत्वसम्भवेन केवलोदाहरणासाध्यत्वात्। एतेन ननु न्यायवाक्याद् वाक्यार्थबोधो गृहीताग्निधूमानां जनानां भविष्यति, अन्येषां वा ? नान्येषाम्, अनुपस्थित्या असम्भवात्। गृहीताग्निधूमानां तु पूर्वमेव व्याप्तेर्महानसे गृहीततया तत्संस्कारस्य परवर्त्तिकाले स्वत एव सत्त्वेन व्याप्तिज्ञानात्मकानुमाने न्यायप्रयोज्यत्वाभावाल्लक्षणमिदमसम्भवदुक्तिकमित्यपि निरस्तम्। संस्कारोद्बोधपक्षधर्मताज्ञानार्थं न्यायस्यापेक्षणीयत्वात्।

न्यायज्ञानं विना न्यायप्रयोज्यत्वज्ञानमशक्यमिति न्यायं प्रतिपादयति—

न्यायो नामावयवसमुदायः।

समुदिता अवयवा न्याय इत्यर्थः। समुदितत्वं च विलक्षणाव्यवहितपूर्वापरीभावापन्नत्वम्। तथा च प्रतिज्ञावाक्याव्यवहितोत्तरहेतुवाक्याव्यवहितोत्तरोदाहरणवाक्यत्वम्, उदाहरणवाक्याव्यवहितपूर्वहेतुवाक्याव्यवहितपूर्वप्रतिज्ञावाक्यत्वम्, उदाहरणवाक्याव्यवहितोत्तरोपनयवाक्यावहितोत्तरनिगमनवाक्यत्वम्, निगमनवाक्याव्यवहितपूर्वोपनयवाक्याव्यवहितपूर्वोदाहरणवाक्यत्वं वा न्यायात्वमित्यर्थः। अव्यवहितोत्तरत्वादिकं तु तेन रूपेण ज्ञायमानत्वं न तु तथात्वेनोत्पन्नत्वम्। अव्यवहितोत्पत्तावपि व्यवहितत्वज्ञानवतः अनुमित्यनुत्पादात्। व्यवहितोत्पत्तावपि चाव्यवहितत्वज्ञानवतस्तदुत्पादात्।

ननु कति तावदवयवाः के च ते? इत्याकांक्षायामाह—

अवयवाश्च त्रय एव। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः। उदाहरणोपनयनिगमनरूपा वा।

एवकारः अन्यव्यवच्छेदार्थः। तेन दशावयव-पञ्चावयव-वादानभ्युपगः। प्रतिज्ञा हेतुःउदाहरणमिति त्रयः, उदाहरणं उपनयः निगमनम् इति त्रयो वा इत्यर्थः। तथा च पर्वतो वह्निमान् (१) धूमवत्वात् (२) यो यो धूमवान् स स वह्निमान् (३) यथा महानसम् इति वाक्यत्रयाभिन्नावयवत्रयात्मकन्यायज्ञानाधीनपक्षधर्मताज्ञानोद्बुद्धसाध्यव्याप्यहेतुसंस्काराभ्यां पर्वतो वह्निमानित्यनुमितिर्भवति। **यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसं तथा चायं तस्मात्तथेति वाक्यत्रयाभिन्नावयवत्रयात्मकन्यायाधीनपक्षधर्मताज्ञानोद्बुद्धतादृशसंस्काराभ्यां वाऽनुमितिर्भवतीति भावः।**

स्पष्टं पञ्चावयववादमपाकुर्वन् तत्र हेतुमुपन्यस्यति...

न तु पञ्चावयवाः। अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरुपदर्शनसम्भवेनावयवद्वयस्य व्यर्थत्वात्।

व्याप्तिश्च पक्षधर्मता चेति व्याप्तिपक्षधर्मते, तयोः उपदर्शनं ख्यापनम्, तस्य सम्भवः सम्भवनम् तेन। अवयवद्वयस्य = उपनयनिगमनरूपस्य प्रतिज्ञाहेतुरूपस्य वा। व्यर्थत्वात् = निष्प्रयोजनत्वात्। **अयं भावः—उपदेष्टा उपदेश्यस्यानुमितिमत्तयाऽभिप्रेतस्य अनुमितिसाधनीभूतव्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानार्थमेव अवयवसमुदायात्मकस्य न्यायस्योपदेशं करोतीत्युभयवादिसिद्धम्। सति चैवं पञ्चावयवत्रयेवणै**

तयोर्निष्पत्तिः सम्भवेत् किं प्रयोजनमधिकस्यावयवद्वयस्वीकारस्य ? इति । पञ्चावयववादस्यैवानभ्युपगमे दशावयववादाभ्युपगमस्य प्रत्याशैव का ? के नाम दशावयवाः तद्वादिनये ? इति चेत् जिज्ञासा-संशय-शक्यप्राप्ति-प्रयोजन-संशयव्युदासाः पञ्च, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्च, ततो दश । शक्यप्राप्तिः = साधकप्रमाणम् । संशयव्युदासः = तर्कः । एतेषां जिज्ञासादीनां पञ्चानां शब्दानात्मकत्वादेव न न्यायावयवत्वम् । न्यायस्य वाक्यसमष्टिरूपतया शब्दानात्मकानां तेषां न्यायावयवत्वानुपपत्तिः । पक्षधर्मता तु पक्षनिरूपितवृत्तिता । तत्र पक्षत्वं सिषाधयिषा-विरहसहकृतसिद्ध्यभावरूपम् । सिद्धिः साध्यप्रकारकनिश्चयः । प्रकारता साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना विवक्षिता । तेनान्यसम्बन्धेन पक्षे साध्यनिश्चयसत्त्वेऽपि नानुमित्यनुपपत्तिः । सिद्धौ सहकृतान्तविशेषणानुक्तौ सिषाधयिषा-सिद्ध्योरुभयोः सत्त्वदशायां जायमानाया अनुमितेरनुपपत्तिः । सिद्धिनिष्ठा प्रतियोगिता विशेष्यत्वसम्बन्धावच्छिन्ना ग्राह्या तेन न सिद्धिस्थलेऽपि सम्बन्धान्तरावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावमादायानुमित्यापत्तिः । साध्यसन्देहविशेष्यत्वं सिषाधायिषाविशेष्यत्वं वा न पक्षत्वम् तयोरभावेऽपि घनगर्जनेन मेघानुमानदर्शनात् । पक्षतायाः स्वातन्त्र्येण नानुमितिहेतुत्वम् अनुमितिजनकपक्षधर्मताज्ञानसम्पादकतयाऽन्यथासिद्धत्वात् ।

विहितस्यानुमानिनिरूपणस्य फलमाह–

एवमनुमाने निरूपिते ब्रह्मभिन्ननिखिलमिथ्यात्वसिद्धिः ।

एवं = पूर्वोक्तरीत्या । ब्रह्मभिन्नस्य निखिलस्य प्रातिभासिकस्य व्यावहारिकस्य च यन्मिथ्यात्वं तस्य सिद्धिः । **अयं भावः**–प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकगतसत्यत्वसमर्पकतया ततो मिथ्यात्वसिद्ध्यसम्भवेन, परोक्षप्रमाणेनैव प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं साध्यम् । तत्र श्रुतेरिव अनुमानस्यापि मिथ्मात्वसाधकत्वम् । अतो नानुमाननिरूपणवैयर्थ्याशङ्का, इति ।

प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकव्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानसम्पादकन्यायप्रयोगं दर्शयति–अभिनीय–

तथा हि ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वात् यदेवं तदेवम्, यथा शुक्तिरूप्यम् ।

अत्र ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या इति प्रतिज्ञावाक्यम् । ब्रह्मभिन्नत्वात् इति हेतुवाक्यम् । यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरूप्यम् इति उदाहरणवाक्यम् । तथा च ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्य व्यावहारिकस्य प्रातिभासिकस्य च पक्षत्वम् । मिथ्यात्वस्य साध्यत्वम् । ब्रह्मभिन्नत्वस्य हेतुत्वम् । अत्र सर्वं मिथ्या इत्येतावन्मात्रोक्तौ ब्रह्मण्यपि मिथ्यात्वोक्त्या प्रयोजनव्याघातः शून्यवादपर्यवसानापत्तेः । किञ्च पक्षैकदेशे ब्रह्मणि ब्रह्मभिन्नत्वरूपहेतोरसत्त्वापत्त्या भागासिद्धिः, अतः ब्रह्मभिन्नत्वमुक्तम् । ब्रह्मभिन्नं मिथ्येतावन्मात्रोक्तौ बाधापत्तिः तुच्छस्यापि गगनकुसुमादेः तदानीं पक्षकुक्षिनिःक्षिप्ततया तत्र मिथ्यात्वस्य साध्यस्याभावात्, मिथ्यात्वस्य सद्धर्मतया असति तुच्छे तदभावात् । सर्वपदं च सत्त्वेन प्रतीत्यर्हपरम् । तथा च असतः सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हतया पक्षतावच्छेदकत्वे तेन सह हेतोरभेदापत्तिरिति फलतः सिद्धसाधनमिति वाच्यम्, ब्रह्मभिन्नत्वविशिष्टसत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वस्य पक्षतावच्छेदकतया शुद्धब्रह्मभिन्नत्वहेतोस्ततो भेदात् । यद्वा प्रकृते ब्रह्मभिन्नपदं अविद्यातत्परिणामपरम् तथा च नापत्तिगन्धोऽपि । पक्षेऽस्मिन् रज्जुसर्पाद्यादाय सिद्धसाधनवारणाय सर्वमित्युक्तिः । तदुक्तौ अवच्छेदकावच्छेदेनानुमितिलाभः । अवच्छेदकावच्छेदेनानुमितौ सामानाधिकरण्येन सिद्धिर्न प्रतिबन्धिकेति न सामानाधिकरण्येन सिद्धिरूपरज्जुसर्पगतमिथ्यात्वनिश्चयमादाय सिद्धसाधनावसरः । मिथ्यात्वं च त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्वम् । ब्रह्मभिन्नत्वं चिद्भिन्नत्वम् । एतेन दृश्यत्व-जडत्व-परिच्छिन्नत्वादीनां हेतूनामुपसंग्रहो वेदितव्यः ।

ननु दृष्टान्तत्वं तस्यैव यत्र साध्यहेतूभयनिश्चयो वादिप्रतिवादिनोरुभयोरपि । तथा च शुक्तिरूप्यस्य न दृष्टान्तत्वसम्भवः, असिद्धत्वात् तस्यापि प्रतिभाससत्त्वस्य वेदान्तसिद्धान्तसिद्धतया त्रैकालिकनिषेधायोगेन त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वनिश्चयाभावाच्च इति शङ्कां निराकुरुते ।

न च दृष्टान्तासिद्धिः । तस्य साधितत्वात् ।

दृष्टान्तस्यासिद्धिः दृष्टान्तासिद्धिः, सा च नेत्यर्थः । तस्य = दृष्टान्तस्य । साधितत्वात् = निश्चितत्वात् । यद्वा तस्य = त्रैकालिकानिषेधप्रतियोगित्वरूपस्य मिथ्यात्वस्य । तस्येत्यनन्तरं तत्रेति शेषः । शुक्तिरूप्ये इति तदर्थः । अयं भावः—प्रातिभासिकस्य किञ्चित्कालसत्त्वेऽपि व्यावहारिकत्वेन तस्य तदानीमसत्त्वात्,

व्यावहारिकत्वात्मक-व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक —प्रातिभासिकाभावप्रतियोगित्वस्य न क्षतिः शुक्तिरूप्यादौ, इति कथं दृष्टान्तासिद्धिः ? इति ।

ननु हेतुः साध्यव्यभिचारी इति निश्चयसत्त्व इव, हेतुः साध्यव्यभिचारी न वा ? व्यभिचारसंशयसत्त्वेऽपि न व्याप्तिनिश्चय इति वस्तुस्थितिः । सति चैवं सत्यां हेतुः साध्यव्यभिचारी न वा ? इति शङ्कायां न दृश्यत्वे मिथ्यात्वव्याप्तिनिश्चय इति व्याप्तत्वासिद्ध्या कथमुक्तानुमानप्रयोगस्य साधुत्वम् ? इति शंका निराकरोति—

न चाप्रयोजकम्, शुक्तिरूप्य-रज्जुसर्पादीनां मिथ्यात्वे ब्रह्मभिन्नत्वस्यैव लाघवेन प्रयोजकत्वात् ।

अप्रयोजकत्वं = अनुकूलतर्कविरहः तत्प्रयुक्ता व्यभिचारशंका वा । न चेत्यन्वयः । ब्रह्मभिन्नत्वस्यैव प्रयोजकत्वादिति सम्बन्धः प्रयोजकत्वादित्यस्य आपाद्यभूताभावप्रतियोगित्वात् इत्यर्थः । तथा च "शुक्तिरूप्यादिकं यदि मिथ्या न स्यात् ब्रह्मभिन्नं न स्यात्" इति तर्केण व्यभिचारशंकाखण्डनम् । खण्डितायां च व्यभिचारशंकायां व्याप्तिनिश्चयाप्रतिबन्धेन सदनुमितिसम्पत्त्या नानुमानप्रयोगस्यासाधुत्वसम्भावनेति भावः ।

ननु किं नाम साध्यभूतं मिथ्यात्वं यदनुगततया व्यावहारिके प्रातिभासिके च स्थास्यति ? इत्यत आह—

मिथ्यात्वं च स्वाश्रयत्वेनाभिमत-यावद्वस्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ।

स्वं = मिथ्यात्वेनाभिमतः पदार्थः, तस्य आश्रयत्वेनाभिमतं यत् यावद्वस्तु, तन्निष्ठो यः अत्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वमित्यर्थः । यथा स्वं = घटादिकं, तदाश्रयत्वेनाभिमतं कपालादिकं, तन्निष्ठः अत्यन्ताभावः = घटाद्यत्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगित्वं घटादेरिति भवति तत्र मिथ्यात्वलक्षणसमन्वयः ।

ननु कपाले घटस्य तादात्म्येन व्यावहारिकसत्तायाः वेदान्तिभिरप्यभ्युपेततया कथं कपाले घटाभावः ? असति च तस्मिन् कथं प्रोक्ताभावप्रतियोगित्वलक्षणसमन्वयो घटादौ ? त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावोऽत्यन्ताभाव इति नैयायिकैरभ्युपगमात् । व्यवहारकालसतश्च घटादेः त्रैकालिकनिषेधायोगात्

इति चेत्, न । प्रतिभासकालसतः प्रातिभासिकस्य त्रैकालिकनिषेधवत् व्यावहारिकस्यापि त्रैकालिकनिषेधसम्भवात् पारमार्थिकत्वेन व्यावहारिकस्य घटादेः कदापि कुत्रापि चासत्त्वेन कपालेऽपि तदत्यन्ताभावस्य सुवचतया लक्षणसमन्वयात् ।

पदकृत्यमाह—

अभिमतपदं वस्तुतः स्वाश्रयाप्रसिद्धिवारणाय ।

अभिमतत्वं = अभिमानविशेष्यत्वम् । अभिमानश्च "कपालं घटवत्" इत्यादिबोधरूपो बोध्यः । स्वं = मिथ्यात्वाभिमतपदार्थः । तस्य यः आश्रयः, तस्य या अप्रसिद्धिः, तद्वारणाय । अयं भावः—अभिमतपदानुक्तौ लक्षणासम्भवः—तथा हि—मिथ्यात्वेनाभिमतस्य घटस्याश्रयत्वं यदि कपाले स्वीक्रियते तदैव स्वाश्रयपदेन कपालस्य ग्रहणं भवितुमर्हति, तथा च तन्निष्ठात्यन्ताभावपदेन न घटात्यन्ताभावो धर्तुं शक्यते, स्वाश्रये स्वात्यन्ताभावाभावात् । एवञ्च न स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्वरूपमिथ्यात्वस्य घटे समन्वयः। एवं पटादावपि । अभिमतपदोपादाने च कपालादौ घटादेराश्रयत्वाभिमानमात्रम्, न वस्तुतस्तत्र घटसत्त्वम् । अभिमानविषये च न घटाभावादिसत्त्वे बाधकं रज्जौ सर्पाभावस्येव, इति तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः ।

ननु स्वाश्रयत्वेनाभिमतनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेवोच्यताम् स्वाश्रयत्वेनाभिमते यावत्त्वविशेषणं किमर्थमित्यत आह—

यावत्पदमर्थान्तरवारणाय ।

प्रकृतादर्थात् अन्यः अर्थः अर्थान्तरम् । प्रकृतपदार्थासिद्धिरिति सारार्थः, तस्य वारणाय । अयं भावः—संयोगेन घटस्याश्रयो भूतलं, समवायेन तादात्म्येन वा आश्रयः कपालम् । सति चैवं भूतलं स्वाश्रयत्वेनाभिमतमादाय तन्निष्ठात्यन्ताभावसिद्ध्यैवानुमानचारितार्थ्येन कपालनिष्टात्यन्ताभावप्रतियोगित्वासिद्ध्या प्रकृतमिथ्यात्वासिद्धिः । यावत्पदोक्तौ च निरुक्ताभिमतपदेन कपालस्यापि संग्रहात् तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यापि घटे सिद्धौ प्रकृतमिथ्यात्वसिद्धिः सम्पद्यते, इति ।

एतादृशस्य मिथ्यात्वनिर्वचनस्य प्राचीनसम्मतत्वमाह—

तदुक्तम्—

सर्वेषामेव भावानामाश्रयत्वेन सम्मते ।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ॥

तत् = प्रदर्शितं मिथ्यात्वलक्षणम् । उक्तमित्यनन्तरं प्रत्यक्तत्वप्रदीपिकायां चित्सुखाचार्यैरिति शेषः । स्वाश्रयत्वेन सम्मते अन्यन्ताभावं प्रति प्रतियोगित्वम् सर्वेषां भावानां मृषात्मता, इत्यन्वयः । सम्मते इत्यत्र सम्मतत्वमभिमतत्वम् । सप्तम्यर्थो वृत्तित्वम् । तथा च स्वाश्रयत्वेनाभिमतवृत्त्यत्यन्ताभावं प्रतीत्यर्थः । सर्वेषां = प्रातिभासिकानां व्यावहारिकाणां च इत्यर्थः । मृषात्मता = मिथ्यात्वम् । **अपिकारेण सदसदनधिकरणत्वादिलक्षणान्तरस्य संसूचनम् । स्वाश्रयत्वेनाभिमत-निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वम्, न नूतनमस्माभिरेवोच्यते, अपि तु चित्सुखमुनिभिरपि कारिकयैतया इदमेव मिथ्यात्वलक्षणं प्रतिपादितमित्याशयः ।**

प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकविशेषानुमानकूटस्य दिग्दर्शनं कारयति—

यद्वा अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी पटत्वात् पटान्तरवत् इत्यनुमानं मिथ्यात्वे प्रमाणम् ।

यद्वा = अथवा । एततन्तुत्वम् = एतत्पटावयवतन्तुत्वम् । तथा च एतत्प-टावयवभूताः ये तन्तवः, तन्निष्ठो योऽत्यन्ताभावः तत्प्रतियोगी इत्यर्थः। अत्र एतत्प-टस्य पक्षत्वम् एतत्पटावयवतावत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य साध्यत्वम् पटत्वस्य हेतुत्वम् पटान्तरस्य दृष्टान्तत्वम् । पूर्वानुमाने समस्तव्यावहारिक-प्राति-भासिकवस्तु पक्षत्वेनादाय तत्र निरुक्तवस्त्वाश्रयत्वाभिमत-ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वस्य सकृदपि सिद्धिः । **अयं भावः—पटत्वं पटान्तरेऽपि विद्यते किन्तु एतत्पटावयवनिष्ठत्व तत्र नास्ति इति त्वयाप्यभ्युपगम्यते । सति चैवं तस्यैव पटत्वस्य एतत्पटेऽपि विद्यमानतया अत्राप्येतदवयवत्वाभिमतैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ता भावप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं कुतो नागच्छेत् ? इति ।**

एतदनुमानप्रकारे चित्सुखाचार्यस्यापि सम्मतिरिति दर्शयति—

तदुक्तम्—

अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः ।
अंशित्वादितरांशीव दिगेषैव गुणादिषु ॥

अंशित्वं = अवयवित्वेन लोकव्यवहृतत्वम्। अंशत्वं = अवयवत्वेन लोकव्यवहृतत्वम्। स्वस्यांशः स्वांशः स्वांशे गच्छतीति स्वांशगः, स्वांशनिष्ठ इत्यर्थः। तादृशो योऽत्यन्ताभावः, तस्य। इतरांशीव अपरांशीव। दिगेषैव इत्यत्र एवकारोऽप्यर्थकः, भिन्नक्रमश्च। तथा च गुणादिष्वपि एषैव दिक् इत्यन्वयः। दिक् पद्धतिः मार्गः। **अंशिन इत्यादिबहुवचनोक्तिः अनुमानप्रयोगबहुत्वसूचनाय। तथा च अनुमानकूटेन प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरित्यभिप्रायः।** ननु अवयविनः स्वावयवनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनः अवयवित्वात् इत्येकानुमानस्याप्यत एव सूचनसम्भवे कथमुच्यते तत्तदनुमानकूटसूचकतैवेति चेन्न इतरांशीवेति दृष्टान्तगतस्य इतरपदस्यासङ्गत्यापत्तेः। सर्वेषामेवावयविनां पक्षपरिग्रहेण तदितरावयव्यप्रसिद्धेः। **इदञ्च बोध्यम् एतत्कारिकासूचितानुमानैः व्यावहारिकाणामेव मिथ्यात्वसिद्धिः न तु प्रातिभासिकानाम्। तेषामवयवित्वाभावात्। न चैतन्मन्तव्यं—भ्रान्तस्य प्रतिभासकाले प्रातिभासिकेष्वपि अवयवित्वव्यवहारात् अवयवित्वेन व्यवहृतत्वरूपस्यावयवित्वस्य प्रातिभासिकेऽप्यक्षततेति न तदसंग्रह इति। व्यावहारिकनिषेधन्यूनसत्ताकस्य प्रातिभासिकस्यापि केवलभ्रान्तव्यवहारमादाय व्यावहारिकत्वकल्पनेऽन्यतरसत्ताविलोपापत्तेः। यद्वा अंशित्वं नावयवित्वेन व्यवहृतत्वम् अपि तु अवयवित्वेन भासमानत्वम्।** तथा च भ्रमप्रमासाधारणभानमादाय व्यावहारिकप्रातिभासिकयोरुभयोरपि प्रकृतावयवित्वसिद्धिः, ततश्च सिद्धिर्मिथ्यात्वस्य प्रातिभासिकानामपीति। "गुणादिषु" इत्यत्र आदिपदेन कर्मग्रहणम्। तत्रानुमानप्रकारस्तु रूपं स्वाश्रयत्वेनाभिमतनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि गुणत्वात् रसवत्। उत्क्षेपणं स्वाश्रयत्वेनाभिमतनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि कर्मत्वात् अपक्षेपणवत् इत्यादिरूपोऽवसेयः। व्यभिचारविरोधासिद्धिबाधसत्प्रतिपक्षाणामन्यतमाभावेन हेतोरदुष्टतया निर्विघ्नं पक्षे प्रपञ्चे मिथ्यात्वस्य साध्यस्य सिद्धिः—तथाहि-"नेह नानास्ति किञ्चन" "एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" "अथात आदेशः" "नेति नेति" इत्यादिवेदान्तशतेन प्रपञ्चे मिथ्यात्वस्याबाधिततया साध्याभाववत्पक्षरूपबाधदोषासम्भवः। अत एव च न सत्प्रतिपक्षसम्भवः, तस्य बाधोत्थापकतयैव दोषत्वेन बाधस्थलमात्रसम्भाव्यत्वात्। मिथ्यात्वाभाववति तुच्छे ब्रह्मणि वा दृश्यत्वहेतोरवृत्तितया साध्याभाववद्वृत्तित्वरूपव्यभिचारस्यापि न सम्भवः। मिथ्यात्वदृश्यत्वयोः साध्यहेत्वोः व्यावहारिक-प्रातिभासिकयोरेकत्रवृत्तितया हेतौ साध्यासामानाधिकरण्यरूपस्य विरोधस्यापि नावकाशः। पक्षे प्रपञ्चे दृश्यत्वहेतोः सत्त्वेन हेत्वभाववत्पक्षरूपस्वरूपासिद्धेः अशेषदृश्यत्वाश्रयाश्रितमिथ्यात्वसामानाधिकरण्यरूपायाः व्याप्तेः दृश्यत्वहेतौ सत्त्वेन, निरुपाधिकतया च व्याप्यत्वासिद्धेः, पक्षसाध्यहेतुषु पक्षतावच्छे-

दक-साध्यतावच्छेदक-हेतुतावच्छेदकानां च सत्त्वेन पक्षसाध्यसाधनाप्रसिद्धीनामपि पक्षतावच्छेदकभाववत्पक्षसाध्यतावच्छेदकाभाववत्साध्यहेतुतावच्छेदकाभाववद्धे तु-रूपाणां नावकाश इति । एवमन्येष्वपि प्रदर्शितानुमानेषु दोषसामान्याभावो बोध्यः ।

ननु घटादीनामपि मिथ्यात्वे कथं सर्वेषां अबाधितः घटः सन् इत्यादिप्रत्ययः सम्पद्यते ? इत्याशङ्कां निराकरोति—

न चास्य घटादेर्मिथ्यात्वे सन् घट इति प्रत्यक्षेण बाधः। अधिष्ठान-सत्ताया एव तत्र विषयतया तत्र घटादेः सत्यत्वासिद्धेः।

न चेत्यस्य बाध इत्यनेनान्वयः । **अयं भावः**–घटादेर्मिथ्यात्वे घटः सन् इति सर्वसिद्धप्रतीतिव्यवहारयोः अनुपपत्तिः, किं वा प्रोक्तयथार्थप्रत्ययबलात् घटपटादि-प्रपञ्चसत्यत्वे तत्र मिथ्यात्वरूपसाध्याभावादुक्तानुमाने बाध इति न शक्यते वक्तुम्। यतः घटः सन् पटः सन् इत्यादिप्रत्ययविषयभूता सत्ता न घटपटादिनिष्ठा, अपि तु यस्मिन् सति चैतन्ये घटपटादिकं कल्पितं तन्निष्ठैव । एवञ्च न तां सत्तामादाय घटपटादेर्मिथ्यात्वबाधोद्भावनसम्भवः, न वा प्रोक्तप्रत्ययानुपपत्तिः । चैतन्यगतसत्ता-विषयकतयैव तत्सम्पत्तेः । ननु चैतन्यगतैव सत्ता तत्र तत्र विषयीक्रियते न स्वग-तैवेत्यत्र किं विनिगमकमिति चेत् लाघवमेव । एकां चैतन्यगतां सत्तामादायैव सर्वत्रानुगतसद्व्यवहारोपपत्तौ अनन्तसत्ताकल्पनस्यानुभवविरुद्धत्वात् ।

ननु सद्भूतब्रह्मणः सत्ता ततो भिन्ना अभिन्ना वा ? आद्ये द्वैतापत्तिः । द्वितीये ब्रह्माभिन्नतया नीरूपतया तस्याः, "सन् घटः" इति चाक्षुषप्रत्यक्षविषयतानुपपत्तिः इत्याशंकां निराकरोति—

न च नीरूपस्य ब्रह्मणः कथं चाक्षुषादिज्ञानविषयतेति वाच्यम् । नीरूपस्यापि रूपादेः प्रत्यक्षविषयत्वात् ।

न चेति वाच्यमिति परेणान्वयः । नीरूपस्य = रूपरहितस्य । चाक्षुषादीत्यादिपदेन त्वाच् परिग्रहः । कथमित्यनन्तरं स्यादिति शेषः । तथा च चक्षुषादिरूपं यज्ज्ञानं तद्विष-यता । तदभाववत्त्वाद्ब्रह्मणः, ब्रह्माभिन्नसत्तायाः सा कथं स्यात् ? इति पूर्वपक्षाभि-प्रायो, यस्यात्र न च वाच्यमित्यनेन खण्डनम् । **अयं भावः–वहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वा-वच्छिन्नं प्रति रूपं कारणमिति यद्युच्यते तर्हि घ्राणश्रोत्रादिना गन्धशब्दादेरप्रत्यक्ष-त्वापत्तिः । गुणे गुणानङ्गीकारेण गन्धशब्दयोः रूपाभावात् । यदि चक्षुस्त्वतान्यतरे-**

न्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति रूपं कारणमित्युच्यते तदा रूपरूपत्व-स्पर्शस्पर्शत्व-प्रत्यक्षताऽनुपपत्तिः, त्वयापि तत्र तत्र रूपानंगीकारात् । सति चैवं रूपरहितब्रह्माभिन्नायाः सत्तायाः प्रत्यक्षत्वे न किञ्चिद्बाधकमिति नानुपपत्तिः सन् घट इत्यादि प्रत्ययस्येति ।

ननु बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्रे चक्षुस्त्वगन्यतरेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षे वा रूपं कारणमिति नोच्यते, अपि तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणमिति । तथात्र रूपरूपत्वयोः रूपाभावेऽपि न चाक्षुषत्वानुपपत्तिः। आत्मभूतब्रह्मणस्तु द्रव्यतया तत्प्रत्यक्षे रूपस्यापेक्षितत्वेन तस्य तदभिन्नसत्त्वस्य च प्रत्यक्षोक्त्यसम्भवेन प्रोक्त "सन् घट" इत्यादिप्रत्ययानुपपत्तिर्दुर्वारा इत्याशंकानिरासायाह—

न च नीरूपस्य द्रव्यस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वनियमः । मन्मते ब्रह्मणो द्रव्यत्वासिद्धेः ।

न चेत्यस्य नियम इत्यनेनान्वयः । नीरूपस्य= रूपरहितस्य । चक्षुरादेरयोग्यत्वं चक्षुराद्ययोग्यत्वम्, तस्य नियमः = अव्यभिचारः । आदिपदेन त्वक्परिग्रहः । तथा च चक्षुस्त्वगन्यतरेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वनियम इत्यर्थः । मन्मते = वेदान्तमते । ब्रह्मणः =आत्मनः । द्रव्यत्वस्यासिद्धिः द्रव्यत्वासिद्धिः, तस्याः । अयं भावः—न खल्वस्माभिर्युष्माभिरिवात्मनःस्वीक्रियते द्रव्यत्वम् । तथा च कार्यकारणभावस्वीकारेऽपि ब्रह्मतत्सत्तयोः प्रत्यक्षत्वे बाधकाभावेन नानुपपत्तिः "सन् घटः" इत्यादिप्रत्ययस्य, इति ।

ननु कथं न स्वीक्रियते द्रव्यत्वमात्मनः ? इत्यत आह—

गुणाश्रयत्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यत्त्वं तेऽभिमतम् ? न हि निर्गुणस्य ब्रह्मणो गुणाश्रयता । नाऽपि समवायिकारणता । समवायासिद्धेः ।

गुणाश्रयत्वं = समवायसम्बन्धावच्छिन्न-गुणत्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणत्वम् । समवायिकारणत्वं = समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणत्वम् अयमाशयः—तार्किकैः द्रव्यत्वं किं रूपमभि-

प्रेत्य आत्मनो द्रव्यत्वं सम्पादनीयम् ? समवायसम्बन्धेन गुणाश्रयत्वं तदित्यभिप्रेत्य चेत्, न प्रत्याशा आत्मनो द्रव्यत्वे। अद्वैतमते ब्रह्मणो निर्गुणतया, समवायासिद्ध्या च समवायसम्बन्धेन गुणाश्रयत्वस्य ब्रह्मण्यात्मनि असम्भवात्। समवायिकारणत्वं द्रव्यत्वमिति निरूक्तिमभिप्रेत्येति चेत् तथापि न सम्भावना तदभिमतसिद्धेः। प्रोक्त-क्रमेण समवायिकारणत्वस्य समवायसम्बन्धघटिततया समवायस्यैव मानाभावेना-सिद्ध्या, आत्मनि समवायिकारणत्वस्याप्यभावात्।

ननु वेदान्तिभिरपि समवायस्थाने तादात्म्यसम्बन्धस्वीकारात् समवायनाम-मात्रप्रद्वेषात् न समवायिकारणत्वानुपपत्तिर्ब्रह्मणः। समवायस्थाने तादात्म्यमादाय निरुक्तस्य समवायिकारणत्वस्य ब्रह्मणि सत्त्वे बाधकाभावेन, ततस्तस्य द्रव्यत्व-सिद्ध्या, तत्प्रत्यक्षत्वस्यापि निरूक्तकार्यतावच्छेदकाक्रान्ततया कारणीभूतरूपा-भावेन प्रोक्तप्रत्यक्षानुपपत्तिर्दुर्वारैव, इत्यत आह—

अस्तु वा द्रव्यत्वं ब्रह्मणः, तथापि नीरूपस्य कालस्येव चाक्षुषादि-ज्ञानविषयत्वे न विरोधः।

अथवा सामान्यविशेषसमवायानान्तु अस्मिन् मते स्वीकार एव नास्ति। तदाधाराभावात् न गुणत्वं कर्मत्वमपि वा। सत्येवं यदि द्रव्यत्वमपि न तत्र स्वीक्रि-यते तर्हि अभावत्वापत्त्या शून्यमतप्रवेशापत्तिरित्यतः उच्यते अस्तु वेत्यादि। **अयं भावः—बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षं प्रति रूपं कारणम् इत्यपि कार्यकारणभावो न निर्धारणार्हः, रूपाभाववतोऽपि कालस्य इदानीं घट इत्यादिप्रत्यक्षविषयत्वात्। तथा च व्यभिचारान्निरुक्तकार्यकारणभावे खण्डिते, आत्मनो द्रव्यत्वाभ्युपगमे प्रत्यक्षानुपपत्त्यभावेन "सन् घटः" इत्यादिप्रत्यक्षाभावापादनानवकाशः इति।**

ननु "सन् घटः" इत्यादौ आत्मनः प्रत्यक्षविषयत्वाभ्युपगमे प्रपञ्चाध्यासा-धिष्ठानभूतस्य आत्मनः साक्षात्कारेण इदानीमेव द्वैतविलयापत्तिः, तथा चानुभव-विरोधः, इत्यतः सत्तात्रैविध्यमुपगम्य "सन् घटः" इत्यादि प्रत्ययमुपपादयति—

यद्वा त्रिविधं सत्त्वं, पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणः। व्यावहारिकं सत्त्व-माकाशादेः। प्रातिभासिकं सत्त्वं शुक्तिरूप्यादेः। तथा च घटः सन्निति प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकसत्त्वविषयत्वेन प्रामाण्यम्।

तिस्रो विधा अस्य इति त्रिविधं = त्रिप्रकारम् । सत्त्वं पारमार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं च । तत्रेति शेषः । **पारमार्थिकसत्त्वं त्रिकालाबाध्यत्वम् व्यावहारिकसत्त्वं = ब्रह्मज्ञानातिरिक्ताबाध्यम् । प्रातिभासिकं सत्त्वं = ब्रह्मज्ञानातिरिक्तबाध्यत्वम्** । तथा च वेदान्तसिद्धान्ते केवलं ब्रह्मण एव त्रिकालाबाध्यतया तस्य पारमार्थिकं सत्त्वम् । घटपटादेः बह्मज्ञानोदय विना अबाधितत्वेन तत्र व्यावहारिकं सत्त्वम् । शुक्तिरूप्यादेः ब्रह्मज्ञानातिरिक्तेन आरोपाधिष्ठानचैतन्यावच्छेदीभूतशुक्त्यादिज्ञानेन बाधात् प्रातिभासिकसत्त्वम् । सति चैवं "घट:सन्" इत्यादौ घटगतव्यावहारिकसत्तायाः विषयीकरणेन प्रमाप्रतीतिनिर्वाहः । न च द्वैतापत्तिः पारमार्थिकसत्ताकवस्त्वन्तरराहित्यस्यैवाद्वैतपदार्थत्वात् ।

नन्वेवमपि कुतो न द्वैतापत्तिः घटादेरपि पारमार्थिक-सत्त्वसम्भवात् ? तथा हि—त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वमेव हि पारमार्थिकं सत्त्वम् । घटादेरपि च ब्रह्मज्ञानोदयात्पूर्वमबाधितत्व-स्वरूपसत्ताभ्युपगमेन तन्निषेधस्यात्रैकालिकत्वापत्त्या त्रैकालिकानिषेधाप्रतियोगित्वस्य तत्र तत्राप्यक्षतत्वात् इत्याशंकानिरासायाह—

अस्मिन् पक्षे च घटादेर्निषेधो न स्वरुपेण, किन्तु पारमार्थिकत्वेन । तथा च न विरोधः ।

अस्मिन् पक्षे = त्रिविधसत्ताभ्युपगमपक्षे । चकारस्त्वर्थे । घटादेः स्वरूपेण न निषेध इत्यन्वयः । स्वस्य धर्मो रूपं तेन । घटत्वादिव्यावहारिकधर्मेण इत्यर्थः । पारमार्थिकत्वेन इत्यनन्तरं निषेध इति शेषः। तथा च = पारमार्थिकत्वेन व्यावहारिकस्य निषेधे च । न विरोधः न पारमार्थिकाद्वैताभ्युपगमविरोधः । अयं भाव :— **व्यावहारिकस्य घटादेः व्यवहारकालसत्त्वाभ्युपगमे तेषां** स्वगतघटत्वादिधर्मपुर- **स्कारेण व्यावहारिकसत्त्वाविना वा न शक्यते वक्तुं त्रैकालिको निषेध इति तु सत्यम् । तथापि स्वव्यधिकरणपारमार्थिकत्वधर्मपुररस्कारेण तन्निषेधस्य त्रैकालिकत्वे बाधकाभावः । न हि पारमार्थिकत्वधर्मपुरस्कारेण कस्मिन्नपि काले तिष्ठति व्यावहारिकमिति घटादौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वसत्त्वेन मिथ्यात्वादपारमार्थिकत्वेन नावकाशो द्वैतापत्तेः । पारमार्थिकसत्ताकवस्तुद्वयस्वीकारे हि द्वैतसम्भवात् इति । स्वर्थकेन चकारेण** केवलपारमार्थिकसत्ताभ्युपगमे **तु घटादेः स्वरूपत एव निषेध इति सूचितम् ।**

प्रकृते त्रिविधसत्ताभ्युपगमपक्षे अनुमेयस्य मिथ्यात्वस्य स्वरूपपरिचयाय पर्यवसित लक्षणं सूचयति—

अस्मिन् पक्षे मिथ्यात्वलक्षणे पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमत्यन्ताभावे विशेषणं देयम् ।

मिथ्यात्वलक्षणे = सर्वेषामेवभावानामित्यादिना चित्सुखोक्ते । पारमार्थिकत्वावच्छिन्न या प्रतियोगिता, तत्कत्वम् = तादृशप्रतियोगितानिरूपकत्वम् । अत्यन्ताभावे = स्वाश्रयत्वेनाभिमतनिष्ठात्यन्ताभावे । तथा च स्वाश्रयत्वेनाभिमतनिष्ठात्यन्ताभावीय पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वमिति तल्लक्षणं पर्यवसन्नम् । व्यावहारिकप्रातिभासिकयोः कदापि कुत्रापि च पारमार्थिकत्वेनासत्त्वात् पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदत्यन्ताभावमादाय, तदीय-पारमार्थिकत्वावच्छिन्न-प्रतियोगित्वस्य तयोः सत्वाल्लक्षणसमन्वयः ।

पर्यवसितमिथ्यात्वनिरुक्तिफलमुपसंहरति—

तस्मादुपपन्नं मिथ्यात्वानुमानमिति ।

तस्मात् = ब्रह्मैकसत्त्वस्वीकारात् मिथ्यात्वनिरुक्तिघटकप्रतियोगितायां पारमार्थिकत्वावच्छिन्नत्वनिवेशाद्वा । मिथ्यात्वानुमानम् = ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या दृश्यत्वात् इत्यादि पूर्वोक्तमनुमानम् । उपपन्नम्=अदूषणत्वेन निश्चितम् । मिथ्यवात्वघटकप्रतियोगितायां पारमार्थिकत्वावच्छिन्नत्वनिवेशेन 'ननु सत्तात्रैविध्योपगमे ब्रह्मणि पारमार्थिकत्वेन व्यावहारिकादेरिव व्यावहारिकत्वेन ब्रह्मणोऽपि प्रपञ्चगतमत्यन्ताभावमादाय तत्प्रतियोगित्वात् ब्रह्मणोऽपि कथं न मिथ्यात्वापत्तिः' इत्यपि परास्तम् । इदानी व्यावहारिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य गृहीतुमशक्यत्वात् ।

इत्यनुमानपरिच्छेदभगवती ।

अथोपमानपरिच्छेदभगवती ।

अवसरसंगत्या उपमानप्रमाणनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथोपमानं निरूप्यते । तत्रोपमितिकरणमुपमानम् ।

अथ = अनन्तरम् । अनुमानप्रमाणनिरूपणाव्यवहितोत्तरम् इत्यर्थः । अव्यवधानं पूर्ववत् बोध्यम् । उपमानं = उपमितिकरणभूतोपमानप्रमाणम् । निरूप्यते इत्याद्यर्थः पूर्ववत् । अतो वाक्यजबोधप्रकारोऽपि स एव । तत्र = किमुपमानमिति शिष्याकांक्षायाम् । उपमितेः करणमुपमितिकरणम् । करणलक्षणं पूर्वोक्तं वेदितव्यम् । तथा चोपमितित्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावत्त्वमुपमानत्वमिति फलितम् ।

लक्ष्ये लक्षणसङ्क्रमनावबोधाय प्रक्रियां दर्शयति —

तथा हि-नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति, भवति प्रतीतिः अयं पिण्डो गोसदृश इति। तदनन्तरं भवत्यनेन सदृशी मदीया गौरिति निश्चयः। तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणम् । गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम् ।

नगरेषु = गवयपशुशून्येषु ग्रामादिषु । गौरेव पिण्डो गोपिण्डः, दृष्टो गोपिण्डो येन असौ दृष्टगोपिण्डः, तस्य । गोत्वादेः शरीरवृत्तित्वान्नोक्तकर्मधारयविरोधः । वनं = गवयपशुशालिदेशम् । गवयेन सह इन्द्रियस्य = चक्षुस्त्वगन्यतरस्य, सन्निकर्षः=संयोगः गवयेन्द्रियसन्निकर्षः, तस्मिन् । अयं पिण्डो गोसदृश इति प्रतीतिर्भवतीत्यन्वयः । तदनन्तरं = तदव्यवहितोत्तरम् । अनेन पशुना सदृशी मदीया गौः इति निश्चयो भवतीत्यन्वयः । तत्र =गवयपश्वनुयोगिकगोप्रतियोगिकसादृश्यज्ञान—गोपश्वनुयोगिकगवयपशुप्रतियोगिकसादृश्यज्ञानयोर्मध्ये । तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः तदभावे तदभावो व्यतिरेकः, ताभ्याम् । तथा च अयं गोसदृश इति ज्ञानसत्त्वे एतत्सदृशी मदीया गौः इति ज्ञानम्, अयं गोसदृश इति ज्ञानाभावे एतत्सदृशी मदीया गौरिति ज्ञानाभावः, इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयानुयोगिकसादृश्यप्रत्यक्षं करणतया उपमानम् । गोपदार्थानुयोगिकसादृश्यज्ञानं परोक्षरूपमुपमितिः फलम् इत्यर्थः । गवयनिष्ठं यत् गोसादृश्यं तस्य ज्ञानम् । गवयनिष्ठत्वं तदनुयोगिकत्वम् । ज्ञानं = प्रत्यक्षम्, तेन न गोसदृशो गवय इति वाक्यजज्ञानात् उपमित्यापत्तिः । फलं = कार्यम् ।

ननु गवयप्रतियोगिकगोपदार्थानुयोगिकसादृश्यज्ञानमेव चेत् फलम्, तर्हि तत्तु प्रत्यक्षमेव, गोगवयोभयसादृश्यैक्यात् गवयनिष्ठस्य तस्य प्रत्यक्षाभ्युपगमे गोनिष्ठस्यापि तस्य प्रत्यक्षविषयत्वात् इति कृत प्रमाणान्तरेणोपमानेनेति साङ्ख्यपूर्वपक्षमपाकरोति—

न चेदं प्रत्यक्षेण सम्भवति, गोपिण्डस्य इन्द्रियासन्निकर्षात् ।

न च सम्भवतीत्यन्वय,: । इद = एतत्सदृशी मदीया गौरिति विलक्षणज्ञानम् । प्रत्यक्षेण = प्रत्यक्षप्रमाणभूतेन्द्रियादिना । गोपिण्डस्य = गोशरीरस्य । इन्द्रियासन्निकर्षात् = इन्द्रियसन्निकर्षानाश्रयत्वात् । **अयमाशयः—भूयोधर्मरूपस्य सादृश्यस्य गोगवययोरेकत्वेऽपि गोपदार्थासन्निकृष्टचक्षुषः पुरुषस्य न गोनिष्ठतया तज्ज्ञानं भवितुमर्हति तन्निष्ठधर्मप्रत्यक्षे तद्घटितस्यैव सन्निकर्षस्य कारणत्वात् । अन्यथा तवाऽपि मते घटगतव्यक्तत्वस्येव वाय्वादिगतस्यापि तस्य चाक्षुषत्वापातात्, अभेदाद्व्यक्तत्वस्य । सति चैवं गवयेन सह चक्षुस्सन्निकर्षकाले गवा सह चक्षुःसंयोगाभावात् गोनिष्ठधर्मप्रत्यक्षकारणीभूतस्य चक्षुःसंयुक्ततादात्म्य-रूपस्य सन्निकर्षस्याभावात् न प्रत्यक्षसम्भवः इति ।**

ननु मास्तु गोनिष्ठसादृश्यज्ञानं प्रोक्तस्थलीयं प्रत्यक्षम् । तथापि न प्रमाणन्तरमुपमानमुपेयम् । फलस्यानुमितिरूपत्वात् इत्याक्षेपं निरस्यति—

नाप्यनुमानेन । गवयनिष्ठगोसादृश्स्यातल्लिगत्वात् ।

इदं सम्भवतीति सम्बन्धः । अनुमानेन = अनुमानप्रमाणेन । गवयनिष्ठं यत् गोसादृश्यं तस्य । न तल्लिगत्वं अतल्लिगत्वम् तस्मात् । लिगत्वं = अनुमापकत्वम् । तथा च गोनिष्ठगवयसादृश्यानुमापकत्वाभावात् इति अतल्लिगत्वात् इत्यस्यार्थः । **अयं भावः—गोनिष्ठं गवयसादृश्यमनुमेयं चेत् न लिंगमन्तरेण । गवयनिष्ठसादृश्यमेव प्रत्यक्षीक्रियमाणं धूम इव वह्नेर्लिंगं भविष्यतीति चेत् नैवं शक्यते वक्तुम् । उभयनिष्ठसादृश्यैक्याभ्युपगमे भेदाश्रययोरनुमेयानुमापकत्वयोरसम्भवात् । भेदे च भिन्नाश्रययोस्तयोः सामानाधिकरण्यासम्भवेन अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिज्ञानासम्भवेन व्याप्यत्वेनाज्ञातात् तस्मात् अनुमित्यसम्भवात् । नाऽपि व्याप्तिभ्रमेण तत्सम्पादनम् । अभ्रान्तस्य तादृशज्ञानानुदयप्रसंगात् इति ।**

ननु विशेषतो व्याप्तिज्ञानाभावेऽपि सामान्यव्याप्तिज्ञानाद् अनुमितिः सम्पत्स्यते, इत्याशङ्कानिरासाय आह—

नापि मदीया गौरेतत्सदृशी एतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वात्, यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी स तन्निष्ठः, यथा मैत्रनिष्ठसादृश्यप्रतियोगी मैत्रसदृशः इत्यनुमानात्सम्भव इति वाच्यम्। एवंविधानुमानानवतारेऽपि "अनेन सदृशी मदीया गौरितिप्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात् ।

नाऽपीति वाच्यमिति व्यवहितेन सम्बन्धः। मदीया गौः एवत्सदृशी असौ = गवयः एतद्गवयः तस्य सदृशी, = एतत्प्रतियोगिकसादृश्यानुयोगिनी, इत्यर्थः। एतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वात् इत्यस्य एतन्निष्ठं = गवयनिष्ठं यत् सादृश्यं तत्प्रतियोगित्वात् इत्यर्थः। यो यद्गतेत्यादि सामान्यव्याप्तिज्ञानाऽऽकारः। तत्सम्भवः = अनुमितिसम्भवः। एवंविधं यद् अनुमानं सामान्यतो व्याप्तिज्ञानं तस्यानवतारः = अनुत्पादः, तस्मिन्। अयं भावः—"यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी स तत्सदृशः यथा मैत्रनिष्ठसादृश्यप्रतियोगी चैत्रो मैत्रसदृशः" इति सामान्यव्याप्तिज्ञान-बलेन इन्द्रियासन्निकृष्टे गवि गवयसादृश्यज्ञानरूपं "एतत्सदृशी मदीया गौः" इति ज्ञानं अनुमितिरूपमेव भविष्यतीति किं प्रयोजनं अतिरिक्तोपमानप्रमाणाभ्युपगम-स्येति न शक्यते वक्तुम्। येषां निरुक्तसामान्यव्याप्तिज्ञानं न जातं तेषामपि एतत्सदृशी मदीया गौरिति ज्ञानदर्शनेन व्यभिचाराद् निरुक्तव्याप्तिज्ञानस्य कारण-त्वासम्भवेन प्रोक्तगोनिष्ठसादृश्यज्ञानस्य अनुमितित्वासम्भवाद्। तथा च विलक्षण-तादृशप्रमितिकरणभूतमुपमानमपि स्वीकर्त्तव्यमेवेति।

एतत्सदृशी मदीया गौरिति ज्ञानस्य प्रमित्यन्तरत्वे युक्त्यन्तरमप्याह—
उपमिनोमीत्यनुव्यवसायाच्च ।

गां उपमिनोमि इति योऽनुव्यवसायः, व्यवसायविषयकज्ञानम्, तस्मात् इत्यर्थः। अनुमित्यनन्तरं "साध्यमनुमिनोमि" इत्येव भवत्यनुव्यवसायात्मिका प्रतीतिः न तूपमिनोमि इति। प्रकृते तु न हि भवति अनुमिनोमीति, अपि तूपमिनो-मीति तस्मादुपमितिनामकविलक्षणप्रमितिरवश्यमभ्युपेयेति भावः।

उपसंहरति—

तस्मादुपमानं मानान्तरम् ।

तस्मात् = यस्मादुपमितिरतिरिक्तप्रमितिः तस्मात् इत्यर्थः । अन्यन्मानं मानान्तरं, प्रमाणान्तरमित्यर्थः । अयं भावः—प्रोक्तसामान्यव्याप्तिज्ञानं विनापि जायमानायाः उपमिनोमीति रूपेण अनुमितिभिन्नत्वेन गृह्यमाणायाः एतत्सदृशी मदीया गौरिति प्रतीतेः स्वतन्त्रप्रमितेः अवश्यमभ्युपेयतया तदर्थमुपमानं प्रमाणमभ्युपेयमेव । प्रमितिस्वातन्त्र्यस्य प्रमाणस्वातन्त्र्यनियतत्वात् ।

तार्किकास्तु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः, तत्करणभूतं उपमेयनिष्ठसादृश्यप्रत्यक्षमुपमानमिति वदन्ति । तथा हि कश्चिद् गवयपदार्थंज्ञाता गवयविशेषज्ञपुरुषात् "गोसदृशो गवयो भवति" इति श्रुत्वा कदाचित् सन्निकृष्टगवयपशुशरीरे अयं गोसदृश इति सादृश्यस्य प्रत्यक्षं करोति, ततः पूर्वोक्तवाक्यस्यार्थं "गोसदृशो गवयो भवति" इति स्मरति । ततः अयमेव गवयपदस्य वाच्य इति जानाति । तत्र सादृश्यप्रत्यक्षं, मतभेदेन वाक्यार्थस्मरणं वोपमानम् । अयं गवयपदवाच्य इति गवयपदवाच्यता ज्ञानमुपमितिरिति । तन्न युक्तम् आप्तवाक्यस्यापि शक्तिग्राहकतया गोसदृशो गवयो भवतीति वाक्यादेव गोसदृशपशौ गवयपदवाच्यत्वनिश्चयस्य वाक्यश्रवणानन्तरमेव निष्पन्नत्वात् । न च शक्तिज्ञाने धामचाक्षुषस्य धर्मीन्द्रियसन्निकर्षस्य वा नियतापेक्षा शक्यते वक्तुम्, तथा सति स्वर्गापूर्वदेवतादिवाच्यवाचकभावज्ञानासम्भवेन तत्तत्पदघटितवाक्यार्थबोधानुपपत्तेः । न च पुरुषे आप्तत्वानिश्चयात् वाच्यवाचकभावज्ञानाभाव इति वाच्यम् । तथा सति गवयसन्निकर्षानन्तरमपि वाच्यवाचकभावनिश्चयानुपपत्तेः । सन्निकर्षकालेऽपि पुरुषेण तेन सत्यमुपदिष्टं मिथ्या वेति सन्देहवता अयमेव गवयपदवाच्य इति निश्चयस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । इति दिक् ।

इत्युपमानपरिच्छेदभगवती ।

अथागमपरिच्छेदभगवती ।

क्रमप्राप्तमागमं प्रमाण निरूपयितु उपदेश्यमनस्समाधानाय प्रतिजानीते—

अथागमो निरूप्यते ।

अथ अनन्तरं = उपमानप्रमाणनिरूपणानन्तरम् । आगमः = शब्द-प्रमाणम् । निरूप्यते = ज्ञानानुकूलव्यापारविषयः क्रियते । ज्ञानस्य लक्षणसापेक्ष-त्वात् आगमप्रमाणस्य लक्षणमाह—

यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तत् वाक्यं प्रमाणम् ।

वाक्यस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थो निष्ठत्वम्, तात्पर्ये तदन्वयः । तात्पर्यं वक्ष्यमाणं तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वरूपं विवक्षितम् । ननु शब्दनिष्ठतादृशतात्पर्यविषयत्वा-सम्भवात् संसर्गे तदसम्भवेन लक्षणासम्भव इति चेत्, शक्तिरूपाया. शब्दनिष्ठायाः निरूक्तयोग्यताया· जनकतारूपत्वेन तादृशजनकतानिरूपितजन्यतावत्प्रतीति-विषयत्वस्यैव तात्पर्यविषयत्वपदेन विवक्षितत्वात् । **तथा च यद्वाक्यनिष्ठतात्पर्य-घटक—प्रतीतिविषयः संसर्गः न प्रमाणान्तरेण बाध्यते, तद्वाक्यमागमप्रमाणमित्यर्थः। प्रमाणान्तराबाधितसंसर्ग[illegible]तीतिजननयोग्यतावद्वाक्यमागमप्रमाणमिति फलि-तोऽर्थः** । निरर्थके शब्देऽतिव्याप्तिवारणाय प्रतीतिजननयोग्यत्वनिवेशः । अग्निना सिञ्चतीति वाक्यवारणाय प्रमाणान्तराबाधितत्वनिवेशः । नातिरात्रे षोडाशिनं गृह्णातीति बाधितातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति वाक्यप्रामाण्याय अन्तर-पदम् । ननु "स प्रजापतिरात्मनो वपामुदाखिदत्" इति वाक्याव्याप्तिरिति चेन्न प्राशास्त्यसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यत्वमादाय लक्षणसमन्वयात् । अत एव तात्पर्यपद-प्रक्षेपस्यापि सार्थक्यम् ।

ननु प्रमाणवाक्याधीनप्रतीतौ वाक्यातिरिक्तमन्यत् किञ्चिदपेक्षितं न वा ? अपेक्षितं चेत् किं तत् ? इत्याकांक्षायामाह—

वाक्यजन्ये च ज्ञाने आकांक्षायोग्यताऽऽसत्तयः तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि ।

वाक्येन जन्यते इति वाक्यजन्यं, तस्मिन् ज्ञाने, शाब्दबोधे इत्यर्थ. । आकाक्षा च योग्यता च आसत्तिश्चेति आकांक्षायोग्यतासत्तय. । एतेषा स्वरूपत एव हेतुत्व शाब्दबोधे, न तु तज्ज्ञानापेक्षेति द्योतनाय तात्पर्यज्ञानेन सहासमासकरणम् । तार्किक-रीतिभेद एतेनोपदर्शितः ।

तत्र प्रथमामाकांक्षा परिचाययति—

तत्र पदार्थाना परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा ।

तत्र = चतुर्षु मध्ये । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा, तस्याः विषयः जिज्ञासाविपयः तस्य भावस्तत्त्वम् । परस्पर यत् जिज्ञासाविषयत्वं तद्योग्यत्वम् । पदार्थानामित्यत्र षष्ठ्यर्थो निष्ठत्वम् । तस्य योग्यत्वेन सहान्वयः । पदार्थानामित्यत्र बहुवचनेन अनेकपदार्थनिष्ठत्व जिज्ञासाया सूच्यते । तथा च इष्टतज्ज्ञानव्यतिरेकप्रयुक्त-व्यतिरेकप्रतियोगिज्ञानविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा । यथा गामानयेत्यत्र आनयनज्ञान-व्यतिरेक-प्रयुक्त-व्यतिरेकप्रतियोगिप्रतीति-विषयत्वयोग्यत्वं च आनयने, इति भवति परस्परं तयोराकाक्षा ।

लक्षणसमन्वयमुपपादयति—

क्रियाश्रवणे कारकस्य, कारकश्रवणे क्रियायाः, करणश्रवणे इतिकर्त्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात् ।

क्रिया = तद्वाचकं पदम्, तस्य श्रवण = श्रावणप्रत्यक्षम्, तस्मिन् । यद्वा क्रियायाः श्रवण क्रियाश्रवणं, तस्मिन् । श्रवण = पदश्रवणजन्यक्रियात्मक-पदार्थोपस्थितिः, तस्यां सत्याम् । कारकस्य = क्रियासम्बन्धिनः। एवमग्रेऽपि । करणं = क्रियाव्यापारवत्कारणम् । यथा कुठारेण छिनत्तीत्यत्र कुठारः । तस्य धात्वर्थ छेदनं प्रति व्यापारवत्कारणत्वात् । इतिकर्त्तव्यता = करणाश्रितो व्यापारः । यथा कुठाराश्रिते उद्यमननिपातने । जिज्ञासाविषयत्वात्, इत्यस्य त्रितयत्रान्वयः । तथा च क्रियाश्रवणे कारकस्य जिज्ञासाविषयत्वात्, कारकश्रवणे क्रियाया जिज्ञासाविषयत्वात्, करणश्रवणे च इतिकर्त्तव्यतायाः जिज्ञासाविषय-त्वाद् इत्यन्वयः । अयं भावः— **केवलं छिनत्तीति क्रियाश्रवणे न ततो बोधपरिसमाप्तिर्जायते । किमिति जिज्ञासायाः उत्थितत्वात् । काष्ठमिति कारकप्रयोगे च "काष्ठं छिनत्तीति बोधो जायते इति सर्वानुमवसिद्धम् । अतः छिनत्त्यर्थछेदनक्रियायां छेद्यकाष्ठज्ञानव्यतिरेकप्रयुक्त-व्यतिरेकप्रतियोगिज्ञानविषयत्वयोग्यत्वमायातमिति लक्षणसमन्वयः। एवमेवान्यत्राप्यवसेयम् ।**

ननु परस्परजिज्ञासाविषयत्वमेवासत्त्वाकांक्षा, किं तद्योग्यत्वनिवेशेन ? इत्यत आह—

अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थबोधात् योग्यत्वमुपात्तम् ।

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा, सा अस्ति यस्य स जिज्ञासुः । न जिज्ञासुरजिज्ञासुः, तस्य तादृशस्य पुरुषस्येत्यर्थः । उपात्तं = आकांक्षालक्षणे निवेशितम् । **अयं भावः—यत्रैको वाक्यं वदति, अपरः श्रुत्वार्थबोधं करोति जिज्ञासुः, तत्राजिज्ञासुरपि चेदुपविष्टः कश्चित् तृतीयो व्युत्पन्नः, तर्हि तस्यापि जिज्ञासोरिव वाक्यार्थबोधो जायत एव । योग्यत्वानुपादाने तृतीयस्याजिज्ञासोस्तस्य बोधानुदयप्रसङ्गात्** । तस्य जिज्ञासाभावेन तद्बोधप्रयोजकजिज्ञासाविषयत्वरूपाया आकांक्षायाः पदार्थेऽभावात् । योग्यत्वपदोपादाने च तस्यापि जिज्ञासासम्भावनया तदीयजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वस्याक्षततया, आकांक्षासम्पत्त्या तदीयस्य बोधस्य नासम्भव इति ।

ननु या या योग्यता सा सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नेति नियमात्, प्रकृते किं धर्मावच्छिन्नत्वमस्या योग्यतायाम् ? अथवा तद्योग्यत्वं तदवच्छेदकधर्मवत्त्वम्, एवं सति प्रकृते कः खलु विषयताया निरुक्ताया अवच्छेदको धर्मः ? इत्याशङ्कायामाह—

तदवच्छेदकं च क्रियात्वकारकत्वादिकं इति नातिव्याप्तिः गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यादौ ।

तदवच्छेदकं = जिज्ञासाविषयत्वयोग्यतावच्छेदकम् । कारकत्वादिकमित्यत्रादिपदेनेतिकर्त्तव्यतापरिग्रहः। गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यादौ नातिव्याप्तिरित्यन्वयः । "इति नातिव्याप्तिः" इत्यत्र इतीत्यस्य स्वरूपसत्याः परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वरूपायाः आकांक्षायाः शाब्दबोधहेतुत्वाभ्युपगमात् इत्यर्थः । तथा चायं भावः—यदि निरुक्तरूपायाः आकांक्षायाः शाब्दबोधहेतुता न स्यात् गौरश्वः पुरुषो हस्तीति निराकांक्षवाक्यादपि शाब्दबोधापत्तिः स्यात् । वस्तुतस्तु इतीत्यस्य क्रियात्वकारकत्वादेः निरुक्तयोग्यतावच्छेदकत्वस्वीकारात् इत्यर्थः । **तथा चायं भावः—यदि क्रियात्व कारकत्वमनादाय पदार्थत्वमात्रं निरुक्तयोग्यतावच्छेदकं स्यात् तदा शाब्दबोधाजनकगौरश्व - इत्यादिवाक्यघटकगवाश्वादिपदार्थेष्वाकांक्षालक्षणातिव्याप्तिः स्यात्** इति । अत एव नातिव्याप्तिरिति लेखोऽपि संगच्छते । अन्यथा न शाब्दापत्तिरित्येव ब्रूयादध्वरीन्द्रः । क्वचित्पुस्तके "नाव्याप्तिरिति" एतावानेव पाठः समुपलभ्यते । तथा चेत् नाव्याप्तिरित्यस्य अजिज्ञासुश्रोतृपुरुषबोधानुकूलस्य तज्जिज्ञासा-

विषयत्वरूपस्याकांक्षालक्षणस्य बोधविषयपदार्थे नाव्याप्तिरित्यर्थोऽवसेयः । अयमभिप्रायः—यदि क्रियात्वकारकत्वादिरूपनिरुक्तविषयतावच्छेदकधर्मवत्त्वरूपायाः योग्यतायाः लक्षणे प्रवेशो न स्यात् तदा अजिज्ञासुश्रोतृपुरुषजिज्ञासाविषयत्वरूपाया आकांक्षायाः पदार्थे अव्याप्तिः स्यात् । न चेष्टापत्तिरिति शक्यते वक्तुम् । अजिज्ञासोरपि श्रोतुः तत्तत्पदार्थानुभवस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात् । यत्तु पेद्दीक्षितैः नाव्याप्तिरित्यस्य "यतो वाक्यान्न कदाचिदप्यन्वय बोधो जायते तत्र पदार्थे नोक्तलक्षणाव्याप्तिः" इतिव्याख्यातं वाचोभङ्ग्या, तन्नमनोरमम्, तादृशपदार्थे आकांक्षाभावेऽपि क्षत्यभावात् ।

ननु क्रियात्वकारकत्वेतिकर्त्तव्यतात्वानामेव योग्यतावच्छेदकत्वे तत्त्वमसीति महावाक्यस्थले तत्त्वंपदार्थयोः आकांक्षालक्षणाव्याप्तिः तत्त्वंपदार्थयो. क्रियाकारकभावाद्यभावात् इत्यत आह—

अभेदान्वये च समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वं तदवच्छेदकमिति तत्त्वमस्यादिवाक्येषु नाव्याप्तिः ।

अभेदान्वये = अभेदान्वयबोधस्थले । समानविभक्तिकाभ्यां पदाभ्यां उपस्थाप्यत्वं न विशेष्यवाचकपदसमानविभक्तिकविशेषणवाचकपदोपस्थाप्यत्वं विशेषणपदार्थे, विशेषणवाचकपदसमानविभक्तिक-विशेष्यवाचकपदोपस्थाप्यत्व विशेष्यपदार्थे । तथा सति तत्त्वमसीति वाक्यस्थलेऽव्याप्तेर्दुर्वारतापत्तेः । तत्राखण्डपदार्थमात्रबोधाभ्युपगमेन विशेष्यविशेषणभावाभावात् । अभेदान्वये इत्यस्यापि वस्तुतः भेदानन्वयस्थले इत्यर्थः । तेन नीलो घटः तत्त्वमसीत्युभयोरपि लक्ष्यत्वम् । अन्यथा तत्त्वमसीत्यत्र संसर्गविधया प्रकारविधया वा अभेदबोधने अखण्डार्थविषयकत्वानुपपत्त्या तद्वाक्यजन्यबोधे अभेदान्वयबोधत्वाभावेन तादृशस्थलासंग्रहापत्त्याऽसङ्गत्यापत्तेः । तदवच्छेदकम् = जिज्ञासाविषयत्वयोग्यतावच्छेदकम् । तथा चायमर्थः—यदि क्रियात्वकारकत्वादिकमेव सर्वत्र स्याज्जिज्ञासाविषयत्वयोग्यतावच्छेदकं तदा स्यादेव तत्त्वमसीति महावाक्यजबोधजनकोपस्थितविषये तत्त्वं पदार्थे, नीलो घट इत्यादिवाक्यजबोधजनकनीलघटादिपदार्थे च । किन्तु संसर्गाविषयकबोधजनकतत्तद्वाक्यस्थले समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वस्य योग्यतावच्छेदकत्वाभ्युपगमेन तत्त्वंपदयोरुभयोः नीलघटपदयोरुभयोश्च सुविभक्त्यन्ततया समानविभक्तिकत्वेन तत्त्वंपदार्थभूताखण्डवस्तुनः नीलघटपदार्थयोश्च समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वरूपयोग्यतावच्छेदकधर्मवत्तया निरुक्तजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वस्य तत्राक्षतेर्नाव्याप्त्यवकाशः । अवच्छेदस्तावच्छेदकनियतत्वात् ।

समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वरूपावच्छेदक – जिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वरूपे अभेदान्वयस्थलीयाकाक्षालक्षणे कर्ममीमांसासम्वादमाह—

एतादृशाकांक्षाभिप्रायेणैव बलावलाधिकरणे "तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्" इत्यत्र वैश्वदेवयागस्य आमिक्षान्वितत्वेन न वाजिनाकांक्षेति व्यवहारः ।

एतादृशाकांक्षाभिप्रायेणैव-समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वावच्छेदकनिरुक्तयोग्यता-रूपाकांक्षाभिप्रायेणैव । बलाबलाधिकरणे-श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणानां प्राबल्यदौर्बल्य-विवेचनात्मके कर्ममीमासादर्शनतृतीयाध्यायस्थेऽधिकरण इति व्यवहार इति व्यवहितेन सम्बन्धः । तेन तप्ते पयसीत्यस्य निरुक्तदर्शनीयद्वितीयाध्याये-एवोल्खात् तृतीयाध्यायस्थबलाबलाधिकरणेऽनुल्लेखेऽपि नासङ्गतिः । अनुल्लेखेऽपि व्यवहारस्य सम्भवात् । उष्णे दुग्धे दधि आतञ्चनभूतं दद्यात् । तथाकृते यः खलु घनीभूतो दुग्धाशः स आमिक्षा पदार्थः । स च वैश्वदेवनामकस्य यागस्य साधनभूतः । यश्च जलबहुलस्तरलो दुग्धाशः तदेव वाजिनद्रव्यम्, वाजिनात्मकवैश्वदेवातिरिक्तयागस्य साधनभूत भवति इति तप्ते पयसीति वाक्यस्य सरलार्थः. । वैश्वदेव्यामिक्षेत्यत्र वैश्वदेव्यामिक्षयोः क्रियाकारकभावो नास्ति समान-विभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वं परमस्तीति नाकाक्षानुपपत्तिरित्यर्थः । **अयं भावः—यद्यभेदान्वयस्थले समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वं जिज्ञासाविषयत्वयोग्यतावच्छेदकं नाभ्युपगम्यते क्रियात्वकारकत्वरूपमेव, तदा न केवलं तत्त्वमसीत्यत्रैवानुपपत्तिः अपितु सा वैश्वदेव्यामिक्षा इत्यत्रापि वैश्वदेवामिक्षयोः क्रियाकारकभावाभावेन अनाकांक्षत्वापत्त्याऽनन्वयेन आमिक्षाद्रव्यस्यैव वैश्वदेवयागसाधनत्वं न तु वाजिनस्येति कर्मिणां निर्णयस्यापि भङ्गापत्तिःस्यात् । तत्त्वमसीत्याद्यर्थं तथोक्तौ तु तादृङ् निर्णयभङ्गापत्तिरपि वारिता भवति इति ।** ननु सर्वत्र क्रियात्वकारकत्वयोः योग्यतावच्छेदकत्वानभ्युपगमेऽपि आमिक्षाया एव वैश्वदेवनामकयागसाधनत्वं न वाजिनद्रव्यस्येत्यत्र नियामकाभावः । आमिक्षेत्यस्येव वाजिनमित्यस्यापि सुविभक्त्यन्ततया समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वस्य आमिक्षायामिव वाजिनद्रव्येऽपि सत्त्वात् ।

इत्याशङ्कते—

तत्रापि वाजिनस्याजिज्ञासाविषयत्वेऽपि तद्योग्यत्वमस्त्येव प्रदेय-द्रव्यत्वस्य यागनिरूपितजिज्ञासाविषयतावच्छेदकत्वात् ।

तत्रापि = वैश्वदेवयागेऽपि । वाजिनस्य = वाजियागसाधनस्य वाजिननामक-द्रव्यविशेषस्य । तद्योग्यत्वं = जिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वम् । प्रदेयेत्यादिना योग्यता-ऽस्तित्वे हेतुरूपदर्शितः । वाजिनद्रव्यनिष्ठस्येति शेषः । यागनिरूपिता या जिज्ञासा, तस्याः या विषयता, तदवच्छेदकत्वादित्यर्थः । अयं भावः—द्रव्यत्यागसाधनकयाग-मात्रे किं द्रव्यं प्रदेयमिति जिज्ञासोदयस्य सर्वानुभवसिद्धतया प्रदेयद्रव्यत्वस्य तादृश-जिज्ञासाविषयतावच्छेदकधर्मभूतस्य च आमिक्षायामिव वाजिनेऽपि सत्त्वात् कथं न वाजिनद्रव्यस्य वैश्वदेवयागेनान्वयः तदङ्गतयेति ।

समाधत्ते—

इति चेन्न । स्वसमानजातीयान्वयबोधविरहसहकृत-प्रदेयद्रव्यत्वस्यैव तदवच्छेदकत्वेन वाजिनद्रव्यस्य स्वसमानजातीयान्वयबोधसहकृतत्वेन तादृशावच्छेदकभावात् ।

स्वं अन्वयित्वेनापाद्यःतस्य यः समानजातीयः तेन योऽन्वयः, तस्य यो बोधः तस्य च यो विरहः = अभावः, तत्सहकृतं यत्प्रदेयद्रव्यत्वं तस्यैवेत्यर्थः । तदवच्छेदक-त्वेन = जिज्ञासाविषयत्वयोग्यतावच्छेदकत्वेन । स्वसमानजातीयान्वयबोधविरह-सहकृतत्वेन वाजिनद्रव्यस्य तादृशावच्छेदकाभावादित्यन्वयः । स्वं वाजिनद्रव्यम् तत्समानजातीयः = आमिक्षा, तस्य यो वैश्वदेवयागेन सहान्वयः, तद्बोधसहकृतत्वेन इत्यर्थः । अयं भावः—प्रदेयद्रव्यत्वमात्रं यदि यागनिरूपितजिज्ञासाविषयत्वयोग्यता-वच्छेदकमभ्युपगम्यते स्यादापत्तिरामिक्षाया इव वाजिनस्यापि अन्वयापत्तिर्वैश्व-देवयागे, परन्तु तन्नाभ्युपगम्यते । अपि तु स्वसमानजातीयान्वयबोधविरहसहकृत-प्रदेयद्रव्यत्वम्, तन्नास्ति वाजिने इति न तदन्वयापत्त्यवकाशो वैश्वदेवयागे । कथं तन्नास्ति वाजिन इति चेत् ? इत्थम्—सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिन-मित्यत्र सा वैश्वदेव्यामिक्षेति श्रवणादेव श्रोतुः वैश्वदेवयागः आमिक्षा—द्रव्याङ्गकः इति बोधो जायते तदनन्तरं वाजिनमिति वाक्यं श्रुतं भवति । तथा च वाजिद्रव्य-बोधात् पूर्वमेव वैश्वदेवयाग आमिक्षान्वित इति बोधस्य वृत्तत्वेन वाजिनद्रव्यसमान-जातीय[illegible] सहकृतं प्रदेयद्रव्यत्वं वाजिने अवगम्यते । ननु तादृशबोध-

विरहसहकृतं प्रदेयद्रव्यत्वम्, इति अवच्छेदकभूतस्य निरुक्तबोधविरहसहकृत-प्रदेयद्रव्यत्[illegible]च्छेदकस्याभावप्रयुक्तायाः तदवच्छेद्याया योग्यतारूपायाः आकांक्षाया वाजिने अभावेन नावकाशो वैश्वदेवयागे वाजिनान्वयस्य ।

ननु पूर्वोक्तस्य "एतदभिप्रायेणैव" इति ग्रन्थस्य कोऽर्थः ? यदि प्रदर्शितरूपः तदा निरुक्तप्रदेयद्रव्यत्वरूपयोग्यतावच्छेदकोक्तिः, तदा तादृशावच्छेदकमादाय वाजिनस्य वैश्वदेवयागानन्वयप्रश्नतत्समाधाने असङ्गते । यदि च प्रदेयद्रव्यत्वघटिताकांक्षाभि-प्रायेणेति तदर्थः तदा एतादृशेति पदोल्लेखासङ्गतिः पूर्वोदाहृत एव तथा व्यवहारात् इति चेत् "एतादृश" पदेन समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वघटिताकांक्षायोग्यताया एव ग्रहणम् । आमिक्षावैश्वदेव्योः तादृशाकाक्षासद्भावप्रयुक्तमेव निरुक्तबोधासहकृत-प्रदेयद्रव्यत्वस्य वाजिने अभावः सम्पद्यते । यदि क्रियात्वकारकत्वादिकमेव सर्वत्र योग्यतावच्छेदकमभ्युपेतं स्यात् तदा वैश्वदेव्यामिक्षेति श्रवणेऽपि श्रोतुर्न स्यात्कथमपि वैश्वदेवयागे आमिक्षान्वयबोधः, इति तत्सहकृतप्रदेयद्रव्यत्वमेवावगच्छेत् वाजिने जनः, अतो निष्कृष्टप्रदेयद्रव्यत्वरूपायाः आकांक्षाया अपि तन्मूलकतया न काप्य-सङ्गतिः ।

वस्तुतस्तु प्रदेयद्रव्यत्वरूपं योग्यतावच्छेदकं व्याप्यम् व्यापकं च समानविभक्ति-कपदप्रतिपाद्यत्वम् । यागासम्पृक्ते हि नीलो घट इत्यादिवाक्यस्थले प्रदेय-द्रव्यत्वाभावेऽपि समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वस्य बोधप्रयोजकत्वात् । तथा च यागस्थलेऽपि व्याप्यभूतेन प्रदेयद्रव्यत्वेन ज्ञापितं समानविभक्तिकपदप्रतिपाद्यत्वं अभेदान्वयबोधनियामकमित्यत्र ग्रन्थतात्पर्यमिति नावकाशो—दोषलवस्येति । यद्वा—एतादृशाकांक्षाभिप्रायेणेत्यस्य पदार्थनिष्ठायाः स्वरूपसत्याः निरुक्तयोग्यतारूपायाः आकांक्षायाः हेतुत्वाभिप्रायेणेत्यर्थः ।

ननु तर्हि आमिक्षायाः कथं वैश्वदेवान्वयः ? इत्याशंकां निराकरोति—

आमिक्षायां तु नैवम् । वाजिनान्वयस्य तदानुपस्थापनात् ।

नैवम् = न स्वसमानजातीयान्वयबोधविरहसहकृतप्रदेयद्रव्यत्वाभावः । तत्र हेतुः वाजिनान्वयस्येत्यादि । तदा = आमिक्षावैश्वदेवयोरन्वयबोधकाले ।

वाजिनान्वयस्यानुपस्थापनादित्यन्वयः । एतेन स्वसमानजातीयान्वयबोधविरहो दर्शितः । **अयं भावः—"सा वश्वदेव्यामिक्षा" इति श्रवणकाले श्रोतुः "वाजिभ्यो वाजिनमिति श्रवणाभावेन वाजिनद्रव्यपदार्थनुपस्थित्या वैश्वदेवयागे तत्तदन्वया-सम्भवेन स्वपदार्थामिक्षासमानजातीय-वाजिनद्रव्यान्वयबोधाभावेन आमिक्षा-निष्ठस्य प्रदेयद्रव्यत्वस्य तादृशबोधविरहसहकृतप्रदेयद्रव्यत्व[illegible]न्नायाः जिज्ञासाविषयत्वयोग्यतारूपायाः आकांक्षायाः आमिक्षापदार्थेऽक्षततया न तस्याः वैश्वदेवयागान्वयानुपपत्तिशङ्काऽपीति ।**

वृत्तमन्यत्रातिदिशति—

उदाहरणान्तरेष्वपि दुर्बलत्वप्रयोजक आकांक्षाविरह एवमेव द्रष्टव्यः ।

अन्यान्युदाहरणानि उदाहरणान्तराणि, तेषु श्रुतिदुर्बलवाक्यातिरिक्तेषु । श्रुत्या-दिदुर्बललिङ्गादिष्वपि इत्यर्थः एवमेव आकांक्षाविरहो दुर्बलत्वप्रयोजको द्रष्टव्यः इत्यन्वयः । **अयमभिप्रायः—श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-स्थान-प्रकरण-समाख्याख्यानि षट्-प्रमाणानि अङ्गाङ्गिभावनिर्णायकानि स्वीक्रियन्ते कर्ममीमांसकैः । तत्र पूर्ववर्त्तिनां परवर्त्यपेक्षया प्राबल्यमिति परवर्त्तिनां पूर्वपूर्वापेक्षया दौर्बल्यमुच्यते तैः । परन्तु वेदान्तिभिः परवर्त्तिनां प्रमाणानां दौर्बल्ये प्रयोजकं न परवर्त्तित्वमात्रापेक्षते अपि तु आकांक्षाविरहः तत्प्रयोजक उच्यते । तत्र श्रुतिप्रमाणापेक्षया वाक्यप्रमाणस्य दौर्बल्यप्रयोजकः आकांक्षाविरहः प्रदर्शितः सा वश्वदेव्यामिक्षेत्यत्र ।** यथाहि—वैश्वदेव्यामिक्षा इत्यत्र तद्धितप्रत्ययश्रवणरूपा श्रुतिः, वाजिभ्यो वाजिनमिति वाक्यम्, तत्र श्रुतिप्रमाणकामिक्षायां आकांक्षासत्त्वं न वाक्यप्रमाणके वाजिनपदार्थे इति आकांक्षाविरहप्रयुक्तमेव दौर्बल्यं फलतो वाक्यप्रमाणस्य सञ्जातम् । अत एव च न वाजिनान्वयो वैश्वदेवे अपि तु साकांक्षामिक्षान्वय एव । एवञ्च सति एवं यत्र श्रुति-लिङ्गाद्योः स्वस्वविषयस्थापनाय एकत्र सन्निपातः तत्र लिङ्गादिदौर्बल्यप्रयोजकः आकांक्षाविरह एवानुसन्धेयः । तथा हि—"ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते" इति स्तवविधिः । ऐन्द्र्या इत्यस्य इन्द्रसम्बन्धिन्या ऋचा इत्यर्थः । उपतिष्ठते इत्यस्य स्तवं कुर्यादित्यर्थः । तत्र कस्य स्तवमित्याकांक्षायां गार्हपत्यमित्यत्र द्वितियाविभक्ति-प्रत्ययश्रवणरूपा श्रुतिः गार्हपत्यनामकमग्निं स्तोतव्यं प्रतिपादयितुं प्रवर्त्तते । किन्तु परतः ऐन्द्र्या इत्यत्र इन्द्रशब्द-प्रकाशनसामर्थ्यरूपरूढ्यात्मकं लिङ्गं इन्द्रं

स्तोतव्यत्वेन प्रतिपादयितुं प्रवर्त्तते। सति चैवं तत्र श्रुतिप्रमाणप्राबल्येन लिङ्गस्य दौर्बल्येन गार्हपत्यस्तवस्यैव विधानमिति सर्वेषां सिद्धान्तः। लिङ्गदौर्बल्यप्रयोजकाकाङ्क्षायां श्रुतिज्ञापनद्वारा स्वार्थसाधकत्वेन प्रत्यक्षश्रुत्यपेक्षया विलम्बेन स्वार्थसाधनप्रवृत्तत्वं दौर्बल्यप्रयोजकमित्यध्वरमीमांसकाः। अस्माभिर्वेदान्तिभिस्तु तत्रापि लिङ्गदौर्बल्यप्रयोजकः आकांक्षाविरह एव वक्तव्यः अनुगमेन लाघवात्। कथं तत्राकाक्षाविरह इति चेत् इत्थम्—कर्ममीमांसकोक्तदिशा इन्द्रस्य स्तुत्यन्वयात्पूर्वमेव गार्हपत्यस्य तदन्वितत्वेन इन्द्रसमानजातीयगार्हपत्यान्वयबोधविरहसहकृतदेवतात्वरूपावच्छेदकाभावेन जिज्ञासाविषयत्वयोग्यतारूपाया आकांक्षायाः लिङ्गे विरह इति।

योग्यतां प्रतिपादयति—

योग्यता च तात्पर्यविषयसंसर्गाबाधः।

तात्पर्यविषयो यः संसर्गः तस्याबाधः = बाधाभावः। तात्पर्य वक्तुः। संसर्गः एकपदार्थप्रतियोगिकः अपरपदार्थानुयोगिकः। बाधः = अभावज्ञानम्। तथा च वक्तृतात्पर्यविषयैक-पदार्थप्रतियोगिकापरपदार्थानुयोगिकसंसर्गज्ञानाभावःश्रोतृनिष्ठो योग्यतेति फलितार्थः। नीलोत्पलमित्यादिवाक्यस्थले "नीलप्रतियोगिकाभेदसंसर्गाभाववदुत्पलम्" इति ज्ञानाभावरूपयोग्यतासत्त्वे सम्भवति बोधः श्रोतुः। असत्त्वे च न भवतीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्याम् तस्याः कारणत्वमभ्युपगम्यते।

योग्यतायाः कारणत्वानुपगमे दोषं सूचयति—

अग्निना सिञ्चेदित्यादौ तादृशसंसर्गबाधात्।

अग्निनेत्यत्र तृतीयायाः करणत्वार्थकतया अग्निकरणकत्वप्रतियोगिकः सेचनानुयोगिकः संसर्गः तादृशसंसर्गः, तस्य बाधात् = अभावज्ञानात् इत्यर्थः। ज्ञानाकारस्तु सेचनं न वह्निकरणताकमित्याकारं। बाधादित्यनन्तरं न बोधापत्तिरिति शेषः। तथा च निरुक्तयोग्यतायाः कारणत्वानभ्युपगमे तत्र-शाब्दबोधापत्तिः स्यादिति भावः।

ननु निरुक्तयोग्यतायाः शाब्दबोधकरणत्वाभ्युपगमे "स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्" इत्यत्र शाब्दबोधानुपपत्तिः। एतद्वाक्यस्य सा प्रजापतिदेवता आत्मनः

= स्वस्य वपां = उदखिदत् = उत्पाटितवती" इति बाधितार्थकत्वेन स्वकीय-वपाप्रतियोगिकोत्पाटनानुयोगिकसंसर्गस्य बाधितत्वेन संसर्गाबाधाभावात् इत्याशङ्का-निरासायाह—

स प्रजापतिपतिरात्मनो वपामुदखिददित्यादावपि तात्पर्यविषय-भूत-पशुप्राशस्त्याबाधात् योग्यता।

स प्रजापतिरितिवाक्यस्य लक्षणया प्रजापतिदेवताकः तूवरपशुः प्रशस्त इत्यर्थः। तात्पर्यविषयभूतं यत् पशुप्राशस्त्यं तस्याबाधात् = तद्बाधाभावात् इति तात्पर्यार्थः। योग्यता इत्यनन्तरं अस्त्येवेति शेषः। अयमर्थः—तात्पर्यविषयभूत एवार्थो वाक्यार्थः। तात्पर्यविषयोऽर्थस्तु पशुप्राशस्त्यम्। तस्य च न बाधितत्वम्, इति पशुप्रतियोगिक-प्राशस्त्यानुयोगिकसंसर्गस्याबाधितत्वेन नोक्तयोग्यतायाः अभावमूलकशाब्दबोधानु-पपत्तिः इति।

नन्वेवमपि तत्त्वमस्यादिवाक्यस्थले शाब्दबोधानुपपत्तिः। सर्वज्ञत्वविशिष्ट-चैतन्यात्मकतत्पदार्थाल्पज्ञत्वविशिष्टचैतन्यात्मक-त्वंपदार्थयोरभेदसंसर्गस्य बाधितत्वेन संसर्गाबाधरूपायाः योग्यतायाः अभावात् इत्याशङ्कां निराकरोति—

तत्त्वमस्यादिवाक्येष्वपि वाच्याभेदबाधेऽपि लक्ष्यस्वरूपाभेदेऽबाधात् योग्यता।

वाच्ययोः सर्वज्ञत्वविशिष्टचैतन्ययाल्पज्ञत्वविशिष्टचैतन्ययोः यः अभेदः, तस्य बाधे-ऽपि = लक्ष्यं यत् स्वरूपं = स्वरूपचैतन्यं, तस्याभेदे बाधाभावात् इत्यर्थः। अयमभिप्रायः- तत्त्वमस्यादिमहावाक्यस्थले न सर्वज्ञत्वविशिष्टचैतन्याल्पज्ञत्वविशिष्टचैतन्ययोर-भेदसंसर्गौ बोधविषयत्वेन तात्पर्यविषयः, अपि तु अखण्डचैतन्यमभिन्नम्। अन्यथा बोधस्य तस्य सविकल्पकत्वापत्तेः। तादृशस्य च तात्पर्यविषयस्याबाधितत्वेन बाधाभावरूपायाः योग्यतायाः सत्त्वेन शाब्दबोधानुपपत्तेरपर्यनुयोज्यत्वात्। न चैवमप्यनुपपत्तिस्तदवस्था। एकस्याभिन्नचैतन्यस्याबाधितत्वेऽपि संसर्गस्य बाधित-त्वात् संसर्गभानस्य पदार्थभेदभाननियतत्वेन तत्र चाभिन्नचैतन्यस्यैव तात्पर्यविषयार्थत्वे

पदार्थद्वयस्यातथात्वेन संसर्गस्याप्यतथात्वात् इति चेत् संसर्गपदस्य तत्सम्भव-स्थलाभिप्रायेणोक्तेः तात्पर्यविषयाबाधस्यैव वस्तुतो योग्यतालक्षणत्वात् इति ।

आसत्तिं निर्वक्ति —

आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्य-पदार्थोपस्थितिः ।

अव्यवधानेनेत्यस्योपस्थितावन्वयः । एकपदजन्यपदार्थोपस्थित्यव्यवहितोत्तर-पदजन्यपदार्थोपस्थितिरित्यर्थः । पदजन्ययोः पदार्थोपस्थित्योरव्यवधानमिति सरलार्थः । एतदकारणत्वे अद्योक्तनीलपदार्थनील-परदिनोक्तोत्पलपदार्थोत्पलयोरप्य-न्वयबोधापत्तिः स्यात् । एतत्कारणत्वे च नापत्ति. पदार्थोपस्थित्योः अव्यवधानरूपायाः आसत्तेरभावात् ।

उपस्थितौ पदजन्यत्वविशेषणस्य कृत्यमाह—

मानान्तरोपस्थापितपदार्थस्यान्वयबोधाभावात् पदजन्येति ।

अन्यन्मानं मानान्तरं शब्दातिरिक्तप्रमाणं तेनोपस्थापितः = स्मारितो यः पदार्थः = वस्तु, तस्य योऽन्वयबोधः = शाब्दबोधः तदभावादित्यर्थः । अयं भावः— यद्यासत्तिघटकोपस्थितौ पदजन्यत्वं न दीयते तदा चक्षुषा समुपस्थापितानां घट-पटादीनामपि शाब्दबोधापत्ति-प्रसङ्गः । न चोपस्थितिरिति वाच्यम् उद्बोधकान्त-रोपस्थापितपदार्थबोधापत्तेर्दुर्वारतापत्तेरिति । पदजन्यत्वं च पदवृत्तिज्ञान-जन्यत्वम् । अन्यथा एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनं स्मारयतीति नियमात् घटपदात् समवायसम्बन्धेनाकाशोपस्थित्या घटमानयेत्यादौ आकाशस्यापि शाब्दबोधविषय-तापत्तेः ।

ननु यत्र वक्त्रा द्वारकमर्कपिधानबोधनेच्छया "द्वारम्" एतावन्मात्रमुक्तं तत्र श्रोतुः पिधानरूपार्थाध्याहारेण द्वारकमर्कपिधानबोधस्यानुभविकत्वेन उपस्थितौ पदजन्यत्वनियमो व्यभिचरितः । इत्यत आह—

अत एवाश्रुततत्तत्पदस्थले तत्तत्पदाध्याहारो द्वारमित्यादौ ।

अत एव = मानान्तरोपस्थितपदार्थस्य शाब्दबोधापत्तेरेव । अश्रुतं तत्तत्पदं यत्र स्थले तत्र । तत्तत्पदं विधेहीत्यादि । अयं भावः—अर्थाध्याहारमात्रेण न शाब्दबोधो भवति किन्तु शब्दाध्यारः कृत्वैव । शाब्दोपयोग्युपस्थितिगतपदजन्यत्वनिवेश-विगमप्रयुक्तलाघवात् यदि तथाभ्युपगमः स्यात्, तदा मानान्तराद्युपस्थापितानामपि पदार्थानां शाब्दबोधापत्तिरुक्ता दुर्निवारा स्यात् इति ।

वैदिकपदाध्याहारस्थलमाह—

अत एव ईषे त्वेत्यादौ छिनद्मीति पदाध्याहारः ।

अत एवेत्यस्यार्थः पूर्ववत् । ईषाच्छेदनाङ्गभूतेषेत्येति मन्त्रार्थबोधोऽपि श्रोतुः छिनद्मीति पदाध्याहारपूर्वक एव भवति । अन्यथाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्या-पातादिति भावः ।

ननु प्रोक्तस्थलयोः पदाध्याहारो भवति न वेति सन्देह एव, विप्रतिपत्तेरित्यत आह—

अत एव विकृतिषु सूर्याय जुष्टं निर्वपामीति पदप्रयोगः ।

अत एव = अनुक्ततत्तत्पदस्थले शब्दाध्याहारादेव । विकृतिषु = समग्राङ्गो-पदेशरहितेषु यागेषु । निर्वपामीति पदप्रयोगः = निर्वपामीत्यत्र सूर्यायेति पदस्यापि प्रयोगः । अयं भावः = प्रकृतियागे "अग्नये जुष्टं निर्वपामी"ति मन्त्रस्य यागाङ्गता भवति । प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्येत्यतिदेशेन, सौर्यनामके विकृतियागे तु प्रोक्तमन्त्रस्याङ्गतायां प्राप्तायां "अग्नये" इति पदस्थाने सूर्यायेति पदं योजयित्वा "सूर्याय जुष्टं निर्वपामी"ति मन्त्रस्य भवत्यङ्गत्वेन प्रयोगः । यदि अर्थस्मृतेरेव महत्त्वं स्यात् तदा तत्रापि सूर्यस्मृत्यैव कार्यसम्पत्त्या सूर्यायेति पदप्रयोगस्य किमपि प्रयोजनं न स्यात् इति । न चेदं वक्तव्यं कर्मणः साङ्गतार्थं प्रोक्तस्थले भवतु प्रयोग-स्यापेक्षा, शाब्दस्थले पदस्य न सप्रयोजनतेति । तथा सति प्रोक्तापत्तेर्दुर्निवारता-पातात् ।

ननु पदजन्यपदार्थोपस्थितिरासत्तिरित्युक्तं तत्र किं नाम पदार्थत्वम् ? कति-विधत्वं च तस्य ? इत्याशङ्कापरिहाराय आह—

पदार्थश्च द्विविधः शक्यो लक्ष्यश्च ।

प्रथमश्चस्त्वर्थः । द्वितीयः समुच्चये । तथा च शक्यलक्ष्यभेदेन पदार्थस्य द्वैविध्यात् शक्यलक्ष्यान्यतरत्वं पदार्थत्वमिति तल्लक्षणं द्योतितम् । न च व्यङ्ग्य-पदार्थासंग्रहः, व्यञ्जनावृत्तेरस्वीकारात् व्यञ्जकपदाभावेन व्यङ्ग्यार्थान्तराभावात् । न च व्यञ्जनानुपगमे "गङ्गायां घोष." इत्यत्र लक्षणया तीरपदार्थोपस्थित्या "गङ्गातीरे घोषः" इति बोधानन्तरं सर्वानुभवसिद्धो घोषे शैत्यबोधो न स्यात् । न स्याच्च पावनत्वानुभव इति वाच्यम् । अनुमानेन तत्सम्पत्तेः । तथा "अयं घोषः शैत्यपावनत्ववान् गङ्गातीरवृत्तित्वात्" इति । अन्वयानवतारे तु अर्थापत्त्यातत्सम्पत्ति-रवसेया ।

ननु शक्यत्वं शक्तियोगित्वम् । तत्र का नाम शक्तिः ? इत्याकांक्षायामाह—

तत्र शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः ।

तत्रेत्यत्र घटकत्वं सप्तम्यर्थः । शक्यत्वं च तत्पदार्थः । तथा च शक्यत्वघटिकेति तदर्थः । अर्थेषु पदानां मुख्या वृत्तिः शक्तिरित्यन्वयः । अर्थेषु इत्यत्र सप्तम्यर्थो वृत्तित्वम् । पदानामित्यत्र षष्ठ्यर्थः प्रतियोगिकत्वम् । तथा चार्थवृत्तिः पदप्रति-योगिका मुख्या वृत्तिः शक्तिरित्यर्थः । वृत्तिरित्यस्योपस्थापकः सम्बन्ध इत्यर्थः । मुख्यत्वञ्च वृत्तौ शक्यप्रतियोगिकत्वम् । तेन लक्षणानिराकरणम् । तस्याः शक्यसम्बन्धत्वेन शक्यप्रतियोगिकत्वात् । तथा चार्थनिष्ठः पदप्रतियोगिकः शक्य-सम्बन्धभिन्नः पदार्थोपस्थापकः सम्बन्धः शक्तिरिति तदर्थः । लक्षणन्तु शक्याप्रति-योगिकपदार्थोपस्थापकसम्बन्धत्वमात्रम् । अधिकन्तु वस्तुस्थितिज्ञापनाय ।

लक्ष्ये लक्षणसमन्वयं दर्शयति—

यथा घटपदस्य पृथुबुध्नोदराद्याकृतिविशिष्टे वस्तुविशेषे शक्तिः ।

पृथू यौ बुध्नोदरौ, तदाद्या या आकृतिः = आकारः, तद्विशिष्टे = तद्युक्ते । बुध्नो मूलम् । वस्तुविशेषे = विलक्षणवस्तुनि । अयं भावः—श्रोतृविशेषः घटपदं श्रुत्वा घटं स्मरति । तच्च घटस्मरणं घटे घटपदशक्त्यनभ्युपगमे नावकल्पते । अतः घटपदस्य निरुक्तलक्षणा शक्तिः स्वीकार्या, इति ।

ननु शक्तिरियं न्यायवैशेषिकमत इव सङ्केतरूपा वा, कर्ममीमांसकमत इव पदार्थान्तरं वेति जिज्ञासायामाह—

सा च शक्तिः पदार्थान्तरम्।

सा = अव्यवहितपूर्वोक्ता। पदार्थान्तरं = स्वतन्त्रपदार्थभूता। न तु न्यायादिमत इव इच्छादिरूपा। अपि तु कर्ममीमांसादर्शन इव पदार्थान्तररूपैवेति भावः।

ननु पदार्थान्तरतायां गौरवात् कुतो न सङ्केतरूपतैवेति शङ्कायामाह—

सिद्धान्ते कार्यानुकूलशक्तिमात्रस्यैव पदार्थान्तरत्वात्।

सिद्धान्ते = वेदान्तसिद्धान्ते। कार्यं प्रति अनुकूला या शक्तिः तन्मात्रस्यैवेत्यर्थः। मात्रपदमशेषतार्थकं। तथा च कार्यानुकूला या अशेषशक्तिरित्यर्थः। आनुकूल्यं जनकतावच्छेदकत्वरूपम्। पदार्थान्तरत्वात् स्वतन्त्रपदार्थत्वात्। अय भावः—**कर्ममीमांसकमत इव वेदान्तमतेऽपि कार्यमात्रं प्रत्यनुकूलशक्तिमत्त्वेनैव लाघवात् कारणत्वमिति शक्तेर्जनकतावच्छेदकत्वम्। तथा च मृदादौ** [illegible]**तावच्छेदकशक्तेरिव पदेऽपि बोधजनकतावच्छेदकशक्तिरवश्यस्वीकर्त्तव्यतया सङ्केतादिरूपशक्त्यन्तरस्य कल्पनानर्थक्यात् गौरवपराहतत्वात्** इति, अस्मिन्नेव मते लाघवम्। किं च अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति सङ्केतस्य शक्तित्वे गङ्गायां घोष इत्यत्र गंगापदात् तीरं बोद्धव्यमिति सङ्केतमादाय तीरस्य गङ्गापदवाच्यत्वापत्तिः। यदीश्वरसङ्केतः शक्तिः, ईश्वरस्य न तादृशः सङ्केत इत्युच्यते तदा ईश्वरमनभ्युपगच्छतां पदार्थबोधानुपपत्तिः। सादिदेवदत्तादिवाच्यदेवदत्तादावव्याप्तिश्च। तत्र "देवदत्तपदाद्देवदत्तो बोद्धव्यः" इत्याकारिकायाः भगवदिच्छायाः अभावात् न च परिभाषया तत्र बोध इति वाच्यम्। तदधिककल्पनया गौरवापत्तेः। न च सङ्केतेऽनादित्वं विशेषणं देयं तथा च न लक्ष्येऽतिव्याप्तिः। स्वारसिकलक्ष्ये ततोऽतिव्याप्तिवारणसम्भवेऽपि निरूढलक्ष्येऽतिव्याप्तेर्दुर्वारत्वात्। तत्र तादृशसङ्केतस्यानादित्वात्। "अस्माच्छब्दादयमर्थो बोध्यः" इति सङ्केतस्य शक्तित्वं तु कैमुतिकन्यायपराहतम्। वाक्यार्थस्यापि वाच्यत्वापत्तेः। तदाकारवक्तृत[illegible] तादृशसङ्केतत्वात्। सङ्केतस्य शक्तित्वे तस्यान्तःकरणनिष्ठतया असम्भवोऽतिव्या-

प्तिश्चेति तु न सदुत्तरम् । विशेष्यतासम्बन्धस्य तैः तदाश्रयतानियामकत्वाङ्गीकारेण तद्दूषणासम्भवात् ।

ननु बोधजनकतावच्छेदिकायाः शक्तेः शब्दगतत्वेन अर्थनिष्ठत्वोक्त्यसङ्गतिरिति चेत् पदनिरूपताया एव शक्तेः अर्थे अनुपयोगितया विद्यमानत्वेन सम्बन्धभेदेन एकस्या एव शक्तेः वाच्यत्ववाचकत्वोभयरूपत्वसम्भवात् । इत्यलमधिकेन ।

ननु किम्प्रमाणसिद्धा सा शक्तिरित्याकाक्षायामाह—

सा च तत्तत्पदजन्यपदार्थज्ञानरूपकार्यानुमेया ।

सा = पदनिष्ठा शक्तिः । तत्तत्पदजन्यं यत्पदार्थज्ञानं तद्रूपं यत्कार्यं तदनुमेया इत्यर्थः । "पदं अर्थज्ञानजनकतावच्छेदकवत् अर्थज्ञानजनकत्वात् अन्तःकरणवत्" इत्याद्यनुमानाकारोऽवसेयः । यदि च पदार्थज्ञानरूपकार्यानुमेयेति लेखविरोध इति विभाव्यते तदा जनकत्वं हेतुतावच्छेदकसम्बन्धीकृत्य पदार्थज्ञानस्यैव हेतुत्वं ग्राह्यम् ।

शक्यत्वं परिचाययति—

तादृशशक्तिविषयत्वं शक्यत्वम् ।

तादृशी या शक्तिः तद्विषयत्वं = तदाश्रयत्वमित्यर्थः । तादृशी = पदार्थान्तररूपा उपस्थितिजनकतावच्छेदकरूपा वा । जनकतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धो निरूपकत्वम् ।

ननु कस्य घटादिपदशक्यत्वम् ? जात्याकृतिव्यक्तीनाम् त्रयाणां द्वयोर्वा एकस्य वा ? अन्त्येऽपि केवलं जातेः आकृतेर्व्यक्तेर्वा ? इति जिज्ञासानिरासायाह—

तच्च जातेरेव ।

तच्च = शक्यत्वं च । एवकारेण जात्यन्यस्य शक्यत्वव्यवच्छेदः । ननु ब्रह्मभिन्ननित्यानभ्युपगमेन समवायासिद्ध्या च नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वरूपपरलक्षणलक्ष्यभूतायाः जातेरत्र सिद्धान्तेऽनभ्युपगमात् कथं जातेरेवेति लिखनं सङ्गच्छते

इति चेत्सत्यम् । प्रकृते जातिपदस्य सामान्यपरत्वाभ्युपगमात् । अत एव न गगनत्वादेर्गगनपदवाच्यत्वानुपपत्तिः । न चैवमप्यसङ्गतिः गगनत्वादेरेकव्यक्तिकत्वेन सामान्यत्वस्याप्यभावात् । समानानां भावः सामान्यमिति व्याख्यया अनेकवृत्तिधर्मस्यैव सामान्यत्वात् गगनत्वादेस्तथात्वाभावात् इति वाच्यम् । जातिपदस्य प्रकृते प्रवृत्तिनिमित्तमात्रार्थकत्वात् । न च तथाप्यनुपपन्नं प्रवृत्तिनिमित्तस्य शक्यतावच्छेदकरूपत्वेन शक्यत्वासम्भवादिति वाच्यम् । परमते तथात्वेऽपि मतेऽस्मिन् शक्यस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । प्रवृत्तिनिमित्ते कथञ्चिच्छक्यत्वस्य परैरप्युपगमात् । अन्यथा "वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितीयप्रकारताश्रयत्वमि" ति प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणे वाच्यत्वविशेषणदानं तेषामसङ्गतं स्यात् इति ।

एवपदव्यवच्छेद्यं स्पष्टयति—

न व्यक्तौ ।

शक्यत्वं न व्यक्तौ इत्यर्थः । व्यक्तिपदञ्चात्राकृतेरप्युपलक्षकम् तेन नैवकारासङ्गतिः । एवकारस्य स्वसमभिव्याहृतपदार्थान्यमात्रव्यवच्छेदकत्वव्युत्पत्तेः । कुतो न व्यक्तौ शक्तिरुपेयते ? इत्याशङ्कापरिहाराय हेतुमाह—

व्यक्तीनामानन्त्येन कल्पनागौरवात् ।

व्यक्तीनाम् = गवादिधर्मिणाम् । आनन्त्येन = असंख्यत्वेन । कल्पनागौरवात् = अनन्तशक्तिकल्पनागौरवप्रसङ्गात् । अयम्भावः—यदि गवादिपदानां गोत्वादिसामान्ये शक्तिमनङ्गीकृत्य गवादिव्यक्तावेव शक्तिरङ्गीकृता स्यात् तदा व्यक्तिभेदात् शक्तिभेदेन असंख्यगवादिव्यक्तिनिष्ठ[illegible] कल्पनागौरवं स्यात् । सकलगवाद्यनुगतगोत्वादौ शक्तिस्वीकारे तु न व्यक्तिभेदप्रयुक्तशक्तिभेदस्वीकारमूलककल्पनागौरवावकाशः । यदि शक्त्यानन्त्यभयात् यत्किञ्चिद् गवादिव्यक्तिविशेष एव शक्तिरङ्गीकृता स्यात् तदा गवादिपदात् सकलगवादिबोधानुपपत्तिरापतिता स्यात् । न चेष्टा सेति शक्यते वक्तुमनुभवविरोधात् इति । शङ्कते—

कथं तर्हि गवादिपदाद् व्यक्तिभानम् ?

तर्हि = व्यक्तिशक्यत्वानुपगमे । व्यक्तिभानम् = गवादिवस्तुभानम् । अयं भावः—शाब्दबोधविषयत्वे वाच्यत्वस्य प्रयोजकता ध्रुवमुपेया । अन्यथा घटपदात्

पटबोधस्य दुर्वारतापत्तेः । सति चैवं व्यक्तिशक्त्यनभ्युपगमे वाच्यतास्वरूपप्रयोजकाभावेन बोधविषयताऽपि व्यक्तेः पराङ्मुखी स्यात् । न चेष्टत्वं शक्यते वक्तुम्, 'गां दद्यादित्यादौ" गोव्यक्तिकर्मकदानविधेयतायाः सर्वानुभवसिद्धत्वात् इति ।

समाधत्ते—

इति चेन्न । जातेर्व्यक्तिसमानसम्वित्संवेद्यत्वात् ।

समाना या सम्वित् तत्सम्वेद्यत्वादित्यर्थः । समानत्वं एकत्वं अनयोः समानाभासेतिवत्, सम्वेद्यत्वं विषयत्वं । सम्वित्पद ज्ञानार्थकम् । तथा चैकज्ञानविषयत्वात् इत्यर्थः । अयं भावः—अग्नेरौष्ण्यमिव गोत्वादिसामान्यानामयं स्वभावो यत् व्यक्तिधर्मतयैव ते बोधविषयतां भजन्ते न स्वातन्त्र्येणेति, यदा पदाज्जातिभानं तदा नियमतो व्यक्तेरपि भानमिति नानुपपत्तिर्व्यक्तौ बोधविषयतायाः । एतेन जातेरिति हेतुग्रन्थासङ्गतिः फलतः जातौ व्यक्तिज्ञानविषयत्वानुपपत्तेरेव पूर्वपक्षत्वादिति पराहतम् तस्य व्यक्तिभाननियामकजातिगतस्वभावास्तित्वप्रदर्शनपरत्वात् ।

शक्तिद्वैविध्यस्वीकारेण उत्तरान्तरमाह—

यद्वा गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती न तु ज्ञाता । जातौ तु सा ज्ञाता ।

व्यक्तौ गवादिपदानां स्वरूपसती शक्तिः ज्ञाता तु नेति सम्बन्धः । अयं भावः—पदशक्तिर्द्विविधा ज्ञाता अज्ञाता च । या पदार्थबोधजनकोपस्थिति[illegible] सा ज्ञाता । या च निरुक्तज्ञानाविषयाऽपि दाहे अग्निगतौष्ण्यमिव स्वरूपतः पदार्थोपस्थित्यनुकूला सा अज्ञाता । सति चैवं व्यक्तौ शक्त्यभ्युपगमेऽपि सा द्वितीयैव न तु प्रथमा । अतः जातिगताया एव शक्तेर्ज्ञानं शाब्दबोधानुकूलं न तु व्यक्तिनिष्ठशक्तेरिति । एतत्कल्पफलितार्थमाह—

न तु व्यक्त्यंशे शक्तिज्ञानं कारणम् । गौरवात् ।

न तु कारणमिति सम्बन्धः । अयं भावः—कथंचित् व्यक्तौ शक्तिस्वीकाराग्रहेऽपि जातिगत[illegible]स्य कारणतामभ्युपेत्य बोधान्न कार्यनिर्वाहे गौरवापादकस्य व्य[illegible]स्य सर्वथा प्रयोजनविरह एव ।

ननु यदभावप्रयुक्तो यत्कार्यविरहः तस्य तत्कार्यं प्रति हेतुत्वमावश्यकम् । सति चैवं व्यक्तिशक्तिज्ञानं विना शाब्दबोधाभावे, व्यक्तिशक्तिज्ञानस्यापि शाब्दबोधकारणत्वं पदार्थोपस्थितिद्वारकमभ्युपगन्तव्यमेवेति कथं व्यक्तिशक्तेरज्ञातत्वमित्यत आह—

जातिशक्तिज्ञाने सति व्यक्तिशक्तिज्ञानं विना व्यक्तिधीविलम्बाभावाच्च।

जातौ या शक्तिः तस्याः ज्ञाने सति। व्यक्तौ या शक्तिः तस्याः ज्ञानं विना। व्यक्तेर्या धीः शाब्दबोधः तत्र यो विलम्बः = व्यक्तिशक्तिज्ञानापेक्षित्वं तदभावादित्यर्थः । अयं भावः—यदि गोत्वं गो[illegible] जातिशक्तिज्ञानसत्वेऽपि "गौर्गोपदशक्या" इति व्यक्तिशक्तिज्ञानाभावे "गौः" इति शाब्दबोधाभावः सर्वानुभवसिद्धः तर्हि स्यादेव व्यक्तावपि शक्तिः ज्ञाता। तादृशशक्तिज्ञानं च शाब्दबोधकारणम्। स एव तु नास्ति, इति कथं कार्यव्यतिरेकप्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्वरूपं कारणत्वं गवादिव्यक्तिशक्तिज्ञानस्य स्वीकार्यम् ? कथं च स्वीकार्या व्यक्तिशक्तेर्ज्ञातता ? इति।

ननु व्यक्तिशक्तिर्ज्ञाता शक्तित्वात् जातिशक्तिवत् इत्यनुमानेन व्यक्तिशक्तेर्ज्ञातत्वमनुमेयमित्याशङ्क्याह—

अत एव न्यायमते अन्वये शक्तिः स्वरूपसतीति सिद्धान्तः।

अत एव = शक्तित्वस्य ज्ञातत्वव्यभिचारादेव । न्यायमते = गौतममते । अपिना – वैशेषिकपरिग्रहः । अन्वये = शक्तिभास्यसम्बन्धे । स्वरूपसती = अज्ञाता । सिद्धान्तः अभ्युपगमः । अयं भावः—या या शक्तिः सा सा ज्ञातेति न शक्यतेऽभ्युपगन्तुम् गो गोत्वादेः समवायादिसम्बन्धे व्यभिचारात्। न खलु तत्र शक्तिरेव नास्तीति शक्यते वक्तुं तार्किकैः " जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थाः " इति सूत्रेण सम्बन्धेऽपि शक्तिस्वीकारात्। आकृतिपदस्य सम्बन्धपरत्वात् । न च तत्रापि ज्ञातैव सेति शक्यते वक्तुम् गोपदं गोत्वावच्छिन्ने शक्तमिति जा[illegible]तैः शाब्दबोधस्वीकारात् । तथा च समवायादौ विद्यमानायां शक्तौ व्यभिचारिणा शक्तित्वहेतुना नाशंकालेशोऽपि व्यक्तिशक्तेर्ज्ञातत्वसाधनस्येति। यदि चाकृतिर्न गो-

गोत्वसमवायः अपि तु अवयवसंयोगः तदा तत्रैव व्यभिचारः । वस्तुतस्तु गुणकर्मादिपदस्थले नावयवसंयोगस्याकृतिवाच्यत्वसम्भवः, इति प्रोक्तसूत्रस्थाकृतिशब्दस्य शक्तिभास्यसम्बन्धमात्रार्थकत्वं वक्तव्यम् । तथा च द्रव्यादिपदस्थले द्रव्यद्रव्यत्वादिसमवायावयवद्वयसंयोगयोरुभयोः आकृतिशब्दवाच्यता । गुणादिपदस्थले तु समवायमात्रे सेति तत्र तत्र प्रोक्तनियमस्य व्यभिचारो बोध्यः ।

ननु मास्तु व्यक्तौ शक्तिर्ज्ञाता । तावताऽपि शक्त्याश्रयत्वरूपं शक्यत्वं व्यक्तेर्दुर्वारमिति कथ जातावेव वाच्यत्वमिति डिण्डिमघोषः ? स्वरूपसत्त्याः शक्तेः त्वयाऽपि व्यक्तौ स्वीकारात् इत्यत आह–

ज्ञायमानशक्तिविषयत्वमेव वाच्यत्वमिति व्यक्तिरेव वाच्या ।

ज्ञायमाना या शक्तिः तद्विषयत्वं = तदाश्रयत्वम् । अवाच्या वाच्यभिन्ना । अयं भावः–नहि शक्त्याश्रयत्वं वाच्यत्वमिति तल्लक्षणमुच्यतेऽस्माभिः, येनावाय शक्ति स्वरूपसतीं तदाश्रयत्वेनापन्नं स्यात् वाच्यत्वं गवादिव्यक्तेः । अपि तु ज्ञान–विषयशक्त्याश्रयत्वम् । तन्नास्ति व्यक्ताविति न दोष इति । न च स्वरूपसत्त्यामपि शक्तौ अनुमितिशाब्दादिविषयत्वमादाय ज्ञातत्वमस्त्येवेति शङ्कनीयम् । ज्ञानविषयतेत्यत्र ज्ञानपदेन शाब्दबोधजनकज्ञानस्य विवक्षितत्वात् । न चैवमपि "स्वरूपसती शक्तिः" इति वाक्यजन्योपस्थितिमादाय दोषतावदवस्थ्यम् । पदार्थबोधपदेन शक्तिपदार्थातिरिक्तपदार्थबोधस्य विवक्षितत्वात् ।

सामान्यतः शक्त्याश्रयत्वमेव शक्यत्वमिति तन्निर्वचनमनुसृत्यापि न व्यक्तेर्वाच्यतेत्यभिप्रायेणाह–

अथवा व्यक्तेर्लक्षणया लाभः ।

व्यक्तेः = गवादेः । लक्षणया = लक्षणानामकवृत्त्या लाभः । = शाब्दबोधानुकूलपदार्थोपस्थितिः । अयं भावः–यदि न ज्ञानशक्त्याश्रयत्वं शक्यत्वमपि तु शक्त्याश्रयत्वमात्रम्, तावतापि न व्यक्तेर्वाच्यतापत्तिः येन जातिशक्तिवादः स्यान्निराकृतः । शक्त्यनभ्युपगमे कथं "गां दद्यात्" इत्यादौ गवादिव्यक्तेरुपस्थितिशाब्दबोधौ ? इति चेत् न ज्ञानद्वारकया शक्त्या, अपि तु तथाभूतया लक्षणया । तथा च स्वरूपसत्त्या अपि शक्तेर्व्यक्तावनभ्युपगमेन न तदाश्रयत्वरूपवाच्यत्वस्यापत्त्यवकाशस्तत्रेति ।

दृष्टान्तप्रदर्शनेन व्यक्तौ लक्षणामुपपादयति–

यथा नीलो घट इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुणविशिष्टे लक्षणा । तथा जातिवाचकस्य तद्विशिष्टे लक्षणा ।

इत्यत्र = इति वाक्यस्थले । नीलो गुणः = नीलरूपम् । तद्विशिष्टे = तदाश्रये घटादौ । जातिवाचकस्य = जातिशक्तिकस्य । तादृशशक्तिनिरूपकस्येत्यर्थः । पदस्येति शेषः । **अयं भावः—नीलो घट इति वाक्यं श्रुत्वा श्रोता नीलाभिन्नो घट इति बोधं करोति यच्च नोपपद्यते नीलघटशक्त्याश्रयणेन । नीलपदस्य नीलरूपात्मकगुण एव शक्तया तेन सह च घटस्य तद्धर्मिणोऽभेदासम्भवात् । अतः श्रोता लक्षणानामिकां वृत्तिमपाश्रित्य नीलपदेन नीलरूपगुणयुक्तं घटं स्मृत्वा तदभिन्नं घटं जानाति । तथा गां दद्यावित्यादिस्थलेऽपि गोपदशक्तेः गोत्वजातावेव विद्यमानत्वेऽपि शक्यभूतगोत्वजात्याश्रयतया लक्षणावृत्त्या गोव्यक्तिं स्मृत्वा गोकर्मकदानक्रियामर्हति ज्ञातुमिति नाङ्गीकार्या स्वरूपसत्यापि पदशक्तिः गवादिव्यक्तौ । तथा च न शक्त्याश्रयत्वमूलको व्यक्तौ वाच्यत्वापत्तिः इति ।** इदं च क्वचित् कोशस्थशक्त्यग्राहकतामुपगम्य । अन्यथा "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तुतद्वती"तिकोशेन शक्त्यैव नीलपदात् तद्विशिष्टद्रव्योपस्थितिरिति नोदाहरणमिदम् ।

ननु लक्षणावृत्तिज्ञानाधीनैव गवादिव्यक्त्युपस्थितिः न शक्तिज्ञानाधीना इत्यत्र विनिगमकाभावेन कथं तत्र शक्त्यनाश्रयत्वनिश्चयः ? इत्यत आह–

तदुक्तं अनन्यलभ्यः शब्दार्थः इति ।

अभियुक्तैरिति शिष्टेनोक्तमित्यस्य सम्बन्धोऽवसेयः । अन्यया = शक्तिभिन्नया वृत्त्या न लभ्यः = नोपास्थाप्यो यः सोनन्यलभ्यः । एतादृश एव वस्तुविशेषः शब्दार्थः = शब्दस्य वाच्यः । अर्थात् पदनिरूपितशक्त्याश्रयः इत्यर्थः । **अयं भावः—यत्र गौणोपायावलम्बनेन न कार्यसम्पादनं तत्रैव मुख्योपायावलम्बनमिति** लोकसिद्धम् । **तथा च यदि गौण्या लक्षणावृत्त्यैव व्यक्तिवस्तूपस्थितिशाब्दबोधनिर्वाहसम्भवः तदा कथं तत्र मुख्या शक्तिवृत्तिरङ्गीकार्येति ।** सति चैवं तस्याः शक्त्याश्रयत्वं येन सम्पद्येत तत्र वाच्यत्वम् ।

अवसरसङ्गत्या लक्ष्यपदार्थोऽधुना निरूप्य इति प्रतिजानीते–

अथ लक्ष्यपदार्थो निरूप्यते ।

अथ = शक्यपदार्थनिरूपणानन्तरम् । निरूप्यते इत्यनन्तरं मयेति शेषः । तथा च मत्कर्तृकजिज्ञासुबोधानुकूलव्यापारविषयः, इति तदर्थः ।

प्रतिज्ञानुरूपं लक्ष्यलक्षणमाह–

तत्र लक्षणाविषयो लक्ष्यः ।

तत्र = शक्यलक्ष्ययोः । यद्वा = प्रतिज्ञायां सत्याम् । लक्षणायाः विषयः = आश्रयः । तथा च लक्षणाश्रयत्वं लक्ष्यत्वम् इति लक्ष्यलक्षणम् । लक्षणापदार्थः कः इति चेत् पदबोध्यसम्बन्धः । "गङ्गायां घोषः" इत्यत्र गङ्गापदबोध्यो भगीरथरथखातावच्छिन्नो जलप्रवाहः, तस्य सामीप्यनामकः सम्बन्धोऽस्ति तीरे, इति गङ्गापदस्य निरुक्तप्रवाहे शक्तिरिव तीरे लक्षणावृत्तिरस्ति । तत एव गङ्गापदश्रुत्या श्रोता स्वबोध्यप्रवाहसामीप्यसम्बन्धस्यानुयोगिनं तीरं स्मृत्वा गङ्गातीरे घोष इति बोधं करोति । **ननु शक्यसम्बन्ध इत्यनुक्ता स्वबोध्यसम्बन्ध इत्युक्तौ किं बीजमिति चेत् तथा सति अर्थवादवाक्यलक्ष्यार्थभूतयोः स्तुतिनिन्दयोरव्याप्त्यापत्तेः । वाक्यस्य कुत्राऽपि शक्त्यभावेन शक्यसम्बन्धरूपायाः लक्षणायाः निरुक्तस्तुतिनिन्दयोरभावात्** । वक्ष्यते चायमर्थः स्वयमपि ग्रन्थकृता । तथा च पदं लक्षकं, अर्थो लक्ष्यः । पदं तु सुबन्तादिरूपमेव ग्राह्यं न तु शक्तिनिरूपकं येन वाक्यस्य पदत्वानुपपत्त्या बोध्यत्वनिवेशेऽपि वाक्यार्थभूतयोः निन्दास्तुतयोरव्याप्तिमाशङ्कितं स्यात् ।

उद्दिष्टस्य लक्षणं लक्षितस्य विभागवचनमित्यभियुक्तोक्तिदिशा लक्षणाविभागमाह–

लक्षणा द्विविधा केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति ।

द्विविधा = द्विप्रकारा । केवला लक्षणा केवललक्षणा । लक्षितस्य लक्षणा लक्षितलक्षणा ।

ननु किं नाम कैवल्यं लक्षणायाम् ? इत्याकांक्षायामाह–

तत्र शक्यसाक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा ।

तत्र=द्वयोर्मध्ये । शक्यस्य साक्षात्सम्बन्धः शक्यसाक्षात्सम्बन्धः । सम्बन्धे साक्षात्त्वं च सम्बन्धान्तराप्रयोज्यत्वम् । तदेव सम्बन्धरूपायां लक्षणायां कैवल्यम् । शक्यपदमत्र पदबोध्यपरं बोध्यमिति प्रागेवोक्तमस्माभिः ।

उदाहरणेन लक्षणस्य समन्वयमुपदर्शयति—

यथा "गङ्गायां घोष" इत्यत्र प्रवाहसाक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गङ्गापदस्य केवललक्षणा ।

प्रवाहसाक्षात्सम्बन्धिनि=प्रवाहस्य यः साक्षात्सम्बन्धः=सामीप्यसम्बन्धः तद्वति । इदं तीरे इत्यस्य विशेषणम् । **अयं भावः—गङ्गापदस्य यः शक्यार्थः प्रवाहः तन्निरूपितः सामीप्यात्मकः सम्बन्धः तीरे विद्यते । अतः गङ्गापदस्य तीरे या लक्षणा सा भवति केवललक्षणा । सामीप्यस्य सम्बन्धान्तरागर्भशरीरतया सम्बन्धान्तराप्रयोज्यत्वरूपस्य साक्षात्वस्याक्षतत्वात् ।**

लक्षितलक्षणामाह—

यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिः तत्र लक्षितलक्षणा ।

यत्र यादृशस्थले । शक्यस्य बोध्यस्य यः परम्परासम्बन्धः, तेन, अर्थात् तदनुयोगितया । अर्थान्तरस्य=शक्यभिन्नार्थस्य ।प्रतीतिः बोधः । यत्र=तादृशस्थले । तथा च स्वबोध्यनिरूपितपरम्परासम्बन्धः शब्दस्य अर्थनिष्ठा लक्षतिलक्षणा । सम्बन्धे परम्परात्वं च सम्बन्धान्तरप्रयोज्यत्वम् ।

उदाहरणमाह—

यथा द्विरेफपदस्य रेफद्वययुक्तभ्रमरपदघटितपरम्परासम्बन्धेन मधुकरे वृत्तिः ।

रेफद्वययुक्तं यत् भ्रमरपदं, तद्घटितो यः परम्परासम्बन्धः तेन । युक्तत्वं घटितत्वम् । सम्बन्धे भ्रमरपदघटितत्वं तु भ्रमरपदवाच्यत्वरूपम् । सम्बन्धेनेत्यत्र तृतीयार्थोऽभेदः । वृत्तौ तदन्वयः । द्विरेफपदस्य स्ववाच्यरेफद्वय[illegible]सम्बन्धरूपावृत्तिः मधुकरपदार्थे तिष्ठति, सैव द्विरेफपदस्य लक्षितलक्षणा । द्विरेफपदेन लक्षितं यत् भ्रमरपदं, तस्य सम्बन्धरूपा या लक्षणा सा भ्रमरवस्तुन्यस्ति ।

उक्तस्य च सम्बन्धस्य सम्बन्धान्तरप्रयुक्तत्वात् परम्परात्वम्। वाच्यत्वादिसम्बन्धस्य तच्छरीरपातित्वात्। यद्वा पदान्तरघटितपदसम्बन्धत्वमेव परम्परासम्बन्धत्वम्। स्ववाच्यरेफद्वयघटितभ्रमरपदवाच्यत्वस्य द्विरेफातिरिक्तभ्रमरपदघटितत्वेन परम्परात्वम्। सामीप्यादेरतथात्वेन साक्षात्त्वम्। एतेन प्रवाहसामीप्यं तीरे प्रवाहसंयुक्तत्वं, तच्च संयोगसमवायित्वमिति समवायात्मकसम्बन्धान्तरप्रयुक्तत्वेन तस्यापि कुतो न परम्परासम्बन्धत्वाल्लक्षितलक्षणात्वमिति निरस्तम्। तस्य पदान्तरघटितत्वाभावात् इति। परत्वेताकल्पस्य क्षोदक्षमत्वं "सिंहो माणवकः" इत्यादेर्लक्षितलक्षणानुदाहरणत्वे। तत्त्वे तु पूर्वलक्षणस्यैव साधीयस्त्वम्। सामीप्यादेरखण्डधर्मतयैव ससर्गताभ्युपगम इति न तत्र समवायप्रवेशमादायोक्तदोषावकाश इति।

ननु वृत्तिविभागव्याघातः, सिंहो माणवक इत्यादौ बोधसम्पादनाय गौण्या अप्यतिरिक्तवृत्तित्वाभ्युपगमावश्यकत्वात्। इत्यत आह—

गौण्यपि लक्षितलक्षणैव।

एवकारेणातिरिक्तवृत्तित्वशङ्कानिरासः। सिंहपदलक्षितस्य क्रौर्यस्य स्वरूपसम्बन्धात्मिकाया लक्षणायाः माणवके सत्त्वादिति भावः।

हेतुमाह—

सिंहशब्दवाच्यसम्बन्धिक्रौर्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतेः।

सिंहशब्दवाच्यो यः सिंहः, तत्सम्बन्धियत्क्रौर्यादि तत्सम्बन्धेन इत्यर्थः। माणवकः उपनीयमानो वटुः। अयं भावः—"सिंहो माणवकः" इत्यत्र माणवके सिंहपदस्य लक्षितलक्षणात्मिकैव वृत्तिः। न गौणी नाम्नी काचनातिरिक्तवृत्तिः। लक्षितलक्षणायाः फलतः परम्परासम्बन्धरूपतया कथं तत्सम्पत्तिस्तस्येति तु न शङ्कनीयम्, सिंहशब्दस्य, स्ववाच्यसिंहसम्बन्धिक्रौर्यानुयोगित्वरूपस्य परम्परासम्बन्धस्य माणवके सत्त्वात्। न च क्रौर्यस्य सिंहसामान्यतया सामान्यशक्तिवादिवेदान्तिमते तत्र सिंहशब्दवाच्यत्वमेवास्तीति कथं तद्वाच्यसम्बन्धित्वमिति वाच्यम्। सिंहगतक्रौर्यस्य माणवकानिष्ठत्वात्। माणवकनिष्ठस्य क्रौर्यस्य न सिंहशब्दवाच्यता अपि तु वाच्यभूतक्रौर्यसम्बन्धित्वमेव। सम्बन्धश्च सादृश्यमिति नासङ्गतिः। यद्वा सिंहगते क्रौर्येऽपि न सिंहशब्दवाच्यत्वम् प्रत्येकसिंहनिष्ठक्रौर्यस्य भिन्नत्वेन सिंहसामान्यत्वाभावात्।

लक्षणासामान्यस्यैव प्रकारान्तरेण त्रैविध्यं प्रतिपादयति—

प्रकारान्तरेण त्रिविधा।

लक्षणेति शेषः। अन्यः प्रकारः प्रकारान्तरं तेन। प्रकारो धर्मः। अन्यत्वन्तु केवललक्षणात्वलक्षितलक्षणात्वाभ्याम्। तादृशधर्मस्तु जहल्लक्षणात्वाजहल्लक्षणात्वजहदजहल्लक्षणात्वरूपोऽवसेयः। त्रिविधा = त्रित्वसंख्यावती।

त्रित्वं दर्शयति–

जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति।

साक्षाद्व्याप्यधर्मरूपेण कथनं भवति विभागः। तथा सति लक्षणाविभागे क्रियमाणे लक्षणात्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मरूपेण यदि केवललक्षणात्वलक्षितलक्षणात्वयोर्ग्रहणं तदा लक्षणायाः द्वैविध्यम्। यदि च जहल्लक्षणात्वाजहल्लक्षणात्वजहदजहल्लक्षणात्वानां ग्रहणं तदा तस्यास्त्रित्वमिति भावः।

जहल्लक्षणां परिचाययति–

तत्र शक्यमनन्तर्भाव्य यत्रार्थान्तरप्रतीतिः, तत्र जहल्लक्षणा, यथा विषं भुंक्ष्वेति। तत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहभोजननिवृत्तिलक्षणात्।

तत्र जहल्लक्षणादिषु त्रिषु। यत्र शक्यमनन्तर्भाव्य यत्र अर्थान्तरप्रतीतिः तत्र जहल्लक्षणेति सम्बन्धः। यत्र = यादृशवाक्यस्थले। शक्यं = वाच्यार्थम्। अनन्तर्भाव्य = अविषयीकृत्य। अर्थान्तरस्य = शक्यभिन्नार्थस्य प्रतीतिः बोधः। तथा च—प्रकृतपदाशक्यमात्रविषयकबोधानुकूला लक्षणा जहल्लक्षणेति तल्लक्षणम्। विषं भुंक्ष्वेत्यत्र वक्तृतात्पर्यविषयभूतस्य शत्रुगृहाधिकरणकभोजनाभावरूपस्यार्थस्य प्रकृतपदाशक्यतया तादृगर्थविषयकबोधानुकूलत्वस्य निरुक्तभोजनाभावनिष्ठलक्षणायामक्षतत्वेन लक्षणसमन्वयः। इदमेव दर्शितं "तत्र हि स्वार्थं विहाये"त्यादिलिखता ग्रन्थकृता। ननु शत्रुगृहाधिकरणकभोजननिवृत्तिनिष्ठे सम्बन्धे लक्षणालक्षणाव्याप्तिः, विषभोजननिष्ठकर्त्तव्यत्वरूपबोध्यप्रतियोगिकत्वस्य तत्रासम्भवात्, इति चेत्, भोजननिवृत्तेः भोजननिष्ठकर्त्तव्यत्वाभावरूपतया तन्निष्ठस्य विरोधसम्बन्धस्य प्रकृतबोध्यभूतकर्त्तव्यत्वनिरूपितत्वस्य सत्वात्। न च तर्हि विषभोजननिष्ठकर्त्तव्यत्वाभावस्यैव बोधः स्यादिति वाच्यम्। लक्षणाद्वयाङ्गीकारेण तद्वारणात्। अयं भावः–प्रोक्तवाक्यप्रयोगस्थले विषपदस्य शत्रुगृहाधिकरणकभोज्ये लक्षणा। भुङ्क्ष्वेत्यस्य प्रोक्तरीत्या कर्त्तव्यत्वाभावे लक्षणा। प्रथमा अनिष्टकारित्वस्योभयत्रसत्त्वात् सादृश्यसम्बन्धरूपा। द्वितीया तु पूर्वोक्तविरोधसम्बन्धरूपेति नानुपपत्तिगन्धः। तार्किकमते तु अशक्यार्थान्वितपदशक्यपदार्थबोधानुकूललक्षणात्वमेव जहल्लक्षणालक्षणम्। तथा च तन्मते "गङ्गायां घोष" इत्यपि

जहल्लक्षणोदाहरणम्। तत्राशक्यतीरपदार्थान्वितघोषपदार्थबोधानुकूललक्षणाया: तीरे सत्त्वात्। तन्मते लाक्षणिकत्वं पदस्यैव।

अजहल्लक्षणामाह—

यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तरप्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा।

अन्तर्भाव: अत्रापि विषयीकरणम्। तथा च स्वशक्यतदन्यस्वार्थोभयबोधानुकूला लक्षणा अजहल्लक्षणा। लक्षणानां बोधानुकूल्यं तु बोधजनकोपस्थितिजनकज्ञानविषयत्वम्। वृत्तिज्ञानाधीना पदार्थोपस्थिति: तज्जन्यश्च शाब्दबोधो भवतीति-वृत्तिभूतत्यां लक्षणायां तादृशानुकूल्यसत्त्वम्।

यथा शुक्ल: पट इत्यत्र हि शुक्लशब्द: स्वार्थगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्त्तते।

स्वार्थ: = शुक्लपदार्थ:, शुक्लगुणवृत्तिशुक्लरूपत्वं, तं अन्तर्भाव्यैव = तमपरित्यजन्नेव, फलत: शक्त्या तमर्थमुपस्थापयन्नेव, तद्वति = शुक्लरूपवति द्रव्ये पटे, लक्षणया वर्त्तते = लक्षणासम्बन्धेन सम्बध्यते इत्यर्थ:। अयं भाव:—शुक्लपट इति वाक्यात्, शुक्लरूपवदभिन्न: पट इत्येव बोधो भवति, न तु द्रव्यं पट एतावन्मात्रम्। अतस्तत्राजहल्लक्षणा। शक्यार्थाहानात् इति। तत्र लक्षणसमन्वयस्त्वित्थम्—स्वंशुक्लपदम्, तच्छक्य: शुक्लरूपात्मकमगुणवृत्तिशुक्लरूपत्वम् तदन्य: स्वार्थ: शुक्लगुणाश्रय: पट:, तदुभयबोधानुकूलत्वं पटनिष्ठायां लक्षणायाम्। इदमुदाहरणं "गुणे शुक्लादय: पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति" इति कोशोक्तिमविगणय्य। तदादरे तु व्यक्तिलक्षणा समुदाहर्त्तव्या। सामान्यमवधूय व्यक्तिबोधानङ्गीकारात्। काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामिति तार्किकोदाहरणं तु नात्र मते घटते। दध्युपघातकत्वधर्मेण तत्र काकबोधात्। तादृशधर्मस्य काकपदाशक्यत्वात्। शक्यस्य च काकत्वस्य हानात् जहल्लक्षणाग्रस्तत्वात्।

क्रमप्राप्तां जहदजहल्लक्षणामाह—

यत्र हि विशिष्टवाचक: शब्द: एकदेशं विहाय एकदेशे वर्त्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा।

विशिष्टं = एकवस्तुसहकृतापरवस्तु उच्यते येन स विशिष्टवाचकः। वर्त्तते = वृत्तिमद्भवति, फलतः सम्बद्धं भवति। तथा च स्वशक्तार्थांशमात्रबोधानुकूला लक्षणा जहदजहल्लक्षणा इति तल्लक्षणम्।

उदाहरणमाह—

यथा सोऽयं देवदत्त इति।

अत्र तत्पदस्य देवदत्तपदसमभिव्याहृतस्य वाच्यार्थः तत्कालसम्बन्धवान् देवदत्तः। तत्र कालसम्बन्धरूपं विशेषणांशं परित्यज्य केवलदेवदत्ते या विद्यते लक्षणा सा जहदजहल्लक्षणा। एवमेवेदं पदस्याप्येतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकस्य केवलदेवदत्ते या लक्षणा साऽपि। लक्षणसङ्गतिस्त्वित्थम्—स्वं तदिदं पदम्। तच्छक्यार्थपदेन तत्कालसम्बद्धदेवदत्त तत्का[illegible]णम्। तदंशपदेन केवलदेवदत्तपरिग्रहः, तद्बोधानुकूला लक्षणा देवदत्ते। प्रकृता लक्षणा स्ववाच्यघटकत्वसम्बन्धरूपा बोध्या।

एतादृशस्थले लक्षणास्वीकारप्रयोजनमाह—

अत्र पदवाच्ययोर्विशिष्टयोर्द्वयोरैक्यानुपपत्त्या पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्वम्।

अत्र—सोऽयं देवदत्त इति वाक्यस्थले। पदवाच्ययोः तदिदं पदशक्यार्थयोः। विशिष्टयोर्द्वयोः तत्कालसम्बद्धदेवदत्त तत्कालसम्बद्धदेवदत्तयोः। एक्यानुपपत्त्या—अनुभूयमानाभेदानुपपत्त्या। पदद्वयस्य—तदिद पदयोः। विशेष्यमात्रपरत्वं = देवदत्तमात्रलक्षकत्वम्। अयं भावः—प्रोक्तवाक्यस्थले अखण्डदेवदत्तपदार्थबोधो भवति स चानुपपन्नः शक्तिमुपाश्रित्य बोधने। यतो हि तादृशे बोधे शक्यभूतकालसम्बन्धभानमावश्यकम्। अतः शुद्धे देवदत्ते लक्षणामाश्रित्य अखण्डबोधनिर्वाह कर्त्तव्य इति। अवयवार्थस्त्वेवम्—या शक्यार्थ जहाति = आश्रयत्वेन न बोधयति सा जहल्लक्षणा। या च शक्यार्थं न जहाति आश्रयतावच्छेदकत्वेन न बोधयति किन्तु आश्रयत्वेन बोधयति सा जहदजहल्लक्षणा।

ननु तदिदं पदयोः जहदजहल्लक्षणा देवदत्ते वक्तुमशक्या, सामान्यशक्तिमङ्गीकुर्वतां नये देवदत्तशक्यत्वस्यैवाभावात् तस्य व्यक्तित्वात् इति चेत्—कुब्जशक्तिवादे स्वरूपसत्त्याः शक्तेः व्यक्तावपि स्वीकारात्; शक्याश्रयत्वरूपस्य शक्यत्वस्य व्यक्तावक्षतेः। न च पूर्वतनवाच्यत्वानभ्युपगमग्रन्थविरोधः। एतत्कल्पे वाच्यत्वशक्यत्वयोर्भेदाभ्युपगमात्। यद्वा सामान्यविशिष्टव्यक्तौ शक्तिमभ्युपगम्यैवैतदुल्लेखः।

अत एवाग्रे "विशिष्टवाचकानां पदानां एकदेशपरत्वे न लक्षणे "त्यग्रिमग्रन्थे, पदानामि-त्यस्य विशिष्टवाचकानामिति विशेषणं संगच्छते । यदि च शक्यत्व-वाच्यत्वयोरैक्यम्, व्यक्तौ च शक्तिसामान्याभावः तदा सोऽयं देवदत्त इत्यत्र तदिदं पदयोः समानाधिकरण्यसम्बन्धेन तदेतत्कालसम्बन्धविशिष्टे शक्तिः । तत्र काल-सम्बन्धांशपरित्यागात् जहदजहल्लक्षणोदाहरणताऽवसेया । अन्यथा विगतेः । ग्रन्थकृताऽपि 'पदद्वयस्य विशेष्यमात्रपरत्व" मित्युक्तम् । न तु देवदत्तमात्रपरत्व-मिति येन ग्रन्थासङ्गतिराशङ्क्यते । न च तर्हि "तत्त्वमसी"त्यत्र जहदजहदल्लक्ष-णया चैतन्यत्वस्य बोधः स्यान्न तु चैतन्यस्य । तथा चासङ्गतिरिति वाच्यम् चैतन्यतत्त्वयोरभेदात् अखण्डार्थमात्रविषयकनिर्विकल्पकबोधस्यैव तत्र स्वीकर्त्तव्य-तयाऽसङ्गत्यभावात् ।

लौकिकमुदाहरणं दत्त्वा वैदिकं तदाह—

यथा वा तत्त्वमसीत्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वं पदवाच्येनान्तःकरणादिविशिष्टेनैक्यायोगात् ऐक्यसिद्ध्यर्थं स्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः ।

स्वरूपे = शुद्धचैतन्ये । साम्प्रदायिका इत्यन्तरं वदन्तीति शेषः । अयं भावः—तत्पदस्य वाच्यं सर्वज्ञचैतन्यं ईश्वरपदाभिधेयम् । त्वं पदस्य वाल्पज्ञचैतन्यं जीव-पदाभिधेयम् । तयोरभेदो बाधितः । विरुद्धाभ्यां सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वाभ्यामाक्रान्तत्वात् । बोध्यते च तत्त्वमसीत्यनेन तयोरभेदः । तदुपपादनं जहदजहल्लक्षणामनभ्युपगम्य सुसम्पादम् । तदुपगमे च विरुद्ध्योः सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वयोः हानेन चैतन्यमात्रग्रहणेन सम्पद्यते चैतन्यस्याभेदात् । न च चैतन्ययोरभेदबोधने अभेदसंसर्गावगाहितया बोधस्य सविकल्पकत्वापत्त्या अखण्डार्थविषयकत्वक्षतिरिति वाच्यम् सम्बन्धस्य भेदनियतत्वेन अभेदस्य संसर्गत्वाभावात् विवेचितञ्चेदं प्रागपि ।

"साम्प्रदायिकाः" इत्यनेन ध्वनितमस्वरसं स्पष्टीकर्त्तुं स्वसम्मतमर्थमाह—

वयं तु ब्रूमः—सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचकानां पदानामेकदेशपरत्वे न लक्षणा । शक्त्युपस्थितविशिष्टयोरप्यन्वयानु-पपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरभेदान्वयाविरोधात् ।

एकदेशपरत्वे = एकदेशबोधनेच्छयेच्चरितत्वे । शक्त्या उपस्थितौ यौ विशिष्टौ तयोः अन्वयस्यानुपपत्तौ उपपत्त्यविषयत्वे । अपीति शेषः । विशेष्ययोः = विशेषणांशरहितयोः केवलधर्मिणोः । अभेदान्वयाविरोधात् = अभेदबोधाभ्युपगमे विरोधाभावात् । अयमभिप्रायः—सोऽयं देवदत्त इति वाक्यप्रयोगस्थले तत्काल-विशिष्टदेवदत्तस्य तत्पदात्, एतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यैतत्पदात् उपस्थितिर्भवति । तत्र देवदत्तव्यक्तेरेकत्वात् विशेषणांशयोः तत्कालैतत्कालवैशिष्ट्ययोः समानाधि-करण्यासम्भवे न विरोधोः वाच्यः । एवं सति यदंशे विरोधेन अभेदासम्भवः तं विशेषणांशं परित्यज्य शक्त्या देवदत्ताभेदबोधने का क्षतिरनुपपत्तिर्वा ? न कापि । अधिकन्तु लाघवं वृत्त्यन्तरानाश्रयणात् । अतो न तादृशस्थले जहदजहल्ल-क्षणाभ्युपगमः इति ।

प्रकृतार्थे दृष्टान्तमाह—

यथा घटोऽनित्य इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्या सहाभेदान्वयः ।

घटपदवाच्यो घटत्वविशिष्टो घटः, तदेकदेशो यद्घटत्वं तस्यायोग्यत्वेऽपि = अनित्याभेदान्वयायोग्यत्वेऽपि । योग्यघटव्यक्त्या = अनित्यघटव्यक्त्या । अभेदा-न्वयः = अनित्यपदार्थाभेदान्वयः । तथा "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादावपीति वयं ब्रूम इति पूर्वेण सम्बन्धः । अयं भावः—अनित्यो घट इत्यादिवाक्यस्थले अन्यैरपि "अनित्याभिन्नोघटः" इत्येव बोधः स्वीकर्त्तव्यः । न तु अनित्यं घटत्वमिति । घटत्वस्य नित्यतया अनित्याभेदस्य तत्र बाधात् । किन्तु घटपदस्य शक्तिर्न केवल-शुद्धघटे अपितु घटत्वविशिष्टे घटे । तथा सति सत्यपि घटपदवाच्यत्वस्य घट इव घटत्वेऽपि समाने यथा घटत्वं विहाय विशेष्यभूतघटेन सहैव अनित्याभेदान्वयः स्वीक्रियते, तथा सोऽयं देवदत्त इति स्थले तत्कालैतत्कालांशौ विहाय देवदत्ताभेद-बोधस्वीकारः सर्वथाऽपरिहार्य एवेति कृत तत्सम्पत्तये जहदजहल्लक्षणाऽऽश्रयणेनेति । न च सोऽयं देवदत्त इत्यत्र विशेष्यभूते देवदत्ते द्वित्वमेकत्वं वा? आद्ये भेदाभ्युपगमा-पत्त्या अभेदान्वयबाधः । द्वितीये "विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरभेदान्वयाविरोधादि"-त्यत्र विशेष्योरिति प्रयोगासङ्गतिरिति वाच्यम् । विशेष्ययोरिति द्विवचनस्य साधुत्वमात्रार्थकत्वात् । द्वित्वबोधे तात्पर्याभावात् । यद्वा विशेष्यभूतदेवदत्तैक्येऽपि तदेतत्पदोपस्थितत्वात्मकधर्मद्वयवैशिष्ट्याभिप्रायमादाय कथञ्चित् द्विवचनसङ्गतिः ।

ननु तर्हि शक्त्या "नित्यो घट" इति प्रयोगस्याप्यापत्तिः । घटत्वे नित्याभेदान्वययोग्यत्वाक्षतेः । अनित्यो घट इति विशेषणत्याग नित्यो घट इत्यत्र विशेष्यत्यागे बाधकाभावात् । इत्यत आह—

यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः तत्रैव स्वातन्त्र्येणोपस्थितये लक्षणाभ्युपगमः । यथा नित्यो घट इत्यत्र घटपदात् घटत्वस्य स्वातन्त्र्येणानुपस्थित्या तादृशोपस्थित्यर्थः घटत्वे लक्षणा ।

स्वातन्त्र्येण = किञ्चिदविशेषणतया । लक्षणायाः अभ्युपगमः = स्वीकारः । घटत्वस्येत्यनन्तरं शक्त्येति शेषः । तादृशोपस्थित्यर्थम् = किञ्चिदविशेषणतयोपस्थित्यर्थम् । अयं भावः—फलानुसारिण्येव हि कल्पना भवतीति नियमः । अनित्यो घट इति सर्वेषां भवति प्रतीतिव्यवहारौ इति तत्र शक्त्या विशेष्यभूतकेवलघटत्वोपस्थितिरङ्गीकार्या । नित्यो घट इति न भवति स्वरसवाहिनौ लोकानां प्रत्ययव्यवहाराविति न तत्र शक्त्या विशेष्यांशमवधूय केवलघटत्वोपस्थितिः स्वीकार्या । तथा चायमभिप्रेतार्थः—किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन तत्पदजन्योपस्थितिं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन शक्तिप्रमाकारणम् । तदन्योपस्थितिं प्रति तत्पदलक्षणाज्ञानं कारणम् । एवं सति "घटोऽनित्य" इत्यत्र "घटत्वावच्छिन्नो घटपदशक्य" इति शक्तिप्रकारकप्रमाज्ञानस्य घटत्वात्मककिञ्चिद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन धर्मिणि घटे सत्वात् केवलघटोपस्थितिः ततस्तत्र अनित्याभेदान्वयः । घटत्वे तु न विशेष्यतासम्बन्धेन उक्तशक्तिप्रमा । घटांशे तस्य विशेषणत्वात् इति कारणाभावात् न केवल घटत्वोपस्थितिः । येन तत्र नित्याभेदान्वयापत्तिराशङ्किता भवेत् । लक्षणाज्ञानेन तु केषाञ्चित् सम्भवत्येवेति ।

प्रक्रियां तत्त्वमसीति प्रकृतस्थले सञ्चारयति—

एवमेव तत्त्वमस्यादिवाक्ये न लक्षणा । शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वं पदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात् ।

स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोः = सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वाभ्यामविशेषिततयोपस्थितयोः । तत् त्वं पदार्थयोः—चैतन्ययो. । अयं भावः—तत्पदेन सर्वज्ञत्वविशिष्टचैतन्यस्य

त्वंपदेनाल्पज्ञत्वविशिष्टचैतन्यस्योपस्थितिः । ततस्तत्र विशेषणांशयोः सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वांशयोः विरोधात् तदंशं परित्यज्य शुद्धचैतन्ययोरभेदान्वयः। ननु स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोरित्यसङ्गतम् स्मरणरूपाया उपस्थितेरनुभवसमानविषयकत्वनियमेन विशिष्टे शक्तिग्रहात् विशिष्टस्यैवोपस्थितिध्रौव्यात् । धर्मधर्मिणोः शक्तिभेदाभिप्रायेण तथोक्तेः । यदि विशिष्टशक्त्यभिप्रायेण ग्रन्थः सङ्गमनीयः तदा स्वातन्त्र्येणेत्यस्य नोपस्थितावन्वयोऽभिप्रेतः । अपि तु अभेदान्वये । तथा च उपस्थितयोः तत् त्वं पदार्थयोः स्वातन्त्र्येणाभेदान्वयबोधसम्भवात् इत्यन्वयो बोध्यः ।

अबाधितान्वययोः शक्यैकदेशयोरप्यन्वयबोधाय तत्र पदलक्षणाभ्युपगमाग्रहे आपत्तिमाह—

अन्यथा गेहे घटः, पटे रूपम्, घटमानयेत्यादावपि घटत्वगेहत्वादेरभिमतान्वयबोधायोग्यतया तत्रापि घटादिपदानां विशेष्यमात्रपरत्वं लक्षणयैव स्यात् ।

अन्यथा = विशिष्टशक्तिकस्यापि पदस्य एकदेशे लक्षणाभ्युपगमे । अभिमतो योऽन्वयाबोधस्तदयोग्यतया । घटो गृहवृत्तिः, रूपं पटवृत्ति, घटकर्मकमानयनम्, इत्यादिशाब्दबोधायोग्यतया इत्यर्थः । तत्रापि = तेष्वपि स्थलेषु । विशेष्यमात्रपरत्वम् = घटपटादिधर्मिमात्रबोधकत्वम् । लक्षणयैव स्यात् = लक्षणां विना न स्यात् । अयं भावः—"गेहे घटः" इतिवाक्यस्थले गेहघटपदयोः गृहत्वविशिष्ट-घटत्वविशिष्टघटवाचकत्वेऽपि, बोधः आधेयतया "गृहविशिष्टो घटः" इत्येव भवति न तु "गृहवृत्तिघटत्वम्" इति किं वा "गृहत्ववृत्तिर्घटः" इति, अथवा गृहत्वविशिष्टं घटत्वमिति । अयोग्यत्वात् । तादृशबोधौपयिकी गृहघटादिपदार्थोपस्थितिः शक्तिज्ञानाधीनैव भवति सर्वेषाम्, न व्यक्तिलक्षणाज्ञानाधीना अनुपपत्तिप्रतिसन्धानाननुभवात् । यदि च सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचकस्यापि पदस्य व्यक्तौ लक्षणा स्वीक्रियते, तदातुल्ययुक्त्या सर्वत्रापि तथा स्वीकारप्रसङ्गः स्यात् इति । एवमेव पटे रूपं इत्यादावपि बोध्यम् । परन्तु सर्वोऽयं विचारः विशिष्टशक्तिवादमनुसृत्य । सामान्यमात्रशक्यत्वे तु सर्वत्र व्यक्तिबोधो लक्षणयैव भवति इति तथा प्रसङ्गदानानुपपत्तिः ।

ननु तर्हि प्राचीनानामाचार्याणां तत्त्वमसीत्यादौ जहदजहल्लक्षणोक्त्ययुक्तिरित्यत आह—

तस्मात्तत्त्वमसीत्यादिवाक्येष्वाचार्याणां लक्षणोक्तिरभ्युपगमवादेन ।

आदिना सोऽयमित्यादिपरिग्रहः । लक्षणोक्तिः = जहदजहल्लक्षणोक्तिः । अभ्युपगमवादेन = प्रौढ्या । वस्तुतो न तत्र लक्षणादर आवश्यक इति भावः ।
ननु जहदजहल्लक्षणैव नोपेया आहोस्वित् तस्या उदाहरणन्तरकत्वं विवक्षितम् ? इत्याकांक्षयामाह–

जहदजहल्लक्षणोदाहरणं तु काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादावेव । तत्र काकत्वपरित्यागेनाशक्यदध्युपघातकत्वपुरस्कारेणाकाके काकशब्दस्य प्रवृत्तेः ।

तत्र = काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र । शक्यं = काकपदशक्यं यत् काकत्वं तत्परित्यागेन । अशक्यं = काकपदस्याशक्यं यत् दध्युपघातकत्वं = दधिभक्षकत्वं, तत्पुरस्कारेण = तद्धर्मप्रकारेण । प्रवृत्तेः = बोधयितुं प्रवृत्तत्वात् । अकाकस्यापि बोधकत्वादित्यर्थः । अयमभिप्रायः—न जहदजहल्लक्षणा नास्तीति मतम् । अपि तु न तत्त्वमसीत्यादिकं तदुदाहरणमिति । किं तर्हि तदुदाहरणमिति चेत् काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादि । तथाहि–काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्युक्ते वक्त्रा–श्रोता दध्युपघातकेभ्यो दधि रक्ष्यतामिति जानाति । अन्यथा बिडालादिभ्योऽपि दधिरक्षां न कुर्यात् । अतस्तत्र काकपदस्य काकाकाकसाधारणं दध्युपघातकेषु लक्षणोपेया । सा न जहल्लक्षणा, दध्युपघातकत्वेन शक्यस्य काकस्यापि ग्रहणेन शक्यार्थापरित्यागात् । नाप्यजहल्लक्षणा, काकपदशक्यस्य काकत्वस्य परित्यागात् । अतो जहदजहल्लक्षणा वाच्या । काकपदशक्यभूतकाकत्वविशिष्टकाकमध्ये काकत्वांशपरित्यागात्, काकांशस्य चापरित्यागात् । काकत्वापरित्यागे दध्युपघातकत्वेन बिडालादीनामुपसंग्रहानुपपत्तेरिति ।

ननु काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र लक्षणैव नास्ति काकानामपि रक्षणस्य योग्यतया, लक्षणाबीजत्वेन स्वीकृतस्यान्वयानुपपत्तेरभावात् । इत्यत आह–

लक्षणाबीजं तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव ।

लक्षणाबीजं = लक्षणाज्ञानबीजम् = लक्षणाया ज्ञानस्य श्रोतृनिष्ठस्य कारणम् । तात्पर्यानुपपत्तिरेव = तात्पर्यानुपपत्तिज्ञानमेव । तात्पर्यस्य = वक्त्रभिप्रायस्य या अनुपपत्तिः = बाधितार्थविषयकत्वं तज्ज्ञानम् इत्यर्थः । यथा श्रुते असङ्गत्यापत्तेः । तथा हि लक्षणाबीजमित्यत्र कस्तावद्बीजपदार्थः ? जनक इति तीरनिष्ठप्रवाहसामीप्यरूपायाः लक्षणायाः वक्तृतात्पर्यानुपपत्त्यजन्यत्वात् । अभिप्रायगतस्य बाधितार्थविषयकत्वस्य तीरनिष्ठसामीप्याजनकत्वात् । न च ज्ञापक इति तदर्थः, बीजपदस्योत्पादके रूढत्वात् । यद्वा बीजशब्दो हेतुपरः । तथा च हेतुपदस्य ज्ञापकार्थेऽपि शक्तेः । लक्षणाबीजमित्यस्य लक्षणाज्ञापकमित्यर्थः

एवपदस्य व्यवच्छेदार्थकतया व्यवच्छेद्याकांक्षायामाह—

नत्वन्वयानुपपत्तिः । काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात् ।

अभावादित्यनन्तरं सर्वानुभवसिद्धदध्युपघातकत्वमात्रावधिकदधिरक्षणबोध्यापलापापत्तेरिति शेषः । अन्यथा पूर्वपक्षिणः इष्टापत्तेः । तथा च यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात् तदा काकेभयो दधि रक्ष्यतामित्यादौ अन्वयानुपपत्तेरभावात् लक्षणा न स्यात् । असत्त्यां च तस्यां उपयुक्तबोधानुपपत्त्या, अनुभवसिद्धाया श्रोतृकर्तृकविडालाद्यवधिकदधिरक्षायाः अभावप्रसङ्गः स्यादिति भावः । एवं यष्टीः प्रवेशयेत्यादावपि बोध्यम् । न्यायमते काकेभ्य इत्यादौ अजहल्लक्षणैव ।

ननु अन्वयानुपपत्तेः लक्षणाया अबीजत्वे अन्वयानुपपत्तिसाध्यायाः गङ्गायां घोष इत्यत्र तीरनिष्ठायाः गङ्गापदलक्षणायाः अभावप्रसङ्गःस्यादित्यत आह—

गङ्गायां घोष इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि भावात् ।

तात्पर्यानुपपत्तेः = वक्तृतात्पर्यानुपपत्तेः । अभावादित्यनन्तरं न तत्र लक्षणानुपपत्तिरिति शेषः । अयं भावः—गङ्गायां घोषः इत्यत्र अन्वयानुपपत्तेरिव तात्पर्यानुपपत्तिरत्यस्त्येव । यथा श्रुतबोधानुकूलतात्पर्ये बाधितार्थविषयकत्वध्रौव्यात् । एवं च श्रोता अन्वयानुपपत्तिमनभिसन्धाय तात्पर्यानुपपत्तिमेव प्रतिसन्धाय लक्षणां ज्ञात्वा शक्नोति कर्तुं "गङ्गातीरवृत्तिर्घोष" इति बोधमिति ।

तार्किकाः शक्तेरिव लक्षणाया अपि पदमात्रनिरूपितत्वमभ्युपगच्छन्ति तन्मतनिरासायाह—

लक्षणा च न पदमात्रवृत्तिः । किन्तु वाक्यवृत्तिरपि । यथा गंभीरायां नद्यां घोष इत्यत्र गंभीरायां नद्यामिति पदद्वयसमुदायस्य तीरे लक्षणा ।

न पदमात्रवृत्तिः = न पदमात्रनिरूपिता वृत्तिः । वाक्यवृत्तिरपि = वाक्यनिरूपितापि वृत्तिः । पदद्वयं = गभीरायां नद्यामिति सप्तम्यन्तद्वयम् । तादात्मको यः समुदायः = वाक्यम् तस्य । अन्यथा समुदायपदवैयर्थ्यापत्तेः । समुदायपदेन "सुप्तिङन्तमयो वाक्यम्" इति वाक्यलक्षणे इङ्गितम् । अयं भावः—गंभीरायां नद्यां घोष इति वाक्यस्थले गम्भीराभिन्ननदीतीरवृत्तिर्घोष इति बोधो भवति श्रोतुः। वाक्यलक्षणानभ्युपगमे सोऽनुपपन्नः स्यात् । न च नदीपदस्य नदीतीरे लक्षणेति शक्यते वक्तुम् । पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेति नियमविरोधापातात् । न च नियमसङ्कोच इति वाच्यम् विनिगमनाविरहेण अर्थवादार्थभूतप्राशस्त्यादिबोधानुपपत्त्या च वाक्यलक्षणाया एव स्वीकारौचित्यात् न च नदीपदस्यैव गम्भीराभिन्ननदीतीरे लक्षणेति वाच्यम् । गम्भीरपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तात्पर्यग्राहकत्वोक्तेरसारत्वात् । अन्यथा सर्वत्रैव वाक्यघटकैकपदस्य समग्रार्थलक्षणामाश्रित्य बोधाभ्युपगमप्रसङ्गात् ।

शक्यसम्बन्धो लक्षणेति मत्वा न आशङ्कते—

ननु वाक्यस्याशक्यतया कथं शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा ?

न शक्यः अस्ति अस्येत्यशक्यः, तस्य भावः अशक्यता, तया । तथा च वाक्यस्याशक्यतया इत्यस्य वाक्यस्य शक्तिवृत्त्यनिरूपकतयेत्यर्थः । लक्षणा कथमित्यन्वयः । उपपद्यते इति शेषः । अयं भावः—शक्यसम्बन्धो लक्षणा इति लक्षणालक्षणम् । सति चैवं वाक्यलक्षणा तदैवोपपन्ना स्यात् यदि वाक्यस्य कोऽपि शक्यः स्यात् । न चैवमभ्युपगम्यते वेदान्तिभिरपि । तथा सति "शक्तिः पदानामर्थे मुख्या वृत्तिरिति" पूर्वोक्तिविरोधापत्तेः । इति ।

शक्यसम्बन्धो लक्षणेति न लक्षणालक्षणम् अपि तु स्वबोध्यसम्बन्धत्वम् इत्यभिप्रायेणोत्तरयति—

: उच्यते। शक्यः यत् पदसम्बन्धेन ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणा। शक्तिज्ञाप्यश्च यथा पदार्थः तथा वाक्यार्थोऽपीति न काचिदनुपपत्तिः।

पदसम्बन्धेन शक्त्या यत् ज्ञाप्यते तत्सम्बन्धो लक्षणेत्यन्वयः । पदसम्बन्धेनेति शक्त्या इत्यस्य विशेषणम् । अजहल्लिङ्गतया न लिङ्गविपर्ययः । तत्सम्बन्धो लक्षणेत्यत्र तस्य सम्बन्ध इति विग्रहः । षष्ठ्याश्च निष्ठत्वमर्थः । तथा च तन्निष्ठ-सम्बन्ध इति तदर्थः । ज्ञाप्यते इत्यस्य तज्ज्ञानजन्यज्ञानविषयी क्रियते इत्यर्थः । एवञ्च पदसम्बन्धात्मकशक्तिज्ञानाधीनज्ञानविषयनिष्ठसम्बन्धो लक्षणा। यथा गङ्गायां घोष इत्यस्य गङ्गापदसम्बन्धात्मिका या प्रवाहनिष्ठा शक्तिः, तज्ज्ञानाधीनं यज्ज्ञानं तत्तीरस्मरणरूपमपि । तस्यापि प्रवाहे गङ्गपदशक्तिमजानताऽसम्भवात्। तद्विषयः तीरम्, तन्निष्ठं साम्मीप्यं लक्षणा । न च तीरनिष्ठकालिकादेरपि लक्षणात्वापत्तिः । सम्बन्धे पदप्रतियोगिकत्वस्यापि विशेषणीयत्वात् । न चैवमपि पदप्रतियोगिककालिकादिकमादाय दोषः, प्रोक्तग्रन्थस्य भंग्या शक्तिभिन्नत्वे सति उपस्थितिजनकपदार्थप्रतियोग्यनुयोगिकसम्बन्धत्वं लक्षणात्वमित्यत्र-तात्पर्यात् । यद्यपि पदलक्षणास्थले "तत्सम्बन्ध" इत्यत्र षष्ठ्यर्थतया निष्ठत्वम-परिगृह्य प्रतियोगिकत्वं परिगृह्य भवितुमर्हति लक्षणसमन्वयः, प्रवाहनिष्ठशक्ति-ज्ञानाधीनोपस्थितिपदेन प्रवाहोपस्थितिमादाय तत्प्रतियोगिकस्य सामीप्यसम्बन्धस्य तीरे सत्त्वात् । तथापि वाक्यलक्षणास्थलीयलक्षणसमन्वयावबोधकस्य "शक्ति ज्ञाप्यश्च यथा पदार्थः तथा वाक्यार्थोपीति" ग्रन्थस्यालम्बकतापत्तेः। वाक्यनिरूपित-शक्तिरभावेन वाक्यार्थपदेन वाक्यलक्ष्यार्थस्यैव ग्राह्यतया तत्प्रतियोगिकसम्बन्धस्य लक्षणात्वाभिधानानुपपत्तेः । न च वाक्यार्थ इत्यस्य वाक्यघटकपदार्थ इत्यर्थः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन तथोल्लेखासङ्गत्यापत्तेः ।

यदि च वाक्यार्थोऽपीत्यत्र वाक्यार्थपदेन वाक्यघटकपदार्थघटितोऽर्थोऽभिप्रेतः, स च यथा श्रुतार्थरूपः । तत्प्रतियोगिकः सम्बन्धो लक्षणेत्युच्यते तदापि न सङ्गतिः, तस्य बाधितसम्बन्धकत्वेन किञ्चिन्निरूपितवृत्त्याश्रयत्वाभावेन चार्थपदानभिधेयतया वाक्यार्थपदेनोल्लेखायोग्यत्वात् । तीरवृत्तिघोषादिबाधितसंसर्गकार्थपरिग्रहे तु न तत्प्रतियोगिकसम्बन्धस्य लक्षणात्वोक्तिसङ्गतिरिति पूर्वमेवोक्तम्। न च लक्ष्यार्थमेव वाक्यार्थतयोपादाय तत्प्रतियोगिकाभेदसम्बन्धमादाय लक्षणसङ्गतिः । अभेदस्य सम्बन्धत्वाभावात् । वाक्यार्थपदेन लक्ष्यार्थग्रहणे लक्षणानिर्वचनस्य लक्षणाज्ञानसा-पेक्षत्वापत्त्या आत्माश्रयाद्यापत्तेश्च। ननु तथापि वाक्यलक्षणात्वानुपपत्तिरिति चेत्

न । वस्तूपरिस्थितिजनकत्वे सति शब्दविशिष्टसम्बन्धत्वे तात्पर्यात् । वैशिष्ट्यञ्च स्वनिरूपितशक्तिज्ञानाधीनोपस्थितिविषयत्वम् । स्वघटकपदनिरूपितशक्तिज्ञानाधीनोपस्थितिविषयत्वान्यतरसम्बन्धेन । शक्तिज्ञानाधीनत्वं तूपस्थितौ जन्याजन्यसाधारणं प्रयोज्यत्वरूपम् । तेन तीरोपस्थितेरपि न प्रवाहनिष्ठगङ्गापदशक्तिज्ञानाधीनत्वक्षतिः । न काचिदनुपपत्तिः = न गङ्गायां घोष इत्यादौ बोधानुपपत्तिः । **वाक्यलक्षणास्वीकारे तत्त्वमसीत्यादौ वाक्यलक्षणयाऽपि अखण्डचैतन्यबोधो निर्विकल्पकरूपः सुसम्पाद इत्यपि बोध्यम् ।**

वाक्यलक्षणोदाहरणान्तरमाह—

एवमर्थवादवाक्यानां प्रशंसारूपाणां प्राशस्त्ये लक्षणा । सोऽरोदीत् इत्यादि निन्दार्थवादवाक्यानां निन्दितत्वे लक्षणा ।

एवं = गम्भीरायां नद्यां घोष इत्यादाविव । प्रशंसारूपाणामिति अर्थवादवाक्यानामित्यस्य विशेषणम् । प्रशंसारूपवाक्यं "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादिकं बोध्यम् । सोऽरोदीदित्यादीनि यानि निन्दार्थवादवाक्यानि तेषाम् । वाक्यलक्षणास्वीकारे ' 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादेः वायुदेवताकं कर्मप्रशस्तमित्यर्थः । "सोऽरोदीत्" इत्यादेः "रजतदक्षिणा निन्दिता" इत्याद्यर्थः । अर्थात् रजतदक्षिणाकं बर्हिर्यागकर्म निन्दितमिति भावः । द्वयोः प्रधा वाक्यं क्रमेण वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः, बर्हिषि रजतं न देयम् इति बोध्यम् । न चार्थवादवाक्यानां प्राशस्त्यनिन्दालाक्षणिकत्वाभावे का क्षतिरिति वाच्यम् । तथा सति 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वा ।नर्थक्यमतदर्थानाम्" इति सूत्रानुसारं अर्थवादवाक्यानां निष्प्रयोजनकत्वापत्तेः ।

ननु अर्थवादघटकस्य यस्य कस्यचन पदस्यैवास्तु प्राशस्त्यादौ लक्षणा किं वाक्यलक्षणया ? तावताऽपि विध्येकवाक्यतासम्भवेन अर्थवादानिष्प्रयोजनकत्वक्षतेः, अत आह—

अर्थवादगतपदानां प्राशस्त्यादिलक्षणाभ्युपगमे एकेन पदेन तदुपस्थितिसम्भवे पदान्तरवैयर्थ्यं स्यात् ।

अर्थवादे गतानि = तद्घटकानि यानि पदानि तेषाम् । प्राशस्त्यादौ या लक्षणा, तस्याः अभ्युपगमः स्वीकारः तस्मिन् आदिपदेन निन्दित्वग्रहणम् । पदानामित्यस्य लक्षणान्वये तात्पर्यम् । तदुपस्थितिसम्भवे । प्राशस्त्याद्युपस्थिति-

सम्भवे । इदमुपलक्षणम्—विनिगमनाविरहेण कस्यापि पदस्य प्राशस्त्यादिबोधकत्वं न स्यात् इत्यपि द्रष्टव्यम् ।

नन्वर्थवादस्थले वाक्यलक्षणास्वीकारे शेषशेषिवाक्ययोः वाक्यैकवाक्यतानियमभङ्गः प्राशस्त्यार्थकप्रशस्तपदमिव अर्थवादवाक्यस्यापि तथा सति पदभावापन्नत्वात् इत्याशङ्कां इष्टापत्त्या परिहरति—

एवञ्च विध्यपेक्षितप्राशस्त्यरूपपदार्थप्रत्यायकतयाऽर्थवादसमुदायस्य पदस्थानीयतया पदस्य सतः विधिना सहैकवाक्यत्वं भवतीत्यर्थवादानां पदैकवाक्यता ।

एवञ्च = अर्थवादघटकपदानां प्राशस्त्यादिलाक्षणिकत्वे च । विधिः विधेयं कर्म, तत्रापेक्षितो यः प्राशस्त्यरूपः पदार्थः, तस्य प्रत्यायकतया = बोधकतया इत्यर्थः । इदं च प्रत्यायकता पदस्थानीयतायां हेतुः । समुदायपदं तु वाक्यपरमपदसमूहस्य वाक्यत्वात् । पदस्य सतः = पदतां गतस्य । इदं समुदायस्य विशेषणम् । विधिना सह = विधिवाक्येन सह । एकवाक्यत्वं सम्भूयैकार्थप्रतिपादकत्वम् । इतीति हेतौ । अर्थवादपदानां विधिना सह पदैकवाक्यतेति सम्बन्धः । अयं भावः—सर्वत्र शेषशेषिवाक्ययोः वाक्यैकवाक्यतयैव भवितव्यमिति न नियमः इति अर्थवादवाक्यस्य प्राशस्त्या[illegible]ोधकत्वेन पदस्थानीयतया तेन सह विधिवाक्यस्य पदैकवाक्यतारूपैव सम्भूयार्थबोधकता । अतस्तत्र वाक्यैकवाक्यत्वाभाव इष्ट एवेति ।

वाक्यैकवाक्यतोदाहरणजिज्ञासामाह—

क्व तर्हि वाक्यैकवाक्यता ?

क्व = कुत्र । यदि वाक्ययोरेकवाक्यतापि पदैकवाक्यतारूपैव तदा वाक्यैकवाक्यता कुत्र लब्धावकाशा भविष्यति ? इति प्रश्नाशयः ।

उत्तरयति—

यत्र प्रत्येकं भिन्नसंसर्गप्रतिपादकयोरुभयोर्वाक्ययोराकांक्षावशेन महावाक्यार्थबोधकत्वम् । यथा दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेतेत्यादिवाक्यानां समिधो यजतीत्यादि वाक्यानां च परस्परापेक्षिताङ्गाङ्गिबोधकतयैकवाक्यता ।

यत्र = यादृशस्थले । प्रत्येक = स्वातन्त्र्येण । भिन्नौ यौ संसर्गौ तत्प्रतिपादकयोः = तद्बोधकयोः । संसर्गे भिन्नत्वं तु विभिन्नप्रतियोग्यनुयोगिकत्वम् । यथा "दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत" इति वाक्यस्य तद्घटकपदोपस्थाप्य प्रतियोग्यनुयोगिकसंसर्गबोधकत्वम् । तथा च भिन्नससर्गप्रतिपादकयोरित्यस्य विशेषणम् । आकांक्षावशेन = उपकार्योपकारकाकांक्षावशेन । परस्परेत्यादेः परस्परमपेक्षितौ यौ अङ्गाङ्गिनौ तद्बोधकतया इत्यर्थः । **अयं भावः—यत्राङ्गिवाक्यात् एकः अङ्गवाक्याच्चापरो बोधः प्रथमं सम्पद्यते, तदनन्तरमन्याकांक्षावशेन द्वे ते वाक्ये मिलित्वा महावाक्यतामासाद्य पुनरेकं बोधं जनयतः तत्र महाबोधानुकूलमहावाक्यतासम्पत्तये या अङ्गाङ्गिवाक्ययोरेकवाक्यता सम्पद्यते सा खलु भवति वाक्यैकवाक्यता । अर्थवादवाक्यात्तु न प्रथमं स्वातन्त्र्येण शाब्दबोधः । अपि तु प्राशस्त्याद्युपस्थितिमात्रम्, इति न तेन विधिवाक्यस्यैकवाक्यता वाक्यैकवाक्यता, किन्तु पदैकवाक्यतैव । अर्थवादे कथञ्चित् वाक्यत्वस्य सत्त्वेऽपि वस्तुतः पदत्वमेव ।** वस्तुतस्तु अर्थवादविधिवाक्ययोः पदैकवाक्यत्वाभिधानमिदं कर्ममीमांसापद्धतिमभ्युपेत्य । अतएव वेदान्तग्रन्थे तत्र तत्र पदैकवाक्यतोदाहरणरूपेण "न सुरां पिवेत्" इत्यादेरेवोल्लेख उपलभ्यते । यत्र पदयोः पदानां व सम्भूय एकार्थप्रतिपादकता तत्रैव पदैकवाक्यता । 'न सुरा पिवेत्' इत्यत्र पदैकवाक्यत्वानभ्युपगमे केवल सुरां पिवेदित्यतः सुरापानविधिबोधप्रसङ्गः । अतस्तादृशस्थले पदैकवाक्यता समभ्युपगम्यते । अर्थवादस्य स्थले पदैकवाक्यताभ्युपगमे भूतार्थवादस्यापि तथात्वापातः । न चेष्टापत्तिः तथा सत्यवान्तरार्थबोधाभावप्रसक्त्या अपसिद्धान्तापातः । वज्रहस्तः पुरन्दर इत्यादितो वज्रधारिदेवेन्द्रबोधस्य वेदान्तसिद्धान्तसिद्धत्वात् तत्र वाक्यैकवाक्यत्वस्य स्वीकारात् । तथा चार्थवादवाक्यस्य सत्यामपि पदस्थानीयतायां सुप्तिङन्तत्रयरूपं वाक्यत्वानपलापेन अर्थवादविधिवाक्ययोः एकवाक्यताऽपि वाक्यैकवाक्यतैव । अर्थवादविधिवाक्ययोः यथा न पदैकवाक्यत्वं तथा प्रतिपादितं देवताधिकरणे भाष्यतट्टीकाकारादिभिः सुस्पष्टम् । **अयमाशयः—कर्ममीमांसकानां मते अर्थवादवाक्यं न स्वातन्त्र्येण किञ्चिदर्थबोधकम् अतस्तन्मते तस्य पदत्वमेव न तु वाक्यत्वम् । ब्रह्ममीमांसकानां मते अवान्तरतात्पर्यबलेन अर्थवादस्यापि स्वातन्त्र्येण स्वार्थबोधकतया तत्र वाक्यत्वमव्याहतमिति तस्य विधिवाक्येन सह सम्भूयैकार्थप्रतिपादकत्वे वाक्यैकवाक्यत्वमेव ।**

वयन्तु ब्रूमः—नैकवाक्यता द्विविधा अपि तु त्रिविधा । पदैकवाक्यता वाक्यैकवाक्यता, पदवाक्यैकवाक्यता च । तत्रानेकपदनिष्ठं सम्भूयैकार्थप्रतिपादकत्वं

पदैकवाक्यत्वम् । अनेकवाक्यनिष्ठं सम्भूयैकार्थप्रतिपादकत्वं वाक्यैकवाक्यत्वम् । पदवाक्ययोरेकार्थप्रतिपादकत्वं पदवाक्यैकवाक्यत्वम् । प्रथमं न सुरां पिवेदित्यादौ । द्वितीयं भूतार्थवादविधिवाक्ययोः, अङ्गाङ्गिक्रियाबोधकवाक्ययोश्च । तृतीयं "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्याद्यर्थवाद-विधिवाक्ययोः । युक्तञ्चैतत्— अर्थवादस्य पदस्थानीयतया पदत्वेऽपि विधिवाक्ये पदत्वाभावेन पदयोरेकवाक्यत्वं पदैकवाक्यत्वं । पदैकवाक्यत्वमिति व्याख्यानुरूपस्य पदैकवाक्यत्वस्य तत्रासम्भूतत्वात् । अर्थवादस्य पदत्वेन विधिवाक्यस्य च वाक्यत्वेन पदवाक्ययोरेकवाक्यत्वं पदवाक्यैक-वाक्यत्वम् इति व्याख्यानुरूपं पदवाक्यैकवाक्यत्वं तत्र सङ्गच्छत एव । यदि च पदस्य पदयोः पदानां वा विधिना सह एकवाक्यत्वं पदैकवाक्यत्वम् । तथा च "न सुरां पिवेत्" इत्यादौ "न" "सुरां" इति पदयोः पिवेदिति विधिना सहैकवाक्यत्वम् । तथा वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेत्यादौ वाक्यस्य पदस्थानीयतया तेन सह विधिवाक्य-स्यैकवाक्यत्वमिति पदैकवाक्यत्वमित्युच्यते, तदा वाक्यैकवाक्यतानभ्युपगमापातः । अङ्गवाक्यस्यापि पदसमूहात्मकतया पदानां विधिना सहैकवाक्यत्वरूपस्य पदैकवाक्यत्वस्यैव तत्रापि सम्भवात् । तथा चाध्वरीन्द्राणां अत्र पदैकवाक्यतोक्तिः पदवाक्यैकवाक्यताभिप्राया बोध्या । गुणवादानुवादयोरपि पदवाक्यैकवाक्यता बोध्या । न च भाष्यादिग्रन्थविरोधः एकवाक्यता द्वैविध्याभिप्रायेण तथोक्तेरिति ।

अङ्गाङ्गिबोधकवाक्ययोः वाक्यैकवाक्यत्वे सम्वादमाह—

तदुक्तं भट्टपादैः—

स्वार्थबोधे समर्थनामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहृत्य जायते ॥ इति

स्वार्थबोधे समर्थानां वाक्यानां अङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया संहृत्य पुनः एकवाक्यत्वं जायते इत्यन्वयः । स्वार्थबोधो समर्थानाम्=जनितस्वार्थबोधानाम् । वाक्यानां= अङ्गाङ्गिबोधकवाक्यानाम् । अङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया=कर्मणः अङ्गाङ्गित्वाद्याकांक्षया । आदिपदेन कथम्भावाकांक्षारूपेतिकर्त्तव्यताकांक्षापरिग्रहः । संहृत्य=मिलित्वा । पुनः एकवाक्यत्वं जायते=सम्पद्यते इत्यर्थः ।

उपोदघातसङ्गत्या आसत्तिघटकस्य विविधस्य पदार्थस्यात्र निरूपितत्वे अव्यवधानेन तदुपस्थितिरासत्तिरिति स्पष्टयति—

एवं द्विविधोऽपि पदार्थो निरूपितः । तदुपस्थितिश्चासत्तिः । सा च शाब्दबोधहेतुः तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात् ।

एवं = प्रोक्तप्रकारेण । द्विविधः = वाच्यो लक्ष्यश्च । तदुपस्थिति. = वाच्यलक्ष्यार्थोपस्थिति. । अव्यवधानेनेति योज्यम् तेन नासङ्गतिः । सा च = आसत्तिश्च । तथैवान्वयव्यतिरेकदर्शनात् = अव्यवधानेन वाच्यलक्ष्यान्यतरानेकोपस्थितिसत्त्वे शाब्दबोधः, तदभावे शाब्दबोधाभावः इत्यनुभवात् । विरोधोऽपीत्यनेन तथैवान्वयेत्यनेन च अत्र मते न व्यञ्जनायाः वृत्तित्वम् । तेन न व्यङ्ग्यभ्रमः तृतीयः पदार्थः । क्वचिल्लक्षणया क्वचिदर्थापत्त्या क्वचिच्चानुमानेनैव व्यङ्गत्वेनाभिमतपदार्थभानसम्भवात् । इति सूचितम् ।

वाक्यार्थबोधे यथा अव्यवहितानेकपदार्थोपस्थितिरूपायाः आसत्तेर्हेतुता महावाक्यार्थबोधस्थले तथा अव्यवधानेनानेकखण्डवाक्यार्थबोधस्य हेतुता इत्याह—

एवं महावाक्यार्थबोधेऽवान्तरवाक्यार्थबोधो हेतुः तथैवान्वयाद्यवधारणात् ।

एवं = वाक्यार्थबोधे प्रोक्तपदार्थोपस्थित्यात्मकासत्तिरिव । महावाक्यत्वमत्र वाक्यैकवाक्यतापन्नशब्दत्वम् । न तु जीवब्रह्मैक्यबोधवाक्यत्वमात्रम् । न्यूनतापत्तेः । अवान्तरवाक्यं = खण्डवाक्यम् । तदर्थबोधः = तज्जन्यः शाब्दबोधः । हेतुः = कारणम् । **अयं भावः—यदि शाब्दबोधमात्रं प्रति अव्यवहितपदार्थोपस्थितिरूपाया आसत्तेः कारणत्वमुच्यते तदा व्यभिचारः । वाक्यैकवाक्यतास्थले वाक्यद्वयार्थोपस्थितीनां खण्डवाक्यार्थबोधने व्यवधानात् महावाक्यार्थबोधाव्यवहितपूर्वं प्रोक्तासत्तेरभावात् । अतो वाक्यार्थबोध एव प्रोक्तरूपाया आसत्तेर्हेतुता वाच्या । महावाक्यार्थबोधे तु अनेकखण्डवाक्यार्थबोधस्यैव हेतुताऽभ्युपगन्तव्येति ।**

तात्पर्यनिरूपणे सङ्गतिमाह—

क्रमप्राप्तं तात्पर्यं निरूपयति ।

क्रमप्राप्तमित्यनेन अवसरसङ्गत्या तात्पर्यनिरूपणमिति प्रोक्तम् । अवसरस्तु विरोधिजिज्ञासानिवृत्तिरूपः । वाक्यार्थबोधप्रकारः पूर्ववदवसेयः ।

स्वाभिमतलक्षणप्रकाशाय पूर्वमपराभिमतं तात्पर्यलक्षण दूषयति—

तत्र तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं न तात्पर्यम् ।

तत्र = निरूपणप्रतिज्ञायाम् । तस्य प्रतीतिः तत्प्रतीतिः, तस्याः या इच्छा तया । तत्पदेन उद्देश्यज्ञानविषयस्य ग्रहणम् । उच्चरितत्वं = उच्चारणविषयत्वम् । यथा घटकर्मकानयनबोधनेच्छया उच्चरितत्वं घटमानयेति वाक्ये तात्पर्यम् । श्रोता वाक्ये तादृशतात्पर्यप्रकारकं ज्ञान विधाय ततो विदधाति बोधम् । तात्पर्य-ज्ञानाकारस्तु "घटमानयेति" वाक्यं सम्बद्धघटकर्मत्वानयनबोधनेच्छयोच्चरितमिति बोध्यः । न तु घटकर्मकानयनबोधनेच्छयोच्चरितमिति । तथा सति वाक्यार्थस्या-पूर्वविषयकत्वानुपपत्तेः इति परमतसिद्धं तात्पर्यलक्षणं न साधुतामर्हतीत्यर्थः ।

कुतो नार्हति साधुतामित्यत्र हेतुमाह—

अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चरितात् वेदादर्थप्रत्ययाभावप्रसङ्गात् ।

अर्थपदं न केवलवस्तुपरम्, अपि तु वृत्तिविशिष्टवस्तुपरम् तेन न न्यूनता । तथा अर्थज्ञानशून्येनेत्यस्य पदनिरूपितवृत्तिविशिष्टार्थज्ञानरहितेनेत्यर्थः । अर्थस्य प्रत्ययो ज्ञानं, तदभावप्रसङ्गात् । अयं भावः–यत्रागृहीतपदपदार्थवृत्तिको वक्ता अन्यवाक्यमनुवदति, व्युत्पन्नश्चेच्छ्रोता तदा तदनुवाक्यादपि बोधो भवतीत्यनुभव-सिद्धः । स चेदानी न स्यात् । अव्युत्पन्नस्य वक्तुः तदर्थप्रतीतीच्छाया एवाभावात् तयोच्चरितत्वरूपस्य तात्पर्यस्य वाक्ये असम्भवात् ।

ननु मास्तु वाक्ये निरुक्ततात्पर्यम् विशेष्यभूते वाक्ये तत्प्रकारकं भ्रमात्मकं ज्ञानं भवितुमर्हति व्युत्पन्नस्य श्रोतुरिति कुतो बोधाभावप्रसङ्ग इत्याशङ्कायामाह—

अयमध्यापकोऽव्युत्पन्न इति विशेषदर्शने तत्र तात्पर्यभ्रमस्याप्य-सम्भवात् ।

तत्र = वाक्ये । वक्तृगतवृत्त्यज्ञानज्ञातुरपि व्युत्पन्नस्य श्रोतुः भवति निरुक्तानु-वादवाक्यात् बोधः । तदनुपपत्तिर्दुर्वारैव । श्रोतुर्निरुक्ततात्पर्यभ्रमस्यापि वाक्ये असम्भवात् । न हि विशेषदर्शिनः सम्भवो भ्रमस्येति भावः ।

ननु भगवदिच्छाया: कार्यमात्रं प्रति कारणत्वेन अव्युत्पन्नकर्त्तृकवाक्योच्चारणस्यापि तदधीनतया भगवत्प्रतीतीच्छामादाय तादृशतत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं अव्युत्पन्नवाक्येप्यक्षतम् ।

तस्य प्रमात्मकं ज्ञानं विधाय शक्नोति कर्त्तुं श्रोतावाक्यार्थबोधमित्याशंकापरिहाराय—

न चेश्वरीयतात्पर्यज्ञानात् तत्र बोध इति वाच्यम् । ईश्वरानङ्गीकर्त्तुरपि तद्वाक्यादर्थप्रत्ययदर्शनात् ।

न चेति वाच्यमिति परेणान्वय: । ईश्वरीयं यत्तात्पर्यं तज्ज्ञानात् । तात्पर्ये ईश्वरीयत्वन्तु अव्युत्पन्नोच्चारणे श्रोतृप्रतीत्यनुकूलं वक्त्रुच्चारणं भवत्वितीच्छाजन्यत्वं बोध्यम् । तत्र=अव्युत्पन्नवक्तृकस्थले । ईश्वरं नाङ्गीकरोतीति ईश्वरानङ्गीकर्त्ता, तस्य । तद्वाक्यात्=अव्युत्पन्नपुरुषोच्चारितवाक्यात् । अर्थप्रत्ययदर्शनात्=शाब्दबोधदर्शनात् । यः श्रोता नाङ्गीकरोतीश्वरं स कथं तदिच्छयोच्चरितत्वरूपं तात्पर्यं वाक्ये शक्नुयाद् गृहीतुम् ? असति तात्पर्यग्रहे कथं स्यात्तस्य शाब्दबोध: ? भवति चासौ । तस्मात् न तात्पर्ये ईश्वरीयत्वमादाय अनुपपत्तिवारणसम्भव इति भाव: ।

ननु किं नाम तात्पर्यं भवदभिमतम्, यज्ज्ञानं भवेद् हेतुश्शाब्दबोधे ? इत्याकाक्षायामाह—

उच्यते । तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम् ।

तस्य प्रतीति: तत्प्रतीति:, तादृशप्रतीतिजनकत्वम् । शब्दनिष्ठमिति शेष: । तेन नादृष्टादिनिष्ठजनकत्वमादाय दोष: । तत्प्रतीत्यत्र तत्पदेन पदार्थद्वयप्रतियोग्यनुयोगिकसंसर्गस्य गृहणम् । तेन न प्रत्येकपदनिष्ठोपस्थितिजनकत्वमादाय दोष: । जनकत्वं च जननयोग्यत्वरूपं बोध्यम् । अन्यथा श्रोतृदोषात् प्रतीत्यभावे वाक्यस्य तात्पर्याभावत्वप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्ति: । अन्यदोषस्यान्यत्राभ्युपगमेन अतिप्रसङ्गापातात् । न हि श्रोतृदोषेण वाक्यस्य वक्तुर्वा सदोषता युक्ता । यत्तु फलोपधायकत्वरूपजनकत्वनिवेशेऽन्योन्याश्रयापत्ति: । कार्यभूताया: तत्प्रतीते: कारणीभूततात्पर्यशरीरे प्रवेशादिति तन्न मनोरमम् । योग्यतानिवेशेऽपि तदवारणात् । तत्प्रतीते: तात्पर्यशरीरप्रवेशस्य समानत्वात् ।

वस्तुतस्तु सम्भावनैव नास्त्यत्रान्योन्याश्रयस्येति कथं तद्वारणाय योग्यता-निवेशसम्भवः । तथा हि—अन्योन्याश्रयापत्तिश्चेत्, उत्पत्त्याश्रिता ज्ञप्त्याश्रिता वा ? नाद्या, यत्र द्वयोरुत्पत्तौ द्वयोरपेक्षा भवति तत्रैव तत्प्रसरात् । प्रकृते तु तत्प्रतीत्युत्पत्तौ तात्पर्यज्ञानोत्पत्त्यपेक्षायां सत्त्यामपि तात्पर्यज्ञानोत्पादे तत्प्रतीत्युत्पादा-पेक्षाऽभावात् । नापि ज्ञप्त्याश्रिता, द्वयोर्ज्ञानयोः द्वयोर्ज्ञानापेक्षायामेव तत्प्रसरात् । प्रकृते तात्पर्यज्ञाने तत्प्रतीतिज्ञानापेक्षायामपि न तु तत्प्रतीतिज्ञाने तात्पर्यज्ञानम-पेक्षितम्, अपि तु तत्प्रतीत्युत्पादे, इति । अन्यथाऽपि च न तदापत्तिसम्भावना, तात्पर्यघटकतत्प्रतीतिपदेन सामान्यतो यत्किञ्चित्प्रतियोग्यनुयोगिकसंसर्गत्वेनैव संसर्गस्य प्रवेशात् । वाक्यार्थरूपायाः तत्प्रतीतेस्तु विशेषसंसर्गविषयकत्वात् इति ।

लक्ष्ये लक्षणं सङ्गमयति—

गेहे घट इति वाक्यं गेहे घटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यं न तु पट-संसर्गप्रतीतिजननयोग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्गपरं न तु पटसंसर्गपर-मिति व्यपदिश्यते ।

योग्यमित्यनन्तरं भवतीति योजना । इतीत्यनन्तरं व्यपदिश्यते इत्यत्र व्यपदेशो हेतुः । अय भावः—गेहे घट इति वाक्ये गेहानुयोगिकघटप्रतियोगिकसंयोगविषयक-शाब्दबोधस्वरूपयोग्यतैव विद्यते न तु गेहानुयोगिकपटप्रतियोगिकसंयोगबोध—स्वरूपयोग्यतेति अत एव लौकिकाः "गेहे घट" इति वाक्यं घटसंसर्गे तात्पर्यवत् न तु पटसंसर्गे" इति व्याहरन्ति । तस्मात् सुस्पष्टमिदं यत् तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वमेव वाक्यनिष्ठं तात्पर्यम् तज्ज्ञानमेव च शाब्दबोधहेतुरिति ।

योग्यतानिवेशेऽतिप्रसङ्गमुद्भावयति—

ननु सैन्धवमानयेति वाक्यं यदा लवणानयनप्रतीतीच्छया प्रयुक्तं तदाप्यश्वसंसर्गप्रतीतिजनने स्वरूपयोग्यतासत्त्वात् लवणपरत्वज्ञान—दशायामप्यश्वादिसंसर्गज्ञानापत्तिः ।

यदा=यस्मिन् काले । लवणस्य यत् आनयनं, तस्य या प्रतीतिः, तस्याः, या इच्छा तया । प्रयुक्तं=उच्चारितम् । तदापीत्यनन्तरं "सैन्धवमानयेति वाक्ये" इत्यध्याहारः । अयं भावः—तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वमित्यस्य तत्प्रतीतिजनकतावच्छेदक-

शक्तिमत्त्वमेवार्थो वक्तव्यः । शक्तिश्च यावदाश्रयकालस्थायिनी सैन्धवपदे लवणनिरूपितेवाश्वनिरूपिताऽपि विद्यत एवेति सैन्धवपदे लवणप्रतीतिजननयोग्यताया इव अश्वप्रतीतिजननयोग्यताया अप्यक्षतत्वेन लवणाश्वकर्मकानयनबोधद्वयस्य नियतत्वापत्तिः । न च सेष्टा, अनुभवविरोधात् । **परमेदमिहावधेयम्—दोषोऽयं तात्पर्यस्य स्वरूपसत एव शाब्दबोधहेतुत्वमभ्युपगम्य शक्यः सङ्क्रमयितुम् । न खलु तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधकारणत्वपक्षे । योग्यतायाः वाक्यगतशक्तिरूपत्वेऽपि नैक्यं शक्यतावच्छेदकभेदेन तद्भेदात् । तथा च लवणबोधजनकतावच्छेदकशक्ति-अश्वबोधजनकतावच्छेदकशक्तिरूपयोर्योग्यतयोर्भेदेन नोभयज्ञाननियमः । सम नियतैकज्ञानेऽप्यपराज्ञानसम्भवात् । सामग्रीवैचित्र्यात् । तथा च "कांक्षायोग्यताऽऽसत्तयः तात्पर्यज्ञानञ्चेति चत्वारि कारणानी" ति प्रागुक्तमूले ज्ञानपदं तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूपपराभिमततात्पर्याभिप्रायेणोक्तमिति मन्तव्यम् ।** अत एवानुपदमेव "एव तत्प्रतीतिजदनयोग्यत्वरूपस्य तात्पर्यस्य शाब्दज्ञानहेतुत्वे" इति वक्ष्यति । यद्वा यत्रैकसम्बन्धिन्यायेनोभयशक्तित्वरूपयोग्यताज्ञान तादृशस्थलविशेषे दोषः सङ्क्रमनीय इति ।

उत्तरयति—

इति चेन्न । तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वस्यापि तात्पर्यविशेषणत्वात् । तथा च यद्वाक्यं यत्प्रतीतिजननस्वरूपयोग्यत्वे सति यदन्यप्रतीतीच्छया नोच्चरितं तद्वाक्यं तत्संसर्गपरमित्युच्यते ।

ततः=वक्त्रभिप्रेतादर्थात् इतरस्य या प्रतीतिः तदिच्छया । अनुच्चरितत्वं= उच्चारणविषयत्वाभावः । इच्छयेत्यत्र तृतीयार्थप्रयोज्यत्वस्य तदेकदेशे उच्चारणे अन्वयः । तात्पर्यविशेषणत्वादित्यत्र तार्त्पय तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व, तत्र विशेषणत्वात् इत्यर्थः । **तदन्यप्रतीतीच्छयानुच्चरितत्वे सति तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वमित्यस्यैवार्थस्य स्फुटीकरणं "तथा च यद्वाक्यमित्यादि । तथा च सैन्धवमानयेति" वाक्यस्थले लवणकर्मकानयनबोधकाले न नियमतः अश्वबोधापत्तिः ।** तथा हि—तत्पदेनाश्वग्रहणे तदितरस्य लवणस्य या प्रतीतिः=शाब्दबोधः, तदिच्छयोच्चरितत्वमेवायाति सैन्धवमानयेति वाक्ये, न तु तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चरितत्वम् । एवं विशेषणांशाभावेन तद्विशिष्टतत्प्रतीतिजननयोग्यत्वस्याभावेन तात्पर्याभावात्

नाश्वबोधापत्तिः । लवणग्रहणं तु समायाति वाक्ये तात्पर्यमिति भवति लवणकर्मकानयनबोध इति ।

तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वस्य पराभिमतस्य तात्पर्यत्वे शुकाव्युत्पन्नवाक्योर्यः तात्पर्याभावात् तादृशस्थले शाब्दबोधानुपपत्तिरापतति स्म सा नेदानीमापततीति स्पष्टयति—

शुकादिवाक्येऽव्युत्पन्नोच्चारितवेदवाक्यादौ च प्रतीतीच्छाया एवाभावेन तदनन्यप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वाभावेन लक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिः ।

शुकादीत्यादिपदेन सारिकादिपरिग्रहः । व्युत्पत्तिः वृत्तिज्ञानं तदप्राप्तोऽव्युत्पन्नः । अगृहीतवृत्तिक इति यावत् । तेनोच्चारितं यद्वेदवाक्यं तदादौ । आदिपदेन तादृशवेदातिरिक्तवाक्यपरिग्रहः । प्रथमाभावो द्वितीयाभावे हेतुः । विशेषणाभावस्य विशिष्टाभावविशेषहेतुत्वात् । **आयं भावः—शुकादयः अव्युत्पन्ना जना वा कस्यापि कोऽपि बोधो जायताम् इतीच्छया न समुच्चारयन्ति वाक्यानि । सति चैवं यथा तत्प्रतीतीच्छया न तदुच्चारणं तथा तदन्यप्रतीतीच्छयाऽपि न तदुच्चारणम् इति तदुच्चारितवाक्ये तदन्यप्रतीतीच्छयानुच्चरितत्वमक्षुण्णम् । आनुपूर्वीमत्तया शक्तिमत्वेन तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वमप्यस्त्येवेति न लक्षणाव्याप्तिः शाब्दबोधानुपपत्तिर्वेति ।**

नन्वेवं सति “एतदस्मद्वाक्यात् लवणकर्मकानयनबोधः अश्वकर्मकानयनबोधश्च जायतामितीच्छया यत्र सैन्धवमानयेति वाक्यप्रयोगः तत्र बोधाभावप्रसङ्गः । लवणेतराश्वप्रतीतीच्छया, अश्वेतरलवणप्रतीतिच्छयोच्चरितत्वस्यैव सैन्धवमानयेति वाक्ये सत्त्वेन तदन्यप्रतीतीच्छयानुच्चरितत्वस्याभावात् इत्यशंकां निराकरोति—

न चोभयप्रतीतीच्छयोच्चारितेऽव्याप्तिः । तदन्यमात्रप्रतीतीच्छयानुच्चरितत्वस्य विवक्षितत्वात् ।

न चेत्यस्याव्याप्तिरित्यनेनान्वयः । उच्चरिते इत्यनन्तरं वाक्ये, अव्याप्तिरित्यनन्तर च तात्पर्यस्येति शेषः । उभयप्रतीतीच्छयोच्चरिते वाक्ये न तात्पर्याभावप्रसङ्ग इत्यर्थः । तदन्यमात्रेत्यत्र मात्रशब्दो भिन्नक्रमः । तथा च तदन्यप्रतीतीच्छा-

मात्रेणानुच्चरितत्वाभाव इत्यर्थः। उभयप्रतीतीच्छयोच्चरितवाक्ये तदन्यप्रतीतीच्छयेव। तत्प्रतीतीच्छयाप्युच्चरितत्वसत्त्वेन तदन्यप्रतीतीच्छामात्रेणानुच्चरितत्वस्याक्षतिः । मात्रपदस्य यथा श्रुतत्वे तदन्येतरा विषयिणी सती तदन्यविषयिणी या प्रतीतिः तदिच्छयानुच्चरितत्वपर्यवसानेन दोषतादवस्थ्यापातात् । लवणाश्वकर्मकयोः प्रतीत्योर्भेदे द्वयोरिच्छयोस्तादृगिच्छात्वेन तदनुच्चरितत्वस्य वाक्ये अभावात् । यत्र चोभयप्रतीतिविषयिणी एकैवेच्छा तत्रापि नानुपपत्तिः । तस्या इच्छायाः तदन्यप्रतीतीच्छेतरेच्छापदेनाग्रहणेन अन्यस्या एवेच्छायाः तादृशत्वेन प्रकृतवाक्ये तत्प्रयुक्तोच्चारितत्वाभावाक्षतेः । सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयतीति नियमपक्षे तु शङ्काया एव नावकाश इति विवक्षितत्वादित्यस्य तात्पर्यपदेनेति शेषः ।

ननु या या योग्यता सा सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नेति नियमात् तात्पर्यतया अभिप्रेता तत्प्रतीतिजननयोग्यता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना इत्यस्य प्राप्ततया नावच्छेदकज्ञानं विना योग्यताज्ञानमित्यत आह—

उक्तप्रतीतिजननयोग्यतायाश्चावच्छेदिका शक्तिः ।

समानाधिकरणयोः पदार्थयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावस्य सर्वानुभवसिद्धतया तयोः स्थिरस्यावच्छेदकत्वं कल्पितस्यत्वावच्छेद्यत्वमिति नियमेन योग्यतायाः अवच्छेद्यत्वं शक्तेरवच्छेदकत्वमिति भावः ।

नन्वच्छेदकभूतायाः शक्तेः कल्पने गौरवमित्यत आह—

अस्माकं मते सर्वत्र कारणतायां शक्तेरेवावच्छेदकत्वात् इति न कोऽपि दोषः ।

सर्वत्र = कार्यकारणभावस्थले । यद्वा सर्वत्रेति कारणतायामित्यस्य विशेषणम् । तथा च सर्वस्यां कारणतायामित्यर्थः । अयं भावः— अरण्यरणिसंयोग-मणिकिरणसंयोगतृणफूत्कारसंयोगादीनां वह्निमात्रं प्रति कारणत्वाभ्युपगमे व्यभिचारः । कार्यवैजात्यमभ्युपगम्य कार्यकारणभावत्रयस्वीकारे गौरवम् । अतो वह्न्यनुकूलैकशक्तिमत्त्वेन तेषां कारणत्वं वाच्यम् । तथा च न व्यभिचारगौरवयोरवकाशः । सति चैवं सर्वत्रैव एकरूपेण कार्यकारणनिर्वाह इति कारणतावच्छेदिका शक्तिः क्लृप्तैव न कल्पनीया । यतः [illegible] पदमादध्यात् इति ।

नन्वेवं सति विवरणग्रन्थविरोधः । तत्र तात्पर्यज्ञानकारणत्वनिरासात् इत्याशङ्कां निराकरोति—

एव तात्पर्यस्य तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वरूपस्य शाब्दज्ञानजनकत्वे चतुर्थवर्णके तात्पर्यज्ञानहेतुत्वनिराकरणवाक्यं तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्व-तात्पर्यनिराकरणपरम् ।

एवमित्यस्य शाब्दबोधजनकत्वे इत्यनेन सम्बन्धः । निर्णीते इति शेषः । चतुर्थ-वर्णके पञ्चपादिकाविवरणभागविशेषे । तात्पर्यज्ञानस्य यद्धेतुत्वं = शाब्दबोध-कारणत्वं, तस्य यन्निराकरणं = अस्वीकारः तत्परम् = तत्ख्यापकम् । **नैयायिका-भिमतस्य तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूपस्य तात्पर्यस्य अस्वीकारपरो विवरणग्रन्थः । न तु तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वरूपस्य स्वतन्त्रसिद्धान्तभूतस्य तात्पर्यस्यास्वीकारपर इति भावः ।**

ननु किमत्र विनिगमकमित्यत आह—

अन्यथा तात्पर्यज्ञानफलकवेदान्तविचारवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

अन्यथा = तात्पर्यमात्रस्य हेतुत्वास्वीकारे । तात्पर्यज्ञानं = तन्निर्णयः स एव फलं यस्य एतादृशो यो वेदान्तविचारः तस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् इत्यर्थः ।

अयं भावः—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।

इत्युक्तदिशा षड्विधलिङ्गैः तात्पर्यनिर्णय एव वेदान्तविचारस्य फलम् । यदि तात्पर्यस्य तज्ज्ञानस्य वा कारणत्वमेव नाभ्युपगम्यते श्रुत्यर्थबोधाय तात्पर्यनिर्णयो नापेक्षितः स्यात् । सति चैवं किं प्रयोजनकः स्याद्वेदान्तविचार इति ।

मतान्तरेण विवरणग्रन्थं सङ्गमयति—

केचित्तु शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन तात्पर्यज्ञानं न हेतुरित्येवं परं चतुर्थ-वर्णकवाक्यम् । तात्पर्यसंशयविपर्ययोत्तरशाब्दज्ञानविशेषे च तात्पर्य-

ज्ञानं हेतुरेव । एतद्वाक्यं एतत्परमुतान्यपरमिति संशये तद्विपर्यये च तदुत्तरवाक्यार्थविशेषनिश्चयस्य तात्पर्यविशेषनिश्चयं विनाऽनुपपत्तेरित्याहुः ।

केचिदित्यस्य आहुरित्यनेन सम्बन्धः। शाब्दज्ञानत्वावच्छेदेन = शाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति। न हेतुः = नोत्पादकम्। इत्येवम्पर = एतदभिप्रायकम्। तात्पर्यस्य यः संशयः यश्च विपर्ययः, तयोरनन्तरं यच्छाब्दज्ञानम्, तादृशज्ञानविशेषे इत्यर्थः । हेतुरेव = उत्पादकमेव । अत्र प्रतिज्ञायां "इदं वाक्यमि"त्यारभ्य अनुपपत्तेरित्यन्तं हेतुवाक्यम्। तात्पर्यनिश्चयं विना तदुत्तरवाक्यार्थविशेषनिश्चयस्यानुपपत्तेः इत्यन्वयः। अनुपपत्तेरित्यस्याभावादित्यर्थः। **अयमाशयः—शाब्दबोधं प्रति तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वं कथमभ्युपेयम्? वक्त्रभिप्रेताद्वाक्यार्थादन्योऽर्थो मा बुध्यतां श्रोता इत्येतदर्थमिति चेत् सत्यम् । किन्तु तर्हि यत्र वाक्यस्यानेकार्थकपदघटितत्वेन श्रोतुरनेकार्थोपस्थित्या इदं वाक्यं एतदर्थबोधनाभिप्रायेणोक्तम् आहोस्वित् अमुकार्थबोधनाभिप्रायेणेति श्रोतुः तात्पर्यसंशयः तत्रैव तात्पर्यनिश्चयस्य हेतुत्वं वाच्यम्—यथा सैन्धवमानयेत्यादौ । यत्र वा—एतद्वाक्यं नैतदर्थबोधनेच्छयोच्चरितमिति तात्पर्यव्यतिरेकनिश्चयः तत्र निर्णायकजन्यस्य तात्पर्यनिर्णयस्य कारणत्वं शाब्दबोधं प्रति। तदर्थं तत्रस्थे शाब्दबोधे कालावलम्बस्याप्यवसिद्धत्वात्। परन्तु शाब्दबोधत्वावच्छिन्नं शाब्दबोधसामान्यं प्रति तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वाभ्युपगमो निर्युक्तिकः। इत्यत्रैवाभिप्रायः पञ्चपादिकान्तर्गतस्य तात्पर्यज्ञानकारणत्वनिराकरणग्रन्थस्येति नत तो विरोधः।** शाब्दबोधसामान्य प्रति तात्पर्यज्ञानस्य हेतुत्वानभ्युपगमेऽपि शाब्दबोधविशेषताकारणत्वस्वीकारात् । अत्राहुरित्यनेनास्वरसोद्भावनम्। तद्बीजन्तु शक्तेरिव लक्षणावृत्तेरपि अर्थत्वप्रयोजकतया सर्वेषामेव वाक्यानां वानार्थकपदघटिततया तात्पर्यसन्देहसम्भवेनविनिगमनाविरहात् शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रत्येव तात्पर्यज्ञानकारणत्वाभ्युपगमापातात् इति ।

ननु तात्पर्यस्यावधारणं कथं स्यात् इत्याकाक्षायामाह—

तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसापरिशोधितन्यायादवधार्यते । लोके तु प्रकरणादिना ।

वेदे=वेदवाक्ये । सप्तम्यर्थो वृत्तित्वम्, तथा च वेदवृत्तीत्यर्थः । एतत्तात्पर्यविशेषणम् । तात्पर्यमवधार्यते इति सम्बन्धः । मीमांसा=तर्कः, तेन परिशोधितः=

हेतुनिष्ठव्यभिचाराभावं गमितः यो न्यायः = अनुमानम्, तस्मात् । तथा हि— "कपिञ्जलानालभेत" इति विधिवाक्यम्, तत्र 'बहुषु बहुवचनमि"त्यनेन त्र्यादि-परार्द्धपर्यन्तायाः संख्यायाः द्वितीयाबहुवचनेन प्राप्तिसम्भवात् अशेषकपिञ्जला-लम्भनविधेयतापरमेतद्वाक्यमिति निश्चयो भवति । अनुमानाकारस्तु—"कपिञ्जला-निति बहुवचन त्रित्वादिसंख्यापरम् अलाक्षणिकबहुवचनत्वात् इत्येव रूपः । तर्कस्तु अशेषोपादानासहकृतप्रथमोपस्थितत्वरूपः ।" लोके = लौकिकवाक्ये । सप्तम्यर्थः पूर्ववत् । प्रकरणादिना—यथा सैन्धवमानयेत्यादौ भोजनकाले सैन्धवपदस्य लवणपरतामिति निश्चयः, यात्राकाले चाश्वपरत्वमिति निश्चयः इति ।

लौकिकवैदिकवाक्ययोः सत्यपि तद्वतितत्प्रकारकज्ञानजनकत्वेन साम्ये द्वयोर्वैलक्षण्यमाह—

तत्र लौकिकवाक्यानां मानान्तरावगतार्थकतयाऽनुवादकत्वम् । वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम् ।

तत्र = लोकवेदयोर्मध्ये । अन्यन्मानं मानान्तरम्, प्रकृतवाक्यातिरिक्तयत्किञ्चि-त्प्रमाणमित्यर्थः तेन अवगतः = ज्ञातः अर्थो यस्य, असौ मानान्तरावगतार्थकः, तस्य भावस्तत्ता, तया । प्रकृतवाक्यातिरिक्तयत्किञ्चित्प्रमाणजन्यप्रमितिविषयत्वेनेति यावत् । अनुवादकत्वं ज्ञातज्ञापकत्वम् । अपूर्वतया = पूर्वमज्ञाततया । नानुवादकत्वं = न ज्ञातज्ञापकत्वम् । **आयं भावः—शब्दगतं हि प्रामाण्यं द्विविधम्, अबाधितार्थ-ज्ञानजनकत्वरूपमेकम्, अज्ञातार्थज्ञानजनकत्वरूपमपरम् । तत्र प्रथमं वेदवाक्य-मात्रनिष्ठम् । लौकिकवाक्यस्य नियमतः अनुवादरूपत्वे न ज्ञातज्ञापकत्वात् इति ।** इदं पुनरिहावधेयम्—ननु किं नाम अज्ञातज्ञापकत्वमित्यत्राज्ञातत्वम् ? यदि केनापि पुरुषेण केनापि प्रमाणेन ज्ञातत्वाभावः, तदा वेदस्यापि ज्ञातज्ञापकत्वापत्तिः । तदर्थस्यापि पूर्वपूर्ववेदार्थज्ञातत्वात् । यदि च केनचित् पुरुषेणज्ञातत्वमभिप्रेतम् तदालौकिकवाक्यस्याप्यननुवादित्वापत्तिः तदर्थस्यापि केनचिदज्ञातत्वात् । तेन पुरुषेणाज्ञातार्थकत्वं तं पुरुषं प्रत्यननुवादकत्वमिति चेत् लौकिकस्यानुवादकत्व वैदिकस्याननुवादकत्वमिति विभागानुपपत्तिः उभयोरप्युभयाश्रयत्वसम्भवात् । नापि प्रत्यक्षवृत्त्यविषयत्वम् । ब्रह्मणोऽपि चरमवृत्तिविषयत्वेन तद्वाक्यभूतस्य वेदस्यापि ज्ञातज्ञापकत्वापत्तेरिति चेत्, केनाऽपि पुरुषेण बाह्येन्द्रियजवृत्त्या अविषयीकृतत्वस्यै-वाज्ञातत्वपदार्थत्वात् । न च 'अग्निर्हिमस्य भेषज'मिति वेदस्य तर्हि ज्ञातज्ञापकत्वेन

"वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम्" इति वेदत्वावच्छेदेन अननुवादकत्व-प्रतिज्ञाहानिरिति वाच्यम् । प्रकृतस्य वेदपदस्य तादृगतिरिक्तविषयकत्वात् इति ।

ननु कार्यतावाचि लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययादिघटितवाक्यस्य शाब्दबोधजनकतया प्रामाण्येऽपि "नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म" "तत्त्वमसी"त्यादिवाक्याना प्रामाण्यं दुरुपपादमेव, प्रमा प्रति कर्त्तृत्वकरणत्वयोरभावात् । सति चैव "वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वमि"ति ग्रन्थासङ्गतिरित्यत आह—

तत्र लोके वेदे च कार्यपराणामिव सिद्धार्थानामपि प्रामाण्यम् । पुत्रस्ते जातः इत्यादिषु सिद्धार्थेऽपि पदानां सामर्थ्यावधारणात् । अत एव वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यम् । यथा चैतत्तथा विषयपरिच्छेदे वक्ष्यते ।

कार्यपराणामिव = किञ्चिन्निष्ठ = कृतिसाध्यत्वज्ञापकानामिव । सिद्धार्थानां = कृतिसाध्यत्वेनाननुज्ञातार्थकानाम् । प्रामाण्यं अग्रहीतार्थज्ञापकत्वम् । इत्यादिषु = इत्यादिवाक्यप्रयोगस्थले । सिद्धः = कृतसाध्यो योऽर्थः तस्मिन्नपि । पदानां सामर्थ्यावधारणात् = शक्त्यवधारणात् । अयमाशयः—यदि कोऽपि चैत्रसमीपमागत्य 'हे चैत्र ! तव गृहे पुत्रः समुत्पन्नः' इति ब्रूते तर्हि तच्छ्रुत्वैव चैत्रमुखं विकसितं भवतीति प्रत्यक्षसिद्धं सर्वेषाम् । तन्मुखविकासस्तु नाकस्माद् भवितुमर्हति कार्यस्य सकारणकत्वनियमात् । इति मुखविकासकारणं सुखं चैत्रात्मनि समुत्पन्नमित्यवगन्तव्यम् । अवगम्यस्य सुखस्यापि च कार्यतया तेनापि सकारणकेन भवितव्यम् । तच्च कारणं न "चैत्र पुत्रस्ते समुत्पन्नः" इति वाक्यजन्याच्छाब्दबोधात् अन्यत् किमपि वक्तुं शक्यते । अन्यस्य कस्यापि तत्र सुखान्वयव्यतिरेकाननुविधायित्वात् । सति चैवं "चैत्र पुत्रस्ते समुत्पन्नः" इति वाक्यात् कार्यतावाचकलिङ्लोट्तव्यप्रत्ययाघटितात् शाब्दबोधो भवतीति इत्यपलपम् । एवं च 'चैत्र पुत्रस्ते जातः' इत्यादिसिद्धवाक्यवत् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' इत्यादीनां सिद्धार्थकानां वेदान्तवाक्यानामपि शाब्दबोधजनकत्वं तेन च प्रामाण्यमक्षुण्णमिति 'वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतये'त्यादिग्रन्थस्य नासङ्गतिरिति ।

ननु वेदे प्रमाण्यस्यानिश्चये वेदान्तःपातिनां वेदान्तवाक्यानामपि प्रामाण्यमनिश्चितमेव स्यात् । अतः प्रथमं वेदस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यम् । न खलु शाब्दबोजनक-

वाक्यत्वमात्रेण वेदप्रामाण्यं वक्तुं सुकरम् । तथा सति लौकिकानुवादकवाक्यात् वेदस्य वैलक्षण्यं न स्यात्, शाब्दबोधजनकत्वस्य समानत्वात् । अतस्तत्स्थापनाय प्रथमं गौतममतमाह—

तत्र वेदानां नित्यसर्वज्ञपरमेश्वरप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिति नैयायिकाः ।

तत्र=लौकिकवेदवाक्ययोर्मध्ये । नित्यं=सदा, सर्वं जानातीति नित्यसर्वज्ञः, तत्प्रणीतत्वेन=तत्कर्तृकत्वेन । योगिव्यावृत्तये नित्यपदम् । अस्मदादिव्यावृत्तये सर्वज्ञपदम् । अयं भावः—नित्यसर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य न भ्रमप्रमादकरणापाटवादिदोषसम्भव इति दोषाभावात् तस्य प्रामाण्यमक्षुण्णम् । सति चैवं आप्तवाक्यत्वरूपस्य शब्दगतस्य प्रामाण्यस्य वेदे सत्ता अबाधितेति । न चाप्तवाक्यत्वरूपस्य प्रामाण्यस्य वेदेऽभ्युपगमे लौकिकवैदिकवाक्ययोरविशेषापत्तिः । लौकिकवाक्यकर्त्तुराप्तस्य नित्यसर्वज्ञत्वाभवेन कर्तृवैलक्षण्यप्रयुक्तस्य वैलक्षण्यस्य तयोः सुवचत्वात् इति ।

वेदप्रामाण्यविषये कर्मभीमांसकमतमाह—

वेदानां नित्यत्वेन निरस्तसमस्तदूषणाशंकतया प्रामाण्यमित्यध्वरमीमांसकाः ।

नित्यत्वेन=प्रागभावध्वंसयोरप्रतियोगितया । समस्तानि दूषणानि समस्तदूषणानि तेषामाशंका समस्तदूषणाशंका, सा निरस्ता यत्रासौ निरस्तसमस्तदूषणाशंकः, तस्य भावस्तत्ता, तया । नित्यत्वं निरस्तसमस्तदूषणाशङ्कतायां हेतुः । अयमभिप्रायः—वर्णात्मकः शब्दो नित्यः, तथा च तदात्मकतया वेदोऽपि नित्य इति न कोऽपि तत्कर्त्ता । सति चैवं न भ्रमप्रमादकरणापाटवादिदोषप्रयुक्तदोषलेशाशङ्का वेदे इत्यतस्तेषां प्रामाण्यम् । यद्यपि वर्णनित्यत्वस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वाभ्युपगमे लौकिकवैदिकवाक्ययोरविशेषापत्तिः, तथापि वेदस्थले सानुपूर्वीकवर्णाना नित्यत्वम् । अन्यत्र तु न तथेति नाविशेषापत्तिर्लौकिकवैदिकवाक्ययोः । यद्वा न केवलं नित्यवर्णात्मकत्वस्य प्रामाण्यप्रयोजकतायामभिप्रायः अपितु अज्ञातज्ञापकत्वे सति नित्यवर्णात्मकत्वस्य । तथा च न लौकिकवाक्यानां वैदिकवाक्याविशेषापातः ।

अपौरुषेयत्वात् वेदवाक्यानां प्रामाण्यमित्युपसंहृत्तु प्रथम कर्ममीमांसकमतं दूपयति—

अस्माकं तु मते वेदो न नित्यः, उत्पत्तिमत्त्वात् ।

अस्माकं = वेदान्तिनाम् । उत्पत्तिमत्त्वात् = प्रागभावप्रतियोगित्वात् । अयमभिसन्धिः—यद्यत् प्रागभावप्रतियोगि तत्तदनित्यमिति दृष्टा व्याप्तिः प्रागभावसर्वत्र जन्यपदार्थे । सति चैवं वेदस्यापि प्रतियोगितया ध्वसप्रतियोगित्वरूपमनित्यत्वमभ्युपेयम् । व्याप्यसत्त्वे व्यापकसत्त्वावश्यकत्वात् । तथा च न नित्यत्व वेदानां यन्निरस्तसमस्तदूषणतायां भवेद्धेतुः । स्थापयेच्च वेदाना प्रामाण्यमिति ।

ननु पक्षे वेदे प्रागभावप्रतियोगित्वरूपमुत्पत्तिमत्त्वमेवासिद्धमिति स्वरूपासिद्धिरत आह—

उत्पत्तिमत्त्वं च "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यदृग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादिश्रुतेः ।

अस्य महतो भूतस्य = परमेश्वरस्य । निःश्वसितम् = श्वासप्रश्वासवत् अप्रयत्ननिर्गतम् । ऋग्यजुर्वेदात्मकं वस्तु इत्यर्थः ।

ननु तर्हि वेदानित्यत्वाभ्युपगमे न्यायमतप्रवेशः इत्याशङ्कायामाह—

नापि वेदानां त्रिक्षणावस्थायित्वम् । य एव वेदो देवदत्तेनाधीतः स एव मयापीत्यादिप्रत्यभिज्ञाविरोधात् ।

त्रिक्षणावस्थायित्वमपि वेदानां नेत्यन्वयः । त्रिक्षणावस्थायित्वन्तु तृतीयक्षण-वृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वरूपं बोध्यम् । तेन नासङ्गतिः । अन्यथा नैयायिकैः प्रथमतृतीयक्षणयोः शब्दोत्पादनाशाभ्युपगमेन मध्यक्षण एव तत्स्थितिस्वीकारेणा-सङ्गतिप्रसङ्गात् । "य एव वेदो देवदत्तेनाधीतः स एव मयापी"ति प्रत्यभिज्ञाकारः । आदिपदेन य एव तेन श्रुतः स एव मयापीत्यादिप्रत्यभिज्ञापरिग्रहः ।

नन्वेवं सति आनुपूर्वीविशिष्टवेदानित्यत्वसिद्धावपि वर्णनित्यत्वासिद्धिः इत्यत आह—

अत एव गकारदिवर्णानामपि न क्षणिकत्वं सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञाविरोधात्।

अत एव = प्रत्यभिज्ञाविरोधादेव । न क्षणिकत्वं = न तृतीयक्षणवृत्तिध्वंस-प्रतियोगित्वम् । यथा प्रत्यभिज्ञाविरोधात् आनुपूर्वीविशिष्टशब्दात्मकवाक्यस्य न नित्यत्वं तथा तदवयवभूतस्य वर्णात्मकशब्दस्यापि न नित्यत्वमिति भावः। ननु यदि क्षणिकत्वमपि नाङ्गीक्रियते वेदानां, नित्यत्वमपि च तर्हि कीदृकमङ्गीक्रियते? इत्याकाक्षायामाह—

तथा च वर्णपदवाक्यसमुदायरूपस्य वेदस्य वियदादिवत् सृष्टिकालीनोत्पत्तिकत्व प्रलयकालीनध्वंसप्रतियोगित्वञ्च। न तु मध्ये वर्णानामुत्पादविनाशौ। अनन्तगकारादिकल्पनायां गौरवात्।

तथा च=नित्यत्वक्षणिकत्वयोरनङ्गीकारे च वर्णाश्च पदानि च वर्णपदवाक्यानि, तत्समुदायरूपस्य=तत्समुदायात्मकस्य। वर्णानां पदानाञ्च पृथगुल्लेखः तत्रानित्यत्वस्पष्टीकरणार्थः । वियदादिवत्=आकाशादिवत् । आदिपदात् वाय्वादीनामुपग्रहः। सृष्टिकालीना उत्पत्तिर्यस्य तत् सृष्टिकालीनोत्पत्तिकम्, तस्य भावस्तत्त्वम्। प्रलयकालीनो ध्वंसः प्रलयकालीनःध्वंसः, तत्प्रतियोगित्वम्। अयं भावः—शब्दानां तृतीयक्षणे नाशाभ्युपगमे असंख्यककारविकल्पनायां महद् गौरवम्, सोऽयं ककार इत्यादिप्रत्यभिज्ञाविरोधश्च । सर्वथा नित्यत्वाभ्युपगमे "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्याद्यद्वैतश्रुतिविरोधः। अतो नात्यन्तनित्यत्वं न वा अत्यन्तानित्यत्वं। तथा च नित्यत्वव्यवहारस्तस्य एकसृष्टावविनाशित्वात्। अनित्यत्वन्तु प्रागभावध्वंसप्रतियोगित्वात् इति।

नन्वेकसृष्टावेकककारादिस्वीकारे सततं कथं न तच्छ्रवणम्? इत्याशङ्कायामाह—

अनुच्चारणदशायां वर्णानामनभिव्यक्तिस्तूच्चारणरूपव्यञ्जकाभावान्न विरुध्यते, अन्धकारस्थपटानुपलम्भवत्।

अनुच्चारणदशाया=कण्ठताल्वाद्यनभिघातदशायाम्। अनभिव्यक्तिः=अज्ञानं अश्रवणमित्यर्थः। उच्चारणं=कण्ठताल्वाद्यभिघातः, तद्रूपः=तदात्मको योऽभिव्यञ्जकः=आविर्भावकारणम, तदभावात। न विरुध्यते=नानुपपद्यते। प्रदीपात्मक-

व्यञ्जकाभावात् यथा अन्धकारस्थघटादीना न ज्ञानं, कण्ठताल्वाद्यभिघाताभावात् तथा विद्यमानस्यापि ककारादेः न श्रवणमिति भावः। **घटाद्यनुपलब्ध्या यथा आवरणात्मकस्य तमसः स्वीकारः तथा ककाराद्यनुपलब्ध्या ककाराद्यावरकमपि किञ्चिदभ्युपेयम् यस्य कण्ठताल्वाद्यभिघातान्निवृत्तिरिति भावः। न च कल्पनागौरवम् अनन्तककारादिकल्पनातस्तथापि लाघवात् इत्यभिप्रायः।**

ननूत्पन्नो गकार इत्यनुभवविरोधः इत्याशङ्कां परिहरन्नुपसंहारमाह—

उत्पन्नो गकार इत्यादि प्रत्यक्षं तु "सोऽयं गकार" इति प्रत्यभिज्ञाविरोधादप्रमाणम्। वर्णाभिव्यञ्जकध्वनिगतोत्पत्तिनिरूपितपरम्परासम्बन्धविषयकत्वेन प्रमाणं वा। तस्मान्न वेदानां क्षणिकत्वम्।

आदिपदात् नष्टो गकार इत्यादिपरिग्रहः। अप्रमाणं = भ्रमः। **अयं भावः—उत्पादविनाशविषयकप्रत्यक्षस्य प्रामाण्याभ्युपगमे अनन्तगकारादितत्प्रागभावध्वंसादिकल्पनागौरवम्; सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञा विरोधश्च सोऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यस्वीकारे च केवलं वर्णोत्पादनाशविषयकप्रतीत्यप्रामाण्याभ्युपगमः, तेन महल्लाघवम्।** अतः एकसृष्टौ एकककारादिकल्पनैव साधीयसी। द्वयोः प्रत्ययोः कथञ्चित् प्रामाण्यसम्पादनाय वर्णाभिव्यञ्जकेति कल्पान्तरानुसरणम्। वर्णस्याभिव्यञ्जको यो ध्वनिः तद्गता या उत्पत्तिः तन्निरूपितः अर्थात् तत्प्रतियोगिको यः परम्परासम्बन्धः, तद्विषयकत्वेन। वाकारानन्तरं "उत्पन्नो गकार इति प्रत्यक्षम्" इत्यस्य सम्बन्धः। स्वाश्रयाभिव्यङ्ग्यत्वसम्बन्धेन न ध्वनिगतां उत्पत्तिं वर्णे समानीय उत्पन्नो गकार इत्यादि प्रत्यक्षम्। निरुक्तपरम्परया उत्पत्तेः वर्णेऽपि सत्त्वात् उत्पन्नो गकार इत्यस्य परम्परयोत्पत्तिविषयकस्य प्रामाण्यमित्यभिप्रायः। तस्मात् वर्णानामेकसृष्टौ नानोत्पादविनाशानभ्युपगमात् न क्षणिकत्वम् = न तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्।

सर्गाद्यन्तयोरुत्पादविनाशाभ्युपगमेऽपि वेदस्य पौरुषेयत्वापत्त्या अपौरुषेयत्वसिद्धान्तभङ्गः कथं न? इत्याशङ्कते—

ननु क्षणिकत्वाभावेऽपि वियदादिप्रपञ्चवदुत्पत्तिमत्त्वेन परमेश्वरकर्तृकतया पौरुषेयत्वापत्तौ अपौरुषेयत्वं वेदानामिति तव सिद्धान्तो भज्यते।

माऽस्तु क्षणिकत्वं तथाऽपि सृष्टेरादौ यदि वर्णाना तत्समुदायस्य वेदस्य योत्पत्तिः स्वीकृता तदा अवश्यं परमेश्वरकृतिजन्यता तत्रोपेया । कार्यमात्रं प्रति कृते कारणत्वस्यानपलापात् । तथा च परमेश्वरात्मकपुरुषजन्यतया वेदाना पौरुषेयत्वमापतितम्, इत्यपसिद्धान्तापातः । वेदान्तिभिरपि वेदेऽपौरुषेयत्वाभ्युपगमात् इति भावः ।

उत्तरयति—

इति चेन्न । न हि पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वं पौरुषेयत्वम् । गुरुमतेऽपि पौरुषेयत्वापत्तेः । नापि पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वम् । नैयायिकाभिमतपौरुषेयत्वानुमानेऽस्मदादिना सिद्धसाधनतापत्तेः ।

न हीत्यस्य पौरुषेयत्वमित्यनेनान्वयः । पुरुषेणेति तृतीयार्थो जन्यत्वम्, तस्योच्चारणे अन्वयः । उच्चारणं तु कण्ठताल्वादिसंयोगविभागरूपम् । तथा च पुरुषजन्यवर्त्तमानकालिककण्ठताल्वादिसंयोगविभागविषयत्वं न पौरुषेयत्वमित्यर्थः । विषयत्वन्तु तदभिव्यङ्ग्यत्वरूपं बोध्यं तेन नासङ्गतिः । नापीत्यनन्तरं पौरुषेयत्वमित्यस्य सम्बन्धः । पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्वमपि पौरुषेयत्वं नेति सम्बन्धः । पुरुषाधीना उत्पत्तिर्यस्य असौ पुरुषाधीनोत्पत्तिका, तस्य भावस्तत्त्वम् । नैयायिकानां गौतममतानुयायिनां अभिमत यत् पौरुषेयत्वानुमानं = वेदो पौरुषेयो वाक्यात् भारतादिवत् इत्यादिरूपम्, तत्र अस्मदादिना पौरुषेयत्वघटकेन पुरुषपदेन वेदनिष्पादनादृष्टवज्जीवमुपगृह्य । **अयमभिप्रायः—यादृशस्य पौरुषेयत्वस्यापादनं वेदे समभीष्टं, किं नाम तत् ? यदि वर्त्तमानकालिकं किञ्चित्पुरुषकर्त्तृकं यदुच्चारणं तद्विषयत्वम् ? तदा वेदापौरुषेयत्वाग्रहिणां कर्ममीमांसकानामपि तन्नाभिमतं स्यात् । वर्त्तमानकाले वेदोच्चारणस्य तैरप्यङ्गीकारात् ।** यदि किञ्चित्पुरुषसमवेतकृतिजन्यत्वरूपम् ? तदा तत्कर्त्तृतया परमेश्वरं साधयतां नैयायिकानां स्वयं नाभीष्ठसिद्धिः । अदृष्टद्वारा अस्मदादेर्जीवस्यापि तत्कर्त्तृतया, अनुमानानां वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात् भारतादिवत् इत्यादीनां सिद्धसाधनदोषग्रस्तत्वात् । नथा च किं विधं पौरुषेयत्वमादाय अपौरुषेयत्वभङ्गः तार्किकाभिमतः ? इति ।

स्वीकरणीयं पौरुषेयत्वस्वरूपमाह—

सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम् ।

यत् उच्चारणं सजातीयमुच्चारणं नापेक्षते तत्सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणं, तद्विषयत्वमित्यर्थः उच्चारणो साजात्यन्तु एकानुपूर्वीकवाक्याभिव्यञ्जकत्वम् । तथा च इदानीन्तन कण्ठताल्वादिविभागादिव्यङ्ग्यवाक्यगतानुपूर्वीमत्प्राक्तनवाक्याभिव्यञ्जककण्ठताल्वादिविभागानभिव्यक्तत्वम् इति सरलार्थः ।

प्रकृते ततः किं फलम् ? इत्याकांक्षायामाह—

तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वम् ।

सर्गाद्यकालः = अवान्तरसृष्ट्यादिकाल., तस्मिन् । पूर्वसर्गसिद्ध = पूर्वसृष्टौ ज्ञातो यो वेद. तदानुपूर्व्या समाना = अभिन्ना आनुपूर्वी यस्य तम् । न तु तद्विजातीयं = न तु भिन्नानुपूर्वीमन्तं । इतीति हेतौ । पौरुषेयत्वमित्यनन्तरं वेदस्येति शेषः । अनादेः कालात् एकैवानुपूर्वी वेदानां सत्यपि सृष्टिभेदे, तत्तदुत्पन्नसृष्टिभेदेऽपि च । तथा चानुपूर्व्या एकत्वमादाय वेदानामपौरुषेयत्वप्रवादो न तु वेदाभेदादिति परमार्थः । आनुपूर्वीपरतन्त्र एव परमेश्वरो वेदकर्त्ता इति ।

महाभारतादीनां तु न तथा अपौरुषेयत्वमित्याह—

महाभारतादीनां तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम् ।

महाभारतादीनां न सर्वं पूर्वपूर्वसृ[illegible]मिति का प्रत्याशा तदानुपूर्व्यैकत्वस्येति न तेषु वेदवत् सजातीयोच्चारणविषयत्वमिति पौरुषेयत्वं तस्येति भावः ।

प्रतिज्ञातमुपसंहरति—

एवं पौरुषेयापौरुषेयभेदेन द्विविध आगमो निरूपितः ।

स्मृत्यादिरूपः पौरुषेयः । वेदात्मकस्त्वपौरुषेयः । निरूपितः = बोधानुकूलव्यापारविषयः कृतः ।

इत्यागमपरिच्छेदः ।

अर्थापत्तिपरिच्छेदः ।

ये अर्थापत्तिं स्वतन्त्रप्रमाणतया नाभ्युपगच्छन्ति तन्मतनिरासायाह—

इदानीमर्थापत्तिर्निरूप्यते ।

इदानीं = आगमप्रमाणनिरूपणानन्तरम् । वाक्यार्थबोधप्रकारः पूर्ववदवसेय. । सङ्गतिश्च अवसरः, श्रुतार्थापत्तिमादायोपजीव्योपजीवकभावो वा ।

लक्षणाकांक्षाया तत्सौलभ्याय प्रथममर्थापत्तिप्रमामाह—

तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः ।

तत्र = अर्थापत्तौ निरूपणीयायाम् । ज्ञानेनेत्यत्र तृतीयार्थः करणकत्वम् । तस्य कल्पनपदार्थे अन्वयः । तथा च उपपाद्यस्य यत् ज्ञानं, तत्करणकं यत् उपपादकस्य कल्पनं तदेवार्थापत्तिप्रमा । इदमत्रावधेयम्—अर्थापत्तिशब्दः उभयवाची—प्रमावाची प्रमाणवाची च । तत्र अर्थस्य = वस्तुन. आपत्तिः = आपादनं सम्पादनं = प्रमाज्ञानं अर्थापत्तिः प्रमा । अर्थस्यापत्तिः प्रमाज्ञानं यतः तत् अर्थापत्तिप्रमाणम् ।

ननु प्रस्तुतत्वात् प्रमाणस्य प्रमालक्षणाभिधानमनुचितमित्यत आह—

तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम् ।

तत्र = अर्थापत्तिप्रमायाम् । उपपाद्यस्य ज्ञानं उपपाद्यज्ञानम् । करणमित्यर्थः । तथा चार्थापत्तिप्रमाकरणमर्थापत्तिप्रमाणमिति भावः ।

प्रागुक्तां अर्थापत्तिप्रमामेव फलत्वेन परिचाययति—

उपपादकज्ञानं फलम् ।

उपपादकस्य ज्ञानं उपपादकज्ञानम्, तत् फलं = कार्यम् अर्थापत्तिप्रमाणस्य इत्यर्थः ।

ननु कौ नाम उपपाद्योपपादकौ ? इत्याकांक्षायामाह—

येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम् । यस्याभावे यस्यानुपपत्तिः तत्तत्रोपपादकम् ।

अत्र प्रथमयत्पदस्य द्वितीयतत्पदेन, द्वितीययत्पदस्य च प्रथमतत्पदेन सम्बन्धो बोध्यः। तथा च तदभावप्रयोज्याभावप्रतियोगित्वं उपपाद्यत्वम् । तदभावप्रयोजकाभावप्रतियोगित्व उपपादकत्वम् । प्रथमतत्पदेन प्रयोजकस्य द्वितीयतत्पदेन प्रयोज्यस्य ग्रहणामादाय लक्षणसमन्वयो विधेयः ।

दृष्टान्तद्वारा उपपाद्यं परिचाययति—

यथा रात्रिभोजनेन विना, दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वमुपपाद्यम् ।

दिवाऽभुञ्जानस्य = दिनाधिकरणकभोजनाभाववतः पुरुषस्येति यावत् । भोजनाभावे पीनत्वाभावात् भोजनाभावप्रयोज्योऽभावः पीनत्वाभावः, तत्प्रतियोगित्वं पीनत्वस्येति तत्र प्रागुक्तोपपाद्यत्वलक्षणसमन्वयः ।

एवं उपपाद्यमवबोध्य उपपादकमवबोधयति—

यथा वा रात्रिभोजनस्याभावे तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिः इति रात्रिभोजनमुपपादकम् ।

वाकारः त्वर्थकः । तादृशपीनत्वस्य = दिवाभोजनरोगाद्यप्रयुक्तस्य पीनत्वस्य इत्यर्थः । तेन न तादृशपदवैयर्थ्यम् । अत्र "तत्" पदेन तादृशपीनत्वमुपगृह्य प्रदर्शितोपपादकत्वलक्षणसमन्वयोऽवसेयः । तथा हि—तदभावः = दिवाऽभोजिगतपीनत्वाभावः, तस्य प्रयोजकः अभाव. = रात्रिभोजनाभावः, तत्प्रतियोगित्वं रात्रिभोजनस्येति ।

एकः अर्थापत्तिशब्दः प्रमां प्रमाणं च कथं बोधयति ? इत्याशंकानिरासाय प्रमाबोधिकां व्युत्पत्तिमाह—

रात्रिभोजनकल्पनारूपायां प्रमितौ अर्थस्य आपत्तिः कल्पना इति षष्ठीसमासेन अर्थापत्तिशब्दो वर्त्तते ।

प्रमितौ अर्थापत्तिशब्दो वर्त्तते इति योजना । सप्तम्यर्थो निरूपितत्वम् । वर्त्तते इत्यस्य वृत्तिमान् भवतीत्यर्थः । तत्र वृत्तौ निरूपितत्वस्य अन्वयः । तथा च रात्रौ यद्भोजनं तस्य या कल्पना, तद्रूपा या प्रमितिः = यथार्थज्ञानं, तन्निरूपितावयव-

शक्तिमान् अर्थापत्तिशब्दः, इत्यर्थः। अवयवशक्तिः स्पष्टीकृता "अर्थस्य आपत्तिः=कल्पना इति षष्ठीसमासेन" इत्यनेन। षष्ठीसमासः=षष्ठीतत्पुरुषसमासः, तेन।

प्रमाणबोधिकां व्युत्पत्तिमाह—

कल्पनाकरणे पीनत्वादिज्ञाने तु "अर्थस्य आपात्तिः कल्पना यस्मात्" इति बहुव्रीहिसमासेन वर्त्तते।

कल्पनायाः=प्रमितेः, करणं=असाधारणकारणं प्रमाणं तस्मिन्। किन्तत्? इत्याकांक्षायामुक्तं "पीनत्वादिज्ञाने" इति। उपपादकज्ञाने इति तदर्थः। तेन नान्यस्थलासंग्रहः। "वर्त्तते" इत्यर्थः। तदन्वयश्च पूर्ववत् बोध्यः।

उपसंहरति—

इति फलकरणयोरुभयोस्तत्पदप्रयोगः।

इति=एवं प्रकारेण। फलं=उपपादकज्ञानम्, करणं=उपपाद्यज्ञानं तयोः, उभयोः। तत्पदस्य=अर्थापत्तिशब्दस्य। प्रयोगः=व्यवहारः इत्यर्थः।

उक्तामर्थापत्तिं विभजते—

सा चार्थापत्तिर्द्विविधा, दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति।

सा=प्रोक्तप्रमितितत्करणरूपा। दृष्टो योऽर्थः तदापत्तिः=दृष्टार्थापत्तिः। श्रुतो योऽर्थस्तदापत्तिः = श्रुतार्थापत्तिः। तद्भेदात् द्वैविध्यमिति भावः।
तत्र प्रथमां उदाहरति—

दृष्टार्थापत्तिर्यथा—इदं रजतमिति पुरोवर्त्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य, नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेऽनुपपन्नमिति, रजतस्य सद्भिन्नत्वं सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयति—

.... रजतस्य सत्यत्वे अनुपपन्नं ....
निषिध्यमानत्वं तत्र मिथ्यात्वं कल्पयतीति व्यवहितेन सम्बन्धः। पुरोवर्त्तिनि इदं रजतमिति प्रतिपन्नस्येति सम्बन्धः। पुरोवर्त्तिनि=शुक्तिकादौ। "इदं रजतम्" इत्याकारा या प्रतीतिः तां गतः = प्राप्तः=इदं रजतमिति प्रतिपन्नस्तस्य। इदं

रजतमित्याकारकज्ञानविषयस्येत्यर्थः । एतेन तत्रत्यरजतस्य प्रातिभासिकत्वमुक्तम् । सत्यत्वे=प्रातिभासिकेतरत्वे । तत्रैव=शुक्तिकादौ । नेदं रजतमिति निषिध्यमानत्वं="इदं पुरोवर्त्ति रजतं न" इत्याकारकबुद्धिविषयत्वम् । अनुपपन्नं=असम्भवि । सद्भिन्नत्वं = प्रातीतिकेतरसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम् । सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वं तादृशसत्त्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाववत्त्वम् । व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाभ्युपगमे तु प्राक् मिथ्यात्वानुमाने प्रतिपादितमत्रापि बोध्यम् । कल्पयति=निश्चाययति । **अयं भावः—शुक्तिकादौ प्रतीयमानं रजतं यदि सत्यं स्यात्, कथं परक्षण एव नेदं रजतमिति निषेधधियं कुर्यात् प्रमाता ? करोति च तथेति शुक्तिकादौ प्रतीयमानं रजतं न सत्यमपितु मिथ्यैवेति यन्निश्चिनोति जनः, तत्र दृष्टार्थानुपपत्तिर्बोध्या । निषिध्यमानत्वज्ञानं प्रमाणभूता अर्थापत्तिः "प्रतीयमानं रजतं मिथ्या" इति निश्चयः फलभूता अर्थात् प्रमाभूता अर्थापत्तिः । भवतीति शेषः ।**

श्रुतार्थापत्तिमुदाहरति—

श्रुतार्थापत्तिर्यथा—यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेनार्थान्तरकल्पकत्वम् । यथा तरति शोकमात्मविदित्यत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्त्यत्वस्यानुपपत्त्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्प्यते ।

यत्र =यादृशस्थले । वाक्यस्य अर्थान्तरकल्पकत्वमिति सम्बन्धः । स्वं = श्रूयमाणवाक्यं, तस्य योऽर्थः, तस्य या अनुपपत्तिः=अनुपपद्यमानता, तन्मुखेन=तद्बलात् इत्यर्थः । इत्यत्र=अस्मिन् वाक्ये । श्रुतस्य=शाब्दबोधविषयस्य । तेन नासङ्गतिः । शोकशब्देन वाच्यः=वचनीयः=कथनीयो यो बन्धजातः = शरीरादिबन्धसमुदायः, तस्य । ज्ञानेन निवर्त्त्यत्वं ज्ञाननिवर्त्त्यत्वम्; तस्य अनुपपत्तिः, ज्ञाननिवर्त्त्यत्वानुपपत्तिः । ज्ञाननिवर्त्त्यत्वञ्च ज्ञानसाधनकबाधविषयत्वम्, तेन नासङ्गतिः । **अयं भावः-श्रूयते खलु "तरति शोकमात्मवित्" इति । आत्मवित्=आत्मज्ञानवान्, शोकं तरति=बन्धरहितो भवति इत्यर्थः । श्रुत्यानया आत्मज्ञानं बन्धविगमहेतुः । आत्मज्ञानेन हेतुना [illegible] भवति इत्याद्यर्थः प्रतीयते । किन्तु शाब्दी प्रतीतिरियं तदैव घटते यदि शोकशब्दवाच्यस्य बन्धस्य मिथ्यात्वं भवति, नान्यथा । न हि तात्त्विकस्यार्थस्य येन केनचित् ज्ञानेन विगमः शक्यसम्पादः । अतः कल्प्यते यत् न**

बन्धस्तात्त्विकः, अपि तु मृषैवेति। अत्र तरति शोकमात्मवित् इति वाक्यार्थबोधानुपपत्त्या बन्धमिथ्यात्वं कल्पितं भवतीति श्रुतार्थापत्तिः।

श्रौतमुदाहरणं प्रदर्श्य लौकिकमुदाहरणमाह—

यथा व जीवी देवदत्तो गृहे नेति वाक्यश्रवणानन्तरं जीविनो गृहासत्त्वं बहिः सत्त्वं कल्पयति।

वाकारः विकल्पार्थकः। तथा च यथा वा इत्यस्य अथवा इत्यर्थः। जीवी= जीवनवान्, समर्थ इत्यर्थः। न तु अमृत इत्येतावन्मात्रम्। अमृतस्यापि निरीहादेर्बहिर्गमनासामर्थ्येन बहिस्सत्त्वनिश्चयस्य दुस्साध्यापत्तेः। गृहे नेति वाक्यश्रवणानन्तरं=गृहे नास्तीति वाक्यश्रवणानन्तरम्। अयं भावः—जीवन् जनः गृहे तिष्ठति बहिर्वा। नेतस्तृतीया गतिरस्ति। तत्र जीवी देवदत्तः गृहे नास्तीति श्रवणे, जीवनो गृहासत्त्वं बहिः सत्त्वं विनाऽनुपपन्नमिति जानतः "देवदत्तः बहिः सत्त्ववान्" इति निश्चयो भवतीति नात्र भवितुमर्हति केषामपि काचन विप्रतिपत्तिः। अतो जीवित्वसमानाधिकरणगृहनास्तित्वरूपस्य शाब्दबोधविषयस्य तद्बहिः सत्त्वं विनानुपपत्तिज्ञानं अर्थापत्तिप्रमाणम्। "देवदत्तः" बहिस्सत्त्ववान् इति निश्चयः अर्थापत्तिप्रमेति।

श्रुतार्थापत्तिमपि विभजते—

श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा अभिधानानुपपत्तिः अभिहितानुपपत्तिश्च।

अभिधानं = शब्दः तदनुपपत्तिः अभिधानानुपपत्तिः। अभिहितः = अर्थः, तदनुपपत्तिः अभिहितानुपपत्तिः। अयं भावः—शाब्दबोधानुपपत्तिस्थले श्रुतार्थापत्तिर्भवतीति प्रतिपादितम्, तत्र शाब्दबोधानुपपत्तेरपि मूलं द्विधा शब्दानुपपत्तिः अर्थानुपपत्तिश्च। अतः तद्भेदात् श्रुतार्थापत्तेरपि द्वैविध्यमावश्यकमिति।

प्रथमामुदाहरति—

यथा द्वारमित्यत्र पिधेहीतिपदाध्याहारः।

अयं भावः—यत्र वक्ता द्वारकर्मक-पिधान-क्रियाबोधनाय प्रवृत्तोऽपि "द्वारम्" एतावदेव वक्ति, न पिधेहीति, तत्र श्रोता पिधेहीति पदमध्याहृत्य शाब्दबोधं

करोतीति अनुभवसिद्धम् । तत्र पिधेहीति पदात्मकाभिधानं विना शाब्दबोधानुपपत्त्या पिधेहीति पदकल्पना भवति । सा अभिधानानुपपत्तिरूपा श्रुतार्थापत्तिर्भवतीति ।

लौकिकं दृष्टान्तं प्रदर्श्य वैदिकं तमाह—

यथा "विश्वजिता यजेत" इत्यत्र स्वर्गकामपदाध्याहारः ।

अयं भावः—"विश्वजिता यजेत" इति विश्वजिद्यागस्य उत्पत्तिविधिः । केवलेन चोत्पत्तिविधिना न यागे प्रवृत्तिः फलस्वाम्यानिर्णयेन अधिकार्यनिर्णयात् । न [illegible]विज्ञाय कोऽपि कस्यामपि क्रियायां प्रवर्त्तते इति विश्वजनीनम् । अतः "स्वर्गकामः" इति पदं कल्पयित्वा, "विश्वजिता यजेत स्वर्गकामः" इत्यानुपूर्वीक उत्पत्त्यधिकारविधिवाक्यार्थमवबुध्य प्रवर्त्तते । तत्र "स्वर्गकाम" पदकल्पना अभिधानानुपपत्तिरूपा श्रुतार्थापत्तिप्रमेति बोध्यम् । ननु केवलादुत्पत्तिवाक्यादपि शाब्दबोधनिष्पत्तौ न शाब्दबोधानुपपत्तिः इति क्व श्रुतार्थानुपपत्तिसम्भावना ? इति तद्विशेषाभिधानानुपपत्तिसम्भावना सुदूरपराहतैवेति चेन्न । केवलादुत्पत्तिवाक्यान्न शाब्दबोधः । को यजेत इत्याकाङ्क्षाया जागरूकतया अधिकारादिविध्येकवाक्यता सम्पत्तिव्यतिरेकेण तदसम्भवात् ।

ननु पदकल्पनात. पूर्वं शाब्दबोधात्मकान्वयाभिधानाभावात् "इदमन्वयाभिधानं पिधेहीति पदकल्पना विना अनुपपन्नम्" इत्यनुपपत्तिज्ञानाभावेन कथं ततः पदकल्पनारूपा श्रुतार्थापत्तिः ? इत्याशयेन शङ्कते—

ननु द्वारमित्यादौ अन्वयाभिधानात्पूर्वं इदमन्वयाभिधानं पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्नमिति कथं ज्ञानम् ।

द्वारमित्यादौ=द्वारमित्येतावदुक्तिस्थले । अन्वयाभिधानात्पूर्वं=द्वारपिधानयोः संसर्गबोधात्पूर्वम् । कथं ज्ञानम् ? केन प्रकारेण ज्ञानसम्भवः ?

समाधत्ते—

इति चेन्न । अभिधानपदेन करणव्युत्पत्त्या तात्पर्यस्य विवक्षितत्वात् । तथा च द्वारकर्मकपिधानक्रियासंसर्गपरत्वं पिधानोपस्थापकपदं विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं तत्रापि सम्भाव्यते ।

अयं भावः—सत्यं पदकल्पनातः पूर्वं शाब्दबोधाभावेन "इदमन्वयाभिधानं पिधानवाचकपदं विनाऽनुपपन्नम्" इति ज्ञानं न भवितुमर्हति। किन्तु "द्वार इत्येतावन्मात्रस्य द्वारकर्मकपिधानपरत्वमनुपपन्नम्" इति वक्तृतात्पर्यज्ञानं तु सम्भवति। तत एव पदकल्पनारूपा प्रमा भवितुमर्हति इति। इदं पुनरिहावधेयम्- "इदं अन्वयाभिधानमनुपपन्नम्" "अय शाब्दबोधोऽनुपपन्न." इतीदन्त्वेन। विशेषरूपेणानुपपत्तिज्ञानाभावेऽपि "द्वारं एतावन्मात्रात् शाब्दबोधोऽनुपपन्नः अन्वयाभिधानमनुपपन्नम्" इत्यनुपपत्तिज्ञानस्य सामान्यतः कुतोऽनुपपत्तिसम्भावना? सति चैवं प्रश्न एव निरवकाशः। अन्यथा तात्पर्यानुपपत्तिज्ञानेन लक्षणैव स्यादिति अर्थापत्तिस्वीकार एव प्रकृते न सङ्गतिमीयात् इति।

द्वितीयां अभिहितानुपपत्तिमाह—

अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति तत्र द्रष्टव्यः।

वाक्यावगतः इत्यत्र भूतत्वमविवक्षितम्। तथा च वाक्यजन्यभाव्यवगतिविषयः इति तदर्थः। अन्यथा पूर्वं शाब्दबोधाभावेनासङ्गतिः स्यात्। ननु भवतु शाब्दबोधानन्तरं एव तदर्थेऽनुपपद्यमानताज्ञानमिति चेन्न। तथा सति अनुपपत्तिज्ञानमवधूय तदुपकरणतदिष्टसाधनत्वज्ञानादिमतः अदृष्टकल्पनाव्यतिरेकेणैव प्रवृत्त्यापत्तेः। अपि च यथा लक्षणास्थले तात्पर्यानुपपत्त्या शाब्दबोधविलम्बः सर्वसम्मतः तथैव प्रकृतेऽपि स्वीकार उचितः। अन्यथा तत्राऽपि तात्पर्यज्ञानसत्त्वेऽपि विनैव लक्षणाज्ञानं शाब्दबोधापत्तिः स्यात् इति। कल्पयतीत्यनन्तरं जन इति कर्तृपदाध्याहारः। तत्र=तादृशस्थले। द्रष्टव्य=ज्ञातव्यः—

उदाहरणमाह—

यथा "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत" इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिकयागगतस्यानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्प्यते।

क्षणिकः=कियत्कालमात्रस्थायी यो यागः, तद्गतस्य=तन्निष्ठस्य। स्वर्गसाधनत्वस्येति सम्बन्धः। साधनत्वं=कारणत्वम्। मध्यवर्त्ति=यागस्वर्गयोः अन्तरालवर्त्ति। अपूर्वं=पुण्यात्मकमदृष्टम्। अयं भावः—"स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत" इत्युत्प-

न्यधिकारविधिवाक्यं ज्योतिष्टोमनामकयागात्मकेन कारणेन स्वर्गं भावयेत् इति तदर्थ.। तद्बोधानन्तर च लोकाना ज्योतिष्टोमे प्रवृत्तिरिति वस्तुस्थितिः । किन्तु अव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वरूपस्य कारणत्वस्य मरणानन्तरभाविस्वर्गादतिव्यवहिते यागे अनुपपत्त्या शाब्दबोध एवानुपपन्न इति क्व प्रवृत्तिसम्भावना ? अतस्तत्र मध्यवर्त्त्यपूर्व प्रकल्प्य तद्द्वारा, ज्योतिष्टोमेन यागेन स्वर्गं भावयेत् इति वाक्यार्थबोध विधाय यागे जन. प्रवर्त्तते इति वक्तव्यम् । तत्रादृष्टकल्पना अर्थापत्तिप्रमा । यागस्य साक्षात्कारणत्वानुपपत्तिज्ञानं अर्थापत्तिप्रमाणमिति ।

अर्थापत्तिर्न प्रमाणान्तर अनुमाने एव गतार्थत्वात् इति न्यायवैशेषिकबौद्धसाङ्ख्ययोगमतानुयायिनः । तन्मतनिरासायाह—

न चेयमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवति । अन्वयव्याप्तिज्ञानेन अन्वयिन्यनन्तर्भावात् ।

इयमर्थापत्तिः=अर्थापत्तिप्रमा । अनुमाने=अनुमितौ । अन्तर्भवति=गतार्थतां भजते । अन्वयश्चासौ व्याप्तिः अन्वयव्याप्तिः, तस्य अज्ञानेन । अन्वयिनि=अन्वय्यनुमितौ । अनन्तर्भावात्=अगतार्थत्वात् । अन्वय्यनुमितित्वाभावात् इति तदर्थ. । तेन नासङ्गतिः । अन्यथा हेतुसाध्ययोरैक्यापत्तेः ।

ननु तर्हि व्यतिरेकित्वमेवास्तु इत्यत आह—

व्यतिरेकिणश्चानुमानत्वं प्रागेव निरस्तम् ।

अनुमानत्वं=अनुमितित्वम् । प्राक्=अनुमानपरिच्छेदे । **अयं भाव**:—अर्थापत्तेरतिरिक्तत्वे विवदता कीदृगनुमाने अर्थापत्तिप्रमाणस्य, कीदृगनुमितौ च अर्थापत्तिप्रमायाः अन्तर्भावोऽभिप्रेतः ? अन्वय्यनुमाने—अन्वय्यनुमितौ चेति चेत् नासौ शक्यसम्पादः । दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वरात्रिभोजित्वयोः कुत्राप्यधिकरणे सामानाधिकरण्यात्मकमन्वयमगृहीतवतोऽपि जनस्य रात्रिभोजनकल्पनाया अनुभवसिद्धत्वात् । न च व्यतिरेक्यनुमाने व्यतिरेक्यनुमितौ चेति चेति वक्तव्यम् । न व्यतिरेकमनुमानं व्यतिरेक्यनुमितिश्चेति प्रथममेवानुमानग्रन्थे प्रतिपादितत्वात् इति ।

उक्तमर्थं द्रढयति—

अत एवार्थापत्तिस्थलेऽनुमिनोमीति नानुव्यवसायः, किन्तु अनेनेदं कल्पयामीति।

अत एव = अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावादेव। अनुव्यवसायः = व्यवसायप्रत्यक्षम्। अनुमिनोमि इति = इत्याकारकं न। भवतीति क्रियाध्याहारः। अनेन = अनुपपद्यमानेन। इद कल्पयामि इति = इत्याकारकम्। भवतीति शेषः। अयं भावः—निर्विकल्पकातिरिक्तस्थले सर्वत्र व्यवसायानन्तरं तादृशव्यवसायविषयक अनुव्यवसायनामकं मानसं प्रत्यक्षं भवति, येन तद्विषयभूतस्य व्यवसायात्मकज्ञानस्य स्वरूपं स्पष्टीकृतं भवति। यथा "अयं घटः" इति व्यवसायात्मकप्रत्यक्षानन्तरं "घटं साक्षात्करोमि" इति "घटस्य मे प्रत्यक्षं ज्ञानमभूत्" इत्यनुव्यवसाये जाते, ततः तद्विषयभूतमव्यवहितपूर्ववर्तिज्ञानं प्रत्यक्षरूपमेव न त्वनुमित्यादिरूपमिति दर्शयते। सति चैवं अर्थापत्तिः यदि अनुमितिरूपा भवेत्, तर्हि तदनन्तरं "अनुमितिमानहम्" "अनुमिनोमि" अनुमितिज्ञानं मे जातम्" इत्यादिरूप एवानुव्यवसायः सम्पद्येत। निर्णीतञ्च भवेदिदं यत् इतः पूर्वमनुमितिरेव सम्वृत्तेति। किन्तु न भवति तथानुव्यवसायः। अपि तु कल्पयामीत्येव भवति सः, इति कथं कोऽपि शक्नुयान्निर्णेतुं यदनुमितिः सम्वृत्तेति? तस्मादत्यन्तं भिन्ना खल्वर्थापत्तिः, सकाशादनुमितेरिति।

"येन विना यदनुपपन्नं तत् तेनाक्षिप्यते" इति सामान्यतो गृहीतवतः "इद एतेन विना अनुपपन्नं" इति ज्ञानरूपार्थापत्तिप्रमाणं तदवयवभूतानुपपन्नत्वज्ञानसापेक्षम्। तच्चेदनिर्वचम्, न तदाऽभिमतसिद्धिरित्यभिप्रायेण शङ्कते—

नन्वर्थापत्तिस्थले इदमनेन विनाऽनुपपन्नमिति ज्ञानं करणमित्युक्तम्। तत्र किमिदं तेन विनाऽनुपपन्नत्वम्?

करणं = अर्थापत्तिप्रमाणम्। तत्र = तद्विषयभूतम्। इदं तेन विनानुपपन्नत्व किं? इति सम्बन्धः।

समाधत्ते—

तदभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमिति ब्रूमः।

तस्याभावः = तदभावः, तस्य तदभावस्य व्यापको योऽभावः स तदभाव-व्यापकाभावः, तस्य यः प्रतियोगी, स तदाभावव्यापकाभावप्रतियोगी । तस्य भावस्तत्त्वम् । एतदेव तेन विना अनुपपन्नत्वम् इत्यर्थः । तत्पदेन उपपादकपरिग्रहः । यथा पीनत्वेन रात्रिभोजनकल्पनास्थले तत्पदेन रात्रिभोजनपरिग्रहः । तदभावः = रात्रिभोजनाभावः, तद्व्यापकीभूतोऽभावः = दिवाऽभोजिपीनत्वाभावः, तत्प्रतियोगित्वं दिवाऽभोजिगतपीनत्वस्य, इति तस्य रात्रिभोजनं विना अनुपपन्नत्व-मुपपन्नं भवति । एवमेव सर्वत्र योज्यम् । व्यापकत्वलक्षणं अनुमानपरिच्छेदोक्तम-वसेयम् ।

ननु प्राप्तस्तर्हि अर्थापत्तेरनुमानाभेदः, साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगि-त्वस्यैव व्यतिरेकव्याप्तिरूपत्वेन तज्ज्ञानप्रमाणाधीनप्रमारूपायाः अर्थापत्तेः व्यति-रेक्यनुमितिभेदस्य वक्तुमशक्यत्वात् इत्याशंकां निरस्यति—

एवमर्थापत्तेर्मानान्तरत्वसिद्धौ व्यतिरेकिनानुमानान्तरम् ।

एवं = कल्पयामीति विलक्षणानुव्यवसायस्यानपलपत्वेन । मानान्तरत्वसिद्धौ = प्रत्यक्षानुमानोपमानागमानुपलब्धिभिन्नत्वसिद्धौ । नानुमानान्तरं = नान्वयि-भिन्नमनुमानम् । **अयं भावः**—अस्मदुक्तमनुपपन्नत्वमेव व्यतिरेकव्याप्तिनाम्ना अभिधा-यापि तव व्यतिरेक्यनुमितिसाधनप्रयासो न कथमपि गन्तुमर्हति साफल्यम् । कल्पयामीत्यनुव्यवसायविरोधापातात् । तस्मान्नावकाशलेशोऽपि त्वदुक्तप्रश्नस्य । न वाऽनुमानपरिच्छेदोक्तो व्यतिरेक्यनुमानास्वीकारोऽसङ्गत इति ।

ननु तर्हि पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धत्वात् इत्यत्र पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते इत्यस्य कथमनुमितित्वम् ? अन्वय्युदाहरणाभावेन अन्वयव्याप्तिज्ञानाजन्यतया अन्वयत्वासम्भवात् । अनुमानान्तरस्य च त्वयाऽनभ्युपगमात् इत्याशङ्कायां हेतुमुद्रया आह—

पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते इत्यादौ गन्धवत्वं इतरभेदं विनाऽनुपपन्न-मित्यादिज्ञानस्य करणत्वात् ।

इतरभेदं विना = पृथिवीतरभेदं विना । अनुपपन्नमित्यनन्तरं पृथिव्यामिति शेषः । आदिपदेन "गन्धवत्त्वं इतरभेदाभावव्यापकाभावप्रतियोगि" इति ज्ञान-

ारिग्रहः । करणत्वात् = प्रमाणत्वात् । तथा च सापि प्रमा अर्थापत्तिरूपैव ानुमितिरिति अनुमित्वाभावस्त्वदुक्त इष्ट एव न प्रसङ्गरूप इति भावः ।

उक्तामेव युक्ति स्मारयति—

अत एवानुव्यवसायः पृथिव्यामितरभेदं कल्पयामीति ।

अत एव = अनुमितित्वाभावादेव । अनुव्यवसायः इत्यनन्तरं भवतीति शेषः । ामत्रावधेयम्–यदा पृथिवीत्वावच्छेदेन इतरभेदसिद्धिरभिमता, तदा तु अनुमिति- ाभ्युपगमेऽपि न काऽपि हानिः। अवच्छेदकावच्छेदेनानुमितिं प्रति सामानाधिकरण्येन द्धेः अविरोधित्वेन पक्षैकदेशे सिद्धिसत्त्वेऽपि सिद्धसाधनाभावे अन्वय्युदाहरणप्राप्तेः ायित्वेनैवाक्रान्तत्वात् इति ।

इत्यार्थापत्तिभगवती



अथानुपलब्धिपरिच्छेदभगवती

अवसरसंगत्या अनुपलब्धिप्रमाणं निरूपयितु प्रतिज्ञा करोति—

इदानीं षष्ठं प्रमाणं निरूप्यते ।

इदानीं = अनुपलब्धीतर-यावत्प्रमाणजिज्ञासाया श्रोतृनिष्ठायां निवृत्तायाम् । एतेन विरोधिजिज्ञासानिवृत्तिरूपावसरसङ्गतिः अनुपलब्धिप्रमाणनिरूपणप्रयोजिका इति सूचितम् । षष्ठं = षट्त्वसंख्यापूरकम् । इदं प्रमाणविशेषणम् । यद्यपि षट्त्वसंख्यापूरकत्वस्य अन्यस्मिन्नपि प्रमाणो सम्भवः । तथापि योग्यतया अनुपलब्धि-परिग्रहो बोध्यः । अन्येषां निरूपितत्वेन तत्र तत्र जिज्ञासानुदयात् । निरूप्यते इत्यस्यार्थः पूर्ववद्बोध्यः ।

लक्षणमाह—

ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणं अनुपलब्धिरूपं प्रमाणम् ।

ज्ञानकरणजन्यो यः अभावानुभवः, तस्य असाधारणं यत् कारणम्, तत् अनुपलब्धिनामकं प्रमाणमित्यर्थः । तथा च ज्ञानत्वावच्छिन्नकरणतानिरूपित = कार्यत्वाभावावच्छिन्ना सती अभावानुभवत्वावच्छिन्नाया कार्यता, तन्निरूपिता साधारणकारणत्वं अनुपलब्धिप्रमाणत्वमिति फलितम् । भूतले घटो नास्तीत्यभावानु-भवासाधारणकारणे घटोपलम्भभावरूपे । घटानुपलब्धिप्रमाणे लक्षणसमन्वय-स्त्वित्थम्—ज्ञानं = व्याप्तिज्ञानादिकं, तत्त्वावच्छिन्नकरणतानिरूपिता कार्यता अनुमित्यादौ, तदभावः "भूतले घटो नास्ती"त्यभावप्रत्यक्षे कार्यभूते, इति कार्यतायाः कार्यत्वाभावस्य च सामानाधिकरण्येन अवच्छेद्यावच्छेदकभावात् तादृशाभावविषयक-बोधनिष्ठकार्यतायाः निरुक्ताभावावच्छिन्नतया, तादृशकार्यतानिरूपितासाधारणकारण-त्वस्य घटानुपलब्धौ विद्यमानत्वम् । **अयं भावः**—न केवलचक्षुःपातमात्रेण भूतलादौ घटाभावादेः प्रत्यक्ष जायते । अपितु भूतलाद्यधिकरणकचक्षुःपातसहकृतया 'भूतले यदि घटः स्यात् उपलभ्येत्, नोपलभ्यते" इत्येवं ज्ञातया घटानुपलब्ध्या । अतस्तस्याः करणत्वं वाच्यम् । तल्लक्षणजिज्ञासायां, प्रोक्तं तल्लक्षणम् प्रोक्तप्रकारेण च तत्समन्वयः ।

नन्व"भावानुभवासाधारणकारणम्" इत्येवास्तु तल्लक्षणम्, कृतं अजन्यान्त-निवेशेन इत्याशंकायामाह—

अनुमानादिजन्यातीन्द्रियाभावानुभवहेतावनुमानादावतिव्याप्तिवारणायाजन्यान्तम् ।

अतीन्द्रियस्याभावस्यानुभवः अतीन्द्रियाभावानुभवः । अनुमानादिजन्यश्चासौ अतीन्द्रियाभावानुभव. अनुमानादिजन्यातीन्द्रियाभावानुभवः, तद्धेतौ । अतिव्याप्तिवारणाय = लक्षणनिषेधाय । अजन्यान्तम् = ज्ञानकरणाजन्यपदम् इत्यर्थः । अयं भावः—यत्र सुखाभावेन हेतुना अन्तःकरणे पुण्याभावः साध्यते, तत्र "अहं पुण्याभाववान्" इति अभावविषयकानुभवं प्रति असाधारणकारणभूते "यत्र यत्र सुखाभावः तत्र तत्र पुण्याभावः" इति व्याप्तिज्ञाने अनुपलब्धिलक्षणातिव्याप्तिः । "अहं पुण्याभाववान्" इत्यनुमितेरपि अभावविषयकानुभवतया तदसाधारणत्वरूपस्य निरुक्तकरणत्वस्य निरुक्तव्याप्तिज्ञाने सत्त्वात् । तन्निवेशे तु अनुमितेः व्याप्तिज्ञानजन्यत्वेन ज्ञानात्मककरणजन्यतया तदजन्यत्वाभावेन लक्षणागमनादतिव्याप्तेरभाव इति ।

ननु तर्हि—ज्ञानकरणाजन्याभावविषयकयानुभवकारणमित्येवोच्यताम्, अलमसाधारण्यनिवेशेनेति शङ्कायामाह—

अदृष्टादौ साधारणकारणे अतिव्याप्तिवारणायासाधारणेति ।

आदिपदेन ईश्वरतदिच्छादेः परिग्रहः । अतिव्याप्तिवारणाय = अनुपलब्धित्ववारणाय । अयं भावः । कालादृष्टेश्वरतदिच्छादेः कार्यमात्रं प्रति कारणत्वेन ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवकारणत्वस्य तत्र तत्र सत्त्वादतिव्याप्तिः । निवेशे तु न तेषां अभावानुभवे असाधारणकारणत्वमिति न तत्र तत्रातिव्याप्तिः ।

नन्वेवमपि ज्ञानकरणाजन्याभावज्ञानसाधारणकारणमित्येवोच्यताम्, किमनुभवनिवेशेन इति शङ्कायामाह—

अभावस्मृत्यसाधारणहेतुसंस्कारे अतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति विशेषणम् ।

अभावस्य या स्मृतिः, तस्य योऽसाधारणो हेतुः संस्कारः तस्मिन् । अतिव्याप्तिवारणाय = अनुपलब्धिलक्षणातिव्याप्तिवारणाय । अयं भावः — यत्र घटाभाव

इति प्रथममनुभवः ततस्तज्जन्यः तदाकार एव संस्कारः, ततः "घटाभाव" इति स्मरणं भवति, तत्र संस्कारे अनुपलब्धित्वापत्तिः । संस्कारजन्यतया ज्ञानकरणजन्य-ज्ञानपदेन "घटाभाव" इति स्मरणस्यापि धर्तुं शक्यतया, तदसाधारणकारणत्वस्य "घटाभावः" इत्याकारकसंस्कारेऽपि सत्त्वात्, तस्य च भावरूपतया लक्ष्यत्वाभावात् । अनुभवपददाने तु नातिव्याप्तिः । स्मृतेरनुभवत्वाभावेन, अनुभवासाधारणकारणत्वस्य संस्कारे अभावात् ।

अदृष्टाद्यतीन्द्रियपदार्थाभावस्यापि अनुपलब्धिप्रमाणेनैव ग्रहणे स्वीकृते तदनु-मितेरभावेन अनुमानेऽतिव्याप्त्यभावात् ज्ञानकरणाजन्यत्वनिवेशो लक्षणे व्यर्थं एव कुतो नेति पूर्वपक्षं निराचष्टे—

न चा भावानुमितिस्थलेऽप्यनुपलब्ध्यैवाभावो गृह्यतामविशेषात् इति वाच्यम् ।

अभावस्य या अनुमितिः = अनुमितित्वेनाभिप्रेतं ज्ञानं तत्स्थलेऽपि । अभावः = अनुमितिविषयत्वेन स्वीकृतः अदृष्टाद्यभावः । गृह्यताम् = ज्ञानविषयो भवतु । इति च न वाच्यमिति सम्बन्धः ।

तत्र हेतुमाह—

धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि योग्यानुपलब्धेरभावात्, तस्या एवाभाव-ग्राहकत्वात् ।

धर्माधर्माद्यनुपलब्धिः धर्माधर्माद्यनुपलब्धिः । तस्याः सत्त्वेऽपि । योग्या चासौ अनुपलब्धिः योग्यानुपलब्धिः तस्या अभावात् । तस्या एव = योग्यानुपल[illegible]रेव । अभावग्राहकत्वात् = अभावप्रमापकत्वात् । अयं भावः—न अनुपलम्भमात्रमभाव-ग्राहकं अपितु योग्यानुपलब्धिः । धर्माधर्मादिरयोग्यतया तद्विषयिणी अनुपलब्धिः न योग्यानुपलब्धिः । या योग्यानुपलब्धिः न सा धर्माधर्मादेः, इत्यगत्या "अहं धर्माभाववान् सुखाभावात्" इत्यादिप्रकारेण तदनुमितिरेवाभ्युपेया । सति चैवं तत्करणे अनुमाने व्याप्तिज्ञाने अतिव्याप्तिनिरासाय ज्ञानकरणजन्यत्वविशेषणं देयमेव इति ।

योग्यानुपलब्धिपरिभाषाज्ञापनाय पृच्छति–

ननु केयं योग्यानुपलब्धिः ? किं योग्यस्य प्रतियोगिनः अनुपलब्धिः, किं वा योग्ये अधिकरणे प्रतियोग्यनुपलब्धिः ? नाद्यः स्तम्भे पिशाचादि-भेदस्याप्रत्यक्षापत्तेः ।

इयं = प्रकृता । योग्यत्वं ग्राह्याभावप्रतियोगिनो विशेषणम् ? आहोस्वित् अभावाधिकरणतया ग्राह्यस्य विशेषणम् इति विकल्पद्वयार्थः । प्रथमे पक्षे "स्तम्भे न पिशाचः" इति जायमानस्य प्रत्यक्षस्यानुपलब्धिकस्यानुपपत्तिः, भेदात्मकाभावप्रति-योगिनः पिशाचस्यायोग्यत्वात्, तदनुपलब्धे योग्यानुपलब्धित्वाभावात् । द्वितीयपक्षे आत्मगतस्य धर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षसम्भवात् ज्ञानकरणाजन्यत्वनिवेशवैयर्थ्यमिति भावः ।

सिद्धान्तयति—

इति चेन्न । योग्या च सा अनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयाश्रयणात् ।

न = नानुपपत्तिः । ज्ञानकरणाजन्यत्वनिवेशवैयर्थ्यं वा । अयं भावः–योग्यानु-पलब्धिपदे न षष्ठीसमासः, नापि सप्तमीसमासः येन प्रोक्ता अनुपपत्तिः प्रोक्तं वैयर्थ्यं वा आपतेत् अपितु कर्मधारयः इति ।

ननु का नाम योग्यता ? यया कर्मधारयसमासपक्ष नोक्तदोषद्वयम् ? इत्या-शङ्कायामाह—

अनुपलब्धे योग्यता च तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोयित्व-कत्वम् ।

तर्कितं = आरोपितं यत्प्रतियोगिसत्त्वं तेन प्रसञ्जितः प्रतियोगी यस्य, तस्य भावस्तत्वम् । प्रथमप्रतियोगिपदेन ग्राह्यस्याभावस्य प्रतियोगी ग्राह्यः । द्वितीयेन च प्रतियोगिपदेन उपलम्भाभावरूपायाः अनुपलब्धेः प्रतियोगी कर्तव्यः ।

स्वयमेव स्पष्टयति–

योऽभावो गृह्यते तस्य यः प्रतियोगी, तस्य सत्त्वेन अधिकरणे तर्कितेन प्रसञ्जितं आपादनयोग्यं प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्यानुपलम्भस्य तत्त्वं तदनुपलब्धियोग्यत्वमित्यर्थः ।

यस्य पदार्थस्य अभावो गृह्यते = अनुपलब्ध्या ग्रहविषयीक्रियते तस्य अभावस्य सः प्रतियोगी भवति । यथा अनुपलब्ध्या यदि घटाभावो गृह्यते तर्हि घटस्य प्रतियोगी भवति । एवमन्यत्रापि । "अधिकरणे तर्कितेन" इति तस्य सत्त्वेन इत्यस्य विशेषणम् । अधिकरणे = अभावाश्रयत्वेन विवक्षिते भूतलादौ । तर्कितेन = "भूतले यदि घटः स्यात्" इत्याकारकारोपविषयेण । प्रसञ्जित इत्यस्य व्याख्या आपादनयोग्यमिति = "तर्हि उपलभ्येत" इत्यापादनस्वरूपयोग्यतावदिति । "प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्यानुपलम्भस्य" इत्यत्र उपलब्धिस्वरूपं प्रतियोगी यस्य अनुपलम्भस्य इति सम्बन्धः । "तदनुपलब्धियोग्यत्व" मित्यत्र तस्याः अनुपलब्धेः योग्यत्वमिति विग्रहः । तत्त्व निरुक्तप्रतियोगिकत्वम् । **तथा च गृह्यमाणाभावप्रतियोगिसत्तारोपापादितसत्ताकप्रतियोगिनिरूपितानुयोगित्वं अनुपलब्धौ योग्यत्वं फलितम् ।**

दृष्टान्तप्रदर्शनेन सुबोधं करोति–

तथाहि स्फीतालोके भूतले यदि घटः स्यात् तदोपलम्भः स्यादित्यापादनसम्भवात्, तादृशभूतले घटाभावोऽनुपलब्धिगम्यः ।

स्फीतः आलोकः = प्रकाशो यस्मिन् भूतले तत्स्फीतालोक, तस्मिन् । इत्यापादनसम्भवात् = इत्याकारकापादनसम्भवात् । तादृशभूतले = अधिकरणत्वेनारोपविषयभूतले । घटाद्यनुपलब्धौ योग्यत्वसमन्वयस्त्वित्थम्—गृह्यमाणः अभावः = घटाभावः, तस्य प्रतियोगी घटः, तस्य सत्ता घटास्तित्वं, तस्य आरोपः = भूतले यदि घटः स्यात् इत्याकारकः तेन आपादिता या सत्ता स "उपलम्भः स्यात्" इत्यापादनविषयीभूता उपलम्भनिष्ठा सत्ता, तादृशसत्ताकः प्रयियोगी = घटोपलम्भः, तन्निरूपिता अभावस्वरूपा अनुयोगिता घटोपलम्भाभावे, इति । घटोपलम्भाभाव एव च घटानुपलब्धिः इति ।

कारणतायाः अन्वयव्यतिरेकगम्यतया, तथाहीत्यादिना अन्वयः प्रदर्शितः इदं व्यतिरेकं प्रदर्शयति—

अन्धकारे तादृशापादनासम्भवात् नानुपलब्धिगम्यता ।

तादृशापादनासम्भवात् = "भूतले यदि घटः स्यात्........................" इत्याद्यापादनासम्भवात् । नानुपलब्धिगम्यता घटाभावादेः इति शेषः । तथा च नानुपलब्धिमात्रेणाभावनिश्चयः अपितु योग्यानुपलब्ध्या । अन्धकारे या अनुपलब्धिः सा न योग्या, निरुक्तारोपासम्भवात् इति भावः ।

ननु योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिः योग्यानुपलब्धिः इत्येव कुतो नार्थः ? इत्याकाक्षायामाह—

अत एव स्तम्भे तादात्म्येन पिशाचसत्त्वे, स्तम्भवत् प्रत्यक्षतापत्त्या तदभावोऽनुपलब्धिगम्यः ।

अत एव = निरुक्ताया पारिभाषिक्याः योग्यतायाः स्वीकारादेव । प्रत्यक्षतापत्त्या = पिशाचस्य प्रत्यक्षतापत्त्या । तदभावः = तादात्म्येन पिशाचाभावः, पिशाचभेद इति यावत् । अयं भाव—स्तम्भो न पिशाचः इति आनुपलब्धिकं ज्ञानं सर्वानुभवसिद्धम् । प्रतियोगिगतायाः योग्यतायाः विवक्षणे तत्पीडयेत् । भेदप्रतियोगिनः पिशाचस्यायोग्यत्वात् । अनुपलब्धिगतायाः पारिभाषिक्यास्तस्याः विलक्षणे तु "स्तम्भो यदि पिशाचः स्यात् पिशाचत्वेन उपलभ्येत्, न तथोपलभ्यते अपि तु स्तम्भतया, तस्मान्नासौ पिशाचः" इति पिशाचभेदग्रहणमुपपद्यते । इति भावः ।

प्रकृते ततः किमायातमिति जिज्ञासायामाह—

आत्मनि धर्मादिसत्त्वेऽपि अस्यातीन्द्रियतया निरुक्तोपलम्भापादनासम्भवात् न धर्माद्यभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वम् ।

अस्य =धर्मादेः । आदिना अधर्मपरिग्रहः अतीन्द्रियतया = इन्द्रियाग्राह्यतया । निरुक्तोपलम्भापादनासम्भवात् = आत्मनि यदि धर्मः स्यात् उपलभ्येत इत्यापादनासम्भवात् । धर्माद्यभावस्य न अनुपलब्धिगम्यत्वमिति सम्बन्धः । अनुपलब्धिगम्यत्वम् = अनुपलब्धिप्रमाणकत्वम् । अयं भावः—धर्माधर्माद्यनुपलब्धेः निरुक्तयोग्यत्वा-

भावेन न योग्यानुपलब्ध्या तद्ग्रह इति, तदभावास्यानुमानिकत्वस्वीकार आवश्यकः । एवञ्चानुमानेऽतिव्याप्तिवारणाय अनुपलब्धिलक्षणे अभावानुभवे ज्ञानकरणाजन्यत्त्वविशेषणमावश्यकम् इति ।

इन्द्रियेणैव करणेन अभावज्ञानसम्भवे कृतमनुपलब्धेः प्रमाणत्वाभ्युपगमेन, इत्याशयेन शङ्कते—

ननूक्तरीत्या अधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वं त्वदनुमतम् । तत्र क्लृप्तेन्द्रियमेव अभावाकारवृत्तावपि करणम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानात् ।

"उक्तरीत्या" इत्यस्य अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वमिति व्यवहितेन सम्बन्धः । अधिकरणेन = ग्राह्याभावाधारेण इन्द्रियस्य यः सन्निकर्षः तत्स्थले । त्वदनुमतं = तवानुमतम् । तत्र = तादृशस्थले । क्लृप्तं चेन्द्रियं क्लृप्तेन्द्रियं तदेव । क्लृप्तमित्यस्य अभावाधिकरणग्राहकतया स्वीकृतमित्यर्थः । अभावाकारा या वृत्तिः अन्तःकरणस्य परिणामः सा अभावाकारवृत्तिः, तत्रापि । करणमित्यनन्तरं अस्तु इति शेषः । इन्द्रियसत्त्वे इन्द्रियेण अभावज्ञानजननम् इन्द्रियान्वयः । इन्द्रियाभावे तेनाभावज्ञानाजननम् इन्द्रियव्यतिरेकः, तयोः अनुविधानं दर्शनं तस्मात् । इन्द्रियसत्त्वे तेन अभावज्ञानजननम् इन्द्रियान्वयः । इन्द्रियाभावे तेनाभावज्ञानाभावः इति व्यतिरेकानुविधानमित्यपव्याख्यानम् । इन्द्रियव्यतिरेकानुविधानात् इत्येकवचनानुपपत्तेः । अयं भावः—अभावज्ञाने कर्त्तव्ये कुत्राप्यधिकरण एव तत्कर्त्तव्यम् । तच्चाधिकरणज्ञानं नानुपलब्धिकम् । भूतलादेर्भावपदार्थत्वात् । तथा चाधिकरणज्ञानकरणतया अवश्यापेक्षणीयेन चक्षुरादिनैव आधारभूताभावज्ञानस्यापि सम्पत्तिसम्भवे कृतमतिरिक्तानुपलब्धिप्रमाणान्तराङ्गीकारेणेति ।

समाधत्ते—

इति चेन्न । तत्प्रतियोग्यनुपलब्धेरपि अभावग्रहे हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य कल्पनात् ।

तस्य = ग्राह्यस्याभावस्य यः प्रतियोगी, तस्य या अनुपलब्धिः, तस्या अपीत्यर्थः । अभावग्रहे = अभावप्रत्यक्षे इत्यर्थः । हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन करणतया

नैयायिकादिभिरपि स्वीकर्त्तव्यतया । करणत्वमात्रस्य = केवलमसाधारण्यस्य। कल्पनात् = स्वीकारात् । वेदान्तिभिरस्माभिरिति शेषः। **अयं भावः—अन्धकारे घटाभावादिप्रत्यक्षानुदयेन अनुपलब्धेरिन्द्रियं प्रति सहायकत्वं नैयायिकादिभिरपि स्वीक्रियत एवेति नास्माभिरनुपलब्धौ कारणत्वमपूर्वं स्वीक्रियते, अपितु तैरपि अभावज्ञानकारणतया स्वीकृतायामेवानुपलब्धौ असाधारण्यमात्रं वृत्तिवैजात्यानुरोधेन अभ्युपगम्यते इति।**

हेत्वन्तरमाह—

इन्द्रियस्य चाभावेन समं सन्निकर्षाभावेन अभावग्रहाहेतुत्वात्।

"इन्द्रियस्य" इत्यस्य "सन्निकर्षाभावेन" इत्यनेन, "अभावग्रहाहेतुत्वात्" इत्यनेन च सम्बन्धः। सन्निकर्षाभावेन=प्रत्यक्षप्रयोजकसम्बन्धाभावेन। अभावस्य ग्रहः = प्रत्यक्षं, तदहेतुत्वात् = तदकारणत्वात् । **अयं भावः—इन्द्रियसम्बद्धमेवेन्द्रियेण शक्यते ग्रहीतुं नासम्बद्धम् अतिप्रसङ्गात् । सति चैवं संयोगसंयुक्ततादात्म्याद्यन्यतमसम्बन्धस्य इन्द्रियप्रतियोगिकस्य प्रत्यक्षप्रयोजकस्याभावे अभावात् नाभावस्य इन्द्रियग्राह्यता सम्भवः। तस्मात् अभावग्राह्यानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं स्वीकार्यमेवेति।**

ननु कारणत्वव्यापकयोः अन्वयव्यतिरेकयोः तर्हि का गतिः ? इत्यत आह—

इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेनान्यथासिद्धेः।

इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः = इन्द्रियसत्त्वे अभावज्ञानम्, इन्द्रियाभावे अभावज्ञानाभावः इत्येतयोः। अधिकरणज्ञानादिना उपक्षीणत्व = चारितार्थ्यं तेन । अन्यथासिद्धेः = कारणत्वविरोधिनो धर्मस्य तत्र ज्ञानात् । **अयं भावः—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां ग्राह्यघटाभावाद्यधिकरणीभूतभूतलादेर्ज्ञानमेव जन्यते इत्यभ्युपगमेऽपि नान्वयव्यतिरेकयोर्वैयर्थ्यम इति चारितार्थ्यात् नाभावस्यापनायाग्रहस्तस्य भवेत्। प्रत्युत [illegible]हात् अभावग्रहं प्रति कारणीभूतस्य अधिकरणज्ञानस्य पूर्वमपेक्षणीयत्वेन तं प्रति [illegible]र्वभावज्ञानानन्तरमेव अभावज्ञानं प्रति नियमतः पूर्वभावज्ञानस्य इन्द्रिये कर्त्तव्यतया "अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्" इति तृतीयान्यथा सिद्धिपातस्य इन्द्रियाणामशक्यनिरोधतया अभाव-**

ज्ञानं प्रति अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्तित्वरूपस्य कारणत्वस्य न सम्भावनालेशोऽपीति । अन्यस्मिन् फलाननुकूलत्वनिवेशे तु चतुर्थान्यथासिद्धिर्योज्या ।

प्रत्यक्षपरिच्छेदे प्रोक्तया प्रत्यक्षजननप्रक्रियया घटाभाववद्भूतलमित्याद्यभावज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं दुरपलपम् । सति चैवं तत्प्रमाणेनापि प्रत्यक्षेणैव भवितव्यम् । प्रमाभेदादेव प्रमाणभेदात् । तथा च कथमनुपलब्धेः प्रमाणत्वम् ? इत्याशयेन शङ्कते—

ननु भूतले घटो नेत्याद्यनुभवस्थले भूतलांशे प्रत्यक्षत्वमुभयसिद्धमिति तत्र वृत्तिनिर्गमनस्यावश्यकत्वेन भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत् तन्निष्ठघटाभावावच्छिन्नचैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्य प्रत्यक्षतैव सिद्धान्ते ।

घटो न = घटो नास्ति । अनुभवस्थले = अनुमित्यादिभिन्नानुभवस्थले । तेन नासङ्गतिः । भूतालांशे प्रत्यक्षत्व = इन्द्रियकरणकत्वम् । उभयसिद्धं = न्यायवेदान्तोभयमतसिद्धम् । तत्र = तथाविधानुभवस्थले । तन्निष्ठघटाभावावच्छिन्नचैतन्यस्यापि = भूतलनिष्ठघटाभावाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यापि । प्रमात्रभिन्नतया = अन्तःकरणवच्छिन्नचैतन्याभिन्नतया । **अयं भावः—तात्त्विकचैतन्याभेदस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वे अतिप्रसङ्गभिया अन्तःकरण—तद्वृत्ति—विषयाणां चैतन्यावच्छेदकानां एकदेशस्थतायां तत्प्रयुक्तःचैतन्याभेदः वृत्ति-विषयगतप्रत्यक्षत्वयोः प्रयोजकः इति प्रतिपादितं सप्रपञ्चं "विषयचैतन्यस्य प्रमाणचैतन्याभेदः, तत्सत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः इत्यादिना ग्रन्थेन प्रत्यक्षपरिच्छेदे । सति चैवं—भूतलान्तःकरणतद्वृत्तीनां एकदेशस्थतेव घटाभावान्तःकरणतद्वृत्तीनाम्प्येकदेशस्थतायाः इन्द्रियप्रणालिकया अन्तःकरणपरिणमनेन दुर्वारतया विषये वृत्तौ च प्रत्यक्षत्वस्याप्यबाधितत्वेन फलाभेदात् प्रमाणेनापि इन्द्रियात्मकेन अभिन्ने नैव भवितव्यमिति कथमनुपलब्धेः प्रमाणता ? इति ।**

समाधत्ते—

इति चेत् सत्यम् । अभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेः मानान्तरत्वात् ।

अभावप्रतीतेः = इन्द्रियपाताधीनायाः, भूतले घटो नास्तीत्यादिप्रतीतेः । प्रत्यक्षत्वेऽपि = प्रत्यक्षप्रमात्वेऽपि । तत्करणस्य = प्रत्यक्षकरणस्य । इदमनुपलब्धिविशेषणम् । अजहल्लिङ्गतया असमानलिङ्गत्वेऽपि विशेष्यविशेषणभावो न विरुद्धः । मानान्तरत्वात् = अभाववृत्तिनिरूपितप्रामाण्यात् ।

ननु यत्र यत्र प्रत्यक्षप्रमात्व तत्र तत्र इन्द्रियकरणकत्वमिति सहस्रशो गृहीतसहसाचारदर्शनप्रवृत्तव्याप्तिबलेनाभावप्रत्यक्षे इन्द्रियकरणकत्वस्यानुमेयतया कथमनुपलब्धेः तत्प्रमाणत्वम् ? इत्याशंक्याह—

न हि फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणनानियतत्वमस्ति । दशमस्त्वमसीत्यादि वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात् ।

फलीभूतज्ञानस्य = प्रमायाः । प्रत्यक्षप्रमाणतानियतत्व = नियमेन प्रत्यक्षप्रमाणत्वम् । प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमात्वाभ्युपगमात् = शब्दप्रमाणत्वाभ्युपगमात् । अयं भावः—यत्र यत्र प्रत्यक्षप्रमात्वं तत्र तत्र प्रत्यक्षप्रमाणकत्वमिति न व्याप्तिः । भूतदशकनदीसन्तरणस्थले स्वमगणयितुः एकस्य जलनिमग्नतासन्देहेन तन्निश्चयेन वा विदूनहृदयस्य वैदून्यापनोदाय 'दशमस्त्वमसि" इति केनचिदुक्ते दशमोऽहमिति प्रमायां निरुक्तवाक्याज्जायमानायां प्रत्यक्षप्रमात्वसत्त्वेऽपि वाक्यप्रमाणकतया प्रत्यक्षप्रमाणकत्वाभावेन व्यभिचारनिश्चयात् । सहस्रशः सहचारदर्शनेऽपि एकत्रव्यभिचारदर्शने व्याप्त्यनिश्चयात् । व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतसहचारज्ञानस्यैव व्याप्तिग्राहकत्वात् । तथा च प्रमायाः प्रत्यक्षत्वेऽपि प्रमाणस्यानुपलब्धित्वस्वीकारे बाधकाभाव इति ?

दृष्टान्तस्थले दशमस्त्वमसीत्यादावपि कुतस्तथा ? इति शङ्कते—

फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणभेदः ?

दशमस्त्वमसीत्यादौ प्रमायाः शाब्दत्वमेवास्तु । प्रत्यक्षत्वे प्रमाणस्य वाक्यत्वं दुर्वचमेव स्यात् । तथा च नानुपलब्धिः प्रमाणान्तरमिति भावः ।

परिहरति—

इति चेन्न वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः । तथा च घटाद्यभावाकारा वृत्तिर्नेन्द्रियजन्या इन्द्रियस्य विषयविशेषेणासन्निकर्षात् । किन्तु घटाद्यनुपलब्धिमानान्तरजन्येति भवत्यनुपलब्धेर्मानान्तरत्वम् ।

वृत्तेः वैजात्यं वृत्तिवैजात्यम् = भावाभावाकारतारूप वैलक्षण्यम् तन्मात्रेण । मात्रपदेन प्रमागतप्रत्यक्षत्वादिनिरासः । प्रमाणस्य अभावग्राहकस्य वैजात्योपपत्तेः । = भावसाधकप्रत्यक्षादिमानान्तरभिन्नत्वोपपत्तेः । तथा चेत्यस्य व्यवहिते "मानान्तरत्व"मित्यनेन सम्बन्धः ।

घटाद्यभावाकारा वृत्तिरिति पक्षख्यापनम्, "नेन्द्रियजन्या" इति साध्यख्यापनम् । विषयेणासन्निकर्षात इति च हेतुख्यापनम् । नेन्द्रियजन्या इत्यस्य इन्द्रियजन्यत्वाभाववती इत्यर्थः । विषयेण इन्द्रियस्यासन्निकर्षात् इति सम्बन्धः । इन्द्रियस्य इत्यत्र षष्ठ्यर्थः प्रतियोगिकत्वम् । तथा च इन्द्रियप्रतियोगिकसन्निकर्षाभाववतो विषयस्य हेतुत्वं बोध्यम् । हेतुतावच्छेदकसम्बन्धस्तु विषयित्वं तेन नासङ्गतिः । **एवञ्च घटाद्यभावाकारा वृत्तिः इन्द्रियप्रमाणकत्वाभाववती इन्द्रियप्रतियोगिकसन्निकर्षाभाववद्विषयवत्त्वात् घटवत् इत्यनुमाकारो बोध्यः ।** प्रमाणकत्वं च प्रमाणजन्यत्वं, न तेन बाधशङ्कावसरः । नन्वेवमपि—"घटाभाववद्भूतलम्" इत्यादिवृत्तेरेकत्वेन बाधः स्वरूपासिद्धिश्च । भूतलवृत्तेः इन्द्रियजत्वात् इन्द्रियजन्यवत्तिविषयभूतलवत्त्वात्, इति चेत् सत्यम् । तथा सति हेतौ साध्यांशे च "अभावांशे" इति योजनीयम् । तथा च नोक्तदोष इति ।

अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वे बाधकं शङ्कते—

नन्वनुपलब्धिरूपमानान्तरपक्षेऽप्यभावप्रतीतेः प्रत्यक्षत्वे घटवति घटाभावभ्रमस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तौ तत्राप्यनिर्वचनीयघटाभावोऽभ्युपगम्येत ।

अनुपलब्धिरूपं यन्मानान्तरं तत्पक्षेऽपि = तत्स्वीकारपक्षेऽपि । प्रतीतेः फलभूतायाः प्रमायाः । प्रत्यक्षत्वे = साक्षात्काररूपत्वे । घटवति = घटनिष्ठ-

निरूपकतानिरूपिताधिकरणतावति भूतलादौ । घटाभावभ्रमस्यापि = घटाभाववद्भूतलमित्याकारकभ्रमस्यापि । प्रत्यक्षत्वापत्तौ = प्रत्यक्षात्मकज्ञानस्वीकारावश्यकत्वे । तत्रापि = तादृशभ्रमस्थलेऽपि । अनिर्वचनीयघटाभावः = प्रातिभासिको घटाभावः । अभ्युपगम्येत = स्वीकर्त्तव्यः स्यात् ।

भवतु तथा का नाम क्षतिः ? इति सम्भावितां कस्याप्युक्तिं स्वयमेव निराकरोति—

न चेष्टापत्तिः । तस्य मायोपादानकत्वेऽभावत्वानुपपत्तिः । मायोपादानकत्वाभावे मायायाः सकलकार्योपादानत्वानुपपत्तिः ।

आपत्तिर्न चेष्टा इत्यन्वयः तस्येत्यतः पूर्वं यतः इत्यध्याहारः तस्य = घटाभावस्य मायोपादानकत्वे = मायापरिणामत्वे । अभावत्वस्य अनुपपत्तिः = अभावप्रसङ्गः । माया उपादानं = परिणामि यस्य तन्मायोपादानकं, तस्य भावः तत्त्वम्, तदभावे । सकलकार्योपादानत्वानुपपत्तिः = निखिलपरिणामनिरूपितपरिणामित्वानुपपत्तिः । अयं भावः—अनुपलब्धिप्रमाणेन प्रत्यक्षप्रमोत्पाद इत्यभ्युपगमे घटादिप्रतियोगिमति भूतलादौ जायमाना "घटाभाववद्भूतलम्" इति प्रमाऽपि प्रत्यक्षमेवेति स्वीकार्यं स्यात् । ओमित्युक्तौ—घटवति घटाभावस्य व्यावहारिकस्य असम्भवेन प्रातिभासिकोऽसौ इति वक्तव्यं भवति । तस्मिन्नप्यभ्युपगम्यमाने अनुपपत्तिरापतति । तथा हि—प्रातिभासिकत्वं नाम अविद्यापरिणामत्वम् । त[illegible]द्धम् । परिणामपरिणामिनोः साजात्यनियमात् । अज्ञानमविद्या, वेदान्तनये भावः, तत्परिणामत्वेन घटवति प्रतीयमानघटाभावादेः तद्विरुद्धमभावत्वं तत्रानुपपत्तिमीयात् । घटाभावादेः तादृशस्य अविद्यापरिणामत्वाभावे प्रातिभ[illegible]पपन्नं भवति । अन्यतमसद्विषयकत्वे एव ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं सम्भवितुमर्हति । तदभावे [illegible]तस्तस्यानुपलब्धकस्य घटवति "घटाभाववद्भूतलम्" इति ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं सुशक्यं वक्तुमिति ।

समाधत्ते—

इति चेन्न । घटवति घटाभावभ्रमो न तत्कालोत्पन्नघटाभावविषयकः । किन्तु [illegible] विद्यमानो लौकिको घटाभावो भूतले आरोप्यते । इत्यन्यथा ख्यातिरेव ।

घटाभावस्य भ्रमः घटाभावभ्रमः । तत्काले = प्रतीतिकाले उत्पन्नः तत्कालोत्पन्नः । प्रातिभासिको यो घटाभावः स विषयो यस्य, स तथा । भूतलरूपादौ इत्यादिपदेन रसगन्धघटत्वादिपरिग्रहः । लौकिकः = व्यावहारिकः । आरोप्यते बुद्धिविषयीक्रियते । इतीति हेतौ । अन्यथाख्यातिरेव इत्यनन्तरं घटवति घटाभावबुद्धिरिति शेषः। **अयं भावः—भ्रमप्रत्यक्षं द्विविधं अनिर्वचनीयख्यातिः अन्यथाख्यातिश्च । अनिर्वचनीयख्यातौ विषयः प्रातिभासिको भवति अन्यथाख्यातौ तु व्यावहारिकः इति विशेषः । प्रकृतस्थले आनुपलब्धिकं घटवति घटाभावप्रत्यक्षं नानिर्वचनीयख्यातिरूपमभ्युपेयते येन प्रोक्तोऽनुपपत्तिविकल्प आपतेत् । एवं न तद्वारणोपायः । किन्तु अन्यथाख्यातिरूपम् । तथा च नोक्तानुपपत्त्यवकाशः ।** घटवति घटाभावस्यैवाबाधिकत्वात् । प्रतीतेः पूर्वमन्यत्र विद्यमानस्यैवान्यत्र प्रतीतेरन्यथाख्यातिरूपतया कथं प्रकृते तत्सम्भव इति चेत् इत्थम्— भूतले संयोगेन घटसत्त्वेऽपि न भूतलरूपे भूतलत्वे वा तस्य संयोगेन सत्त्वम् । द्रव्ययोरेव संयोगात् । रूपघटत्वादेः तथात्वाभावेन तत्र संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः घटाभावः प्रतीतेः पूर्वमपि विद्यते, तस्य घटवति प्रतीतिर्विधीयते इति घटवतो भूतलस्य घटाभाववत्तया प्रतीतिकरणेन घटवति घटाभावबुद्धेः अन्यथाख्यातितेति ।

ननु कुत्र तर्हि अन्यथाख्यातिः कुत्र चानिर्वचनीयख्यातिः ? कश्च द्वयोर्नियामकः । इति जिज्ञासायामाह—

आरोप्यसन्निकर्षस्थले सर्वत्रान्यथाख्यातेरेव व्यवस्थापनात् ।

सर्वत्रेति स्थलविशेषणम् । आरोप्यः=भ्रमीयविधेयतावान्,तेन सह चक्षुरादेरिन्द्रियस्य सन्निकर्षो यत्र, तादृशस्थले इत्यर्थः । **अयं भावः—यत्राधिष्ठानेन सहैव आरोप्येणापि चक्षुस्सन्निकर्षः तत्र नानिर्वचनीयख्यातिः । यथा जपास्फटिकयोरुभयोः च[illegible]व्यवधान स्फटिके जायमानमारुण्यज्ञानं नानिर्वचनीयख्यातिरूपम्, अपितु अन्यथाख्यातिरूपमेव,** तद्वत् घटरूपेण घटत्वेन वा सह चक्षुस्सन्निकर्षे जायमाने तन्निष्ठेन व्यावहारिकेण घटाभावेनापि चक्षुस्सन्निकर्षात् सन्निकृष्टं तथाविधं घटाभावं घटवद्भूतलविशेषणीकृत्य सम्पाद्यमाने "घटाभाववद्भूतलम्" इति ज्ञाने अन्यथाख्यातित्वमेव नानिर्वचनीयख्यातित्वम् इति तदानीं घटाभावोत्पत्त्यनभ्युपगमेन मायोपादानकत्व-तदभावाधीनानुपपत्तेर्नावकाश इति ।

ननु विशेष्यविशेषणभावस्य प्रत्यक्षप्रयोजकसन्निकर्षत्वानङ्गीकारपक्ष एव योग्यानुपलब्धेः प्रमाणतया कथं तादृशसन्निकर्षमादाय अन्यथाख्यातिसम्पादनम् ? कथं च ततोऽनुपपत्तिवारणम् ? इत्यत्र आह—

अस्तु वा प्रतियोगिमति तदभावभ्रमस्थले तदभावस्यानिर्वचनीयत्वम् । तदुपादानं मायैव । न ह्युपादानोपादेययोः अत्यन्तसाजात्यम् । तन्तुपटयोरपि तन्तुत्वपटत्वाभ्यां वैजात्यात् । यत्किञ्चित्साजात्यस्य मायायाः अनिर्वचनीयघटाभावस्य मिथ्यात्वधर्मस्य विद्यमानत्वात् । अन्यथा व्यावहारिकघटाभावं प्रति कथं मायोपादानमिति कुतो न शङ्केथाः ?

प्रतियोगिमति = घटादिमति । तदभावभ्रमस्थले घटाद्यभावभ्रमस्थले । तदभावस्य = घटाद्यभावस्य । अनिर्वचनीयत्वं = प्रातिभासिकत्वम् । तदुपादानं = तादृशघटाभावाद्युपादानम् । मायैव = अविद्यैव । साजात्यमित्यनन्तरं अपेक्षितमिति शेषः । तथा च उपादानोपादेययोः अत्यन्तसाजात्यं न हि अपेक्षितमिति सम्बन्धः । तन्तुपटयोरपि वैजात्यात् इत्यन्वयः । वैजात्यं सादृश्यविरोधीधर्मविशेषः । मायायाः अनिर्वचनीयस्य घटाभावस्य च यत्किञ्चित्साजात्यस्य = मिथ्यात्वधर्मस्य विद्यमानत्वादिति योजना । षष्ठीद्वयस्य प्रकृते सप्तम्यर्थता । तथा च मिथ्यात्वधर्मात्मकस्य यत्किञ्चित्सादृश्यस्य मायायां अनिर्वचनीये घटाभावे च विद्यमानत्वात् इति तदर्थः । अन्यथा = उपादानोपादेययो॰ अत्यन्तसाजात्यापेक्षायाम् । माया कथमुपादानमिति सम्बन्धः ।

अयं भावः—घटादिमति घटाभावादिभ्रमस्थले घटाभावादेः अनिर्वचनीयत्वाभ्युपगमेऽपि नानुपपत्तिः । मायाघटाभावयोः उपादानोपादेययोः अपेक्षितस्य साजात्यस्यापि सत्त्वात् । तथा हि—उपादानोपादेययोः अत्यन्तसाजात्यमपेक्षितम् आहोस्वित् साजात्यमात्रम् ? आद्ये उपादानोपादेयभावोच्छेदप्रसङ्गः । द्वयोरत्यन्तसाजात्याभावात् । न हि तन्तुपटयोरपि तन्तुत्वेन पटत्वेन वा सादृश्यम् । उभयत्र तन्तुत्वस्य पटत्वस्य चाभावात् । अतः परकल्प एव समाश्रयणीयतामावहति न च तदनुपपत्तिः प्रकृतेऽपि । मिथ्यात्वधर्मस्य मायामायिकयोरुभयोरपि सत्त्वेन मायाघटाभावयोः सत्त्वात् । पूर्वकल्पमुपेत्य शङ्का चेत् न सा युक्ता । उपादानोपादेय-

भावमात्रसमुच्छेदेन व्यावहारिकघटाभावाद्यनुत्पत्तेरपि पर्यनुयोज्यतया तत्त्यागेन न्यूनतापत्तेः इति । तथा च नानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वानुपपत्तिरिति ।

तथा सति ब्रह्मपरिणामवादापत्तिरिति शंकामपाकरोति—

न च विजातीययोरप्युपादानोपादेयभावे ब्रह्मैव जगदुपादानं स्यादिति वाच्यम् । प्रपञ्चभ्रमाधिष्ठानत्वरूपस्य तस्येष्टत्वात् । परिणामित्वरूपोपादानत्वस्य निरवयवे ब्रह्मण्यनुपपत्तेः । तथा च प्रपञ्चस्य परिणाम्युपादानं माया, न ब्रह्मेति सिद्धान्तः । इत्यलं प्रसङ्गागतप्रपञ्चेन ।

न चेति वाच्यमिति परेणान्वयः । विजातीययोरपि = किञ्चिद्रूपेण साजात्याभाववतोरपि । उपादानोपादेयभावे = एकस्योपादानत्वे अपरस्य चोपादेयत्वे । प्रपञ्चस्य यो भ्रमः, तस्य यत् अधिष्ठानं = आलम्बनं, तत्स्वरूपस्य । तस्य = जगदुपादानत्वस्य । इष्टत्वात् = स्वीकृतत्वात् । अनुपपत्तेः असम्भवात् । तथा च = ब्रह्मणि अध्यासाधिष्टानत्वस्य सिद्धौ च । अलं = व्यर्थम् । प्रसङ्गेन आगतः यः उपादानत्वविचारः, तस्य प्रपञ्चः = विस्तारः, तेन । असौ व्यर्थ इत्यर्थः । अयं भावः—विजातीययोरपि यद्युपादानोपादेयभावः अविद्याप्रातिभासिकघटाभावयोः स्वीकार्यः, तदा पारमार्थिकब्रह्म-प्रातिभासिकजगतोरुपादानोपादेयभावाभ्युपगमे बाधकाभावः । स्वीकारे चापसिद्धान्तः, इत्याद्याक्षेपो नार्हः । जगदारोपाधारत्व-परिणामित्वभेदेन भिन्नयोः उपादानत्वयोः प्रथमस्याभ्युपेयत्वात् । द्वितीयस्य च सावयवत्वव्याप्यतया, व्यापकाभावेन च व्याप्याभावस्य च सिद्धतया सम्भावनाया अप्यभावात् इति । अलमित्यादिना ग्रन्थगौरवभिया प्रासङ्गिकविचारे बाहुल्यविरतिः सूचिता ।

प्रमाणविचारमुपसंहृत्य प्रमेयविचारविभागमुखेन आरभते—

सा चाभावश्चतुर्विधः । प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योऽन्याभावश्चेति ।

सः = अनुपलब्धिप्रमेयभूतः । चतस्रः विधः अस्येति चतुर्विधः ।

प्रागभावः कः इत्याकाङ्क्षायामाह—

मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेः उत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः स प्रागभावः ।

कार्यस्य घटादेः इत्यस्याभ्यासः । तथा च कार्यस्य घटादेः उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य घटादेः कारणे मृत्पिण्डादौ, यः कार्यस्य घटादेः अभावः स प्रागभाव इति पर्यवसितोऽर्थः । इति तु परिचयः । लक्षणं तु विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम् इति बोध्यम् । प्रतियोग्युत्पादे प्रागभावनाशात् ।

ननु अत्यन्ताभावविशेष एवास्तु सः इत्याशंकायामाह—

स च भविष्यतीति प्रतीतिविषयः ।

च त्वर्थे । स च = प्रागभावस्तु । प्रागभाव एवेत्यर्थः । "घटो भविष्यति" इत्याकारिका या प्रतीतिः तद्विषय इत्यर्थः । अयं भावः—"नास्ति" "भविष्यति" इति प्रतीतिभेदः सर्वानुभवसाक्षिकः स च न सम्भवितुमर्हति ऋते विषयभेदात्, इति प्रागभावः स्वतन्त्रः अभ्युपेयः ।

ध्वंसमाह—

तत्रैव घटे मुद्गरपातानन्तरं योऽभावः स प्रध्वंसः ।

मुद्गरपातानन्तरं तत्रैव घटस्य योऽभाव इति सम्बन्धः । तत्रैव = कपाले एव । मुद्गरपातानन्तरमित्युक्त्या जन्यविनाश्यभावत्वं ध्वंसत्वम् इति ध्वंसलक्षणं सूचितम् । तथा च प्रागभावध्वंसयोः उभयोरपि प्रतियोगिजन्यत्वविनाशित्वाभ्यां साम्येऽपि उत्पत्तितदभावाभ्यां वैलक्षण्येन भेद इति सूचितम् ।

ननु प्रागभावस्य प्रतियोगिना विनाशः । ध्वंसस्य च न विनाशः, इति विनाशित्वाविनाशित्वाभ्यामेव तयोर्भेदोऽस्तु इति तार्किकशङ्कायामाह—

ध्वंसस्यापि स्वाधिकरणकपालनाशेन नाश एव ।

स्वं = घटध्वंसः, तदधिकरणं = कपालः, तस्य नाशेन । प्रध्वंसस्यापि नाश एवेति सम्बन्धः । अयं भावः—सत्यं यद्यपि तयोस्तथा भेदः सम्भवितुमर्हति, तथापि

ध्वंस्याविनाशित्वं न शक्यमभ्युपगन्तुम् । कपालाश्रितस्य घटध्वंसस्य कपालनाशे स्थातुमशक्यत्वात् । तस्य कालिकातिरिक्तसम्बन्धेन तन्मात्राश्रितत्वस्वाभाव्यात् ।

ध्वंसध्वसाभ्युपगमे परैरुद्भावितामापत्ति परिहरति—

न च घटोन्मज्जनापत्तिः । ध्वसध्वंसस्यापि घटप्रतियोगिकध्वसत्वात् ।

न चापत्तिरिति सम्बन्धः । घटस्य उन्मज्जनं = तस्यैव पुनरुत्पत्तिः, सैव आपत्तिः = घटोन्मज्जनापत्तिः । ध्वसस्य ध्वसः = ध्वसध्वसः, तस्यापि । अपिना प्रथमध्वंसपरिग्रहः । घटप्रतियोगिकत्वात् = घटविरोधित्वात् । **अयं भावः— ध्वंसध्वंसाभ्युपगमे यत्राद्यमुद्गरपातादिना घटध्वंसः, पुनर्मुद्गरपातादिना च कपालध्वंसः, तत्र कपालध्वंसेन घटध्वंसस्यापि ध्वंसाभ्युपगमे तस्यैव घटस्य पुनरुत्पादापत्तिः । घटविरोधिनो घटध्वंसस्य ध्वस्तत्वेन तद्घटबाधकाभावात् इति यत्तार्किकैरुपन्यस्यते स्वीयस्यापि घटविरोधित्वमुपेयते । तथा च घटध्वंसध्वंसात्मकविरोधिजागरणस्थले बाधकसत्त्वात् न तद्घटोत्पादापत्तिसम्भवः इति । वस्तुतस्तु उक्तापत्तेरवकाश एव नास्ति । तथा हि—कपालसंयोगमात्रनाशस्थले घटध्वंसस्यैव पुनस्तद्घटोत्पादबाधकत्वम् । कपालनाशस्थले च कपालात्मकसमवायिकारणस्यैवाभावात् क्व पुनस्तद्घटोत्पादः सम्भवतीत्यभिनवः पन्थाः ।**

द्वितीतध्वंसस्य प्रथमध्वंसविरोधानुपगमे दण्डमाह—

अन्यथा प्रागभावध्वंसात्मकस्य घटस्य विनाशे प्रागभावोन्मज्जनापत्तिः ।

अन्यथा = घटादिध्वंसध्वंसस्य घटादिबाधकत्वानुपगमे । प्रागभावः—घटप्रागभावः, तस्य ध्वंसः आत्मा = स्वरूप यस्य, एतादृशो यो घटः तस्य । विनाशे = ध्वंसे । प्रागभावोन्मज्जनापत्तिः = घटप्रागभावोन्मज्जनापत्तिः । **अयं भावः— सम्पन्नायां घटसामग्र्यां घटोत्पादे घटप्रागभावध्वंसः इति घट-घटप्रागभावध्वंसयोः लाघवादभेदः स्वीकरणीयः । तथा च घटध्वंसघटप्रागभावध्वंसध्वंसयोरप्यभेदः । सति चैवं यदि द्वितीयध्वंसस्य प्रथमध्वंसविरोधिता न स्वीकरणीया तदा घटध्वंसात्मकघटप्रागभावध्वंसध्वंसोदये घटप्रागभावध्वंसरूपस्य घटप्रागभावविरोधिनोऽभावेन**

घटप्रागभावोन्मज्जनं निराबाधमापतेत् इति ध्रुवं द्वितीयध्वंसस्य प्रथमध्वंसविरोधित्वमुपेयम् । तथा च कपालनाशस्थले घटध्वंसध्वंसे न घटोन्मज्जनापत्तिरिति ।

ननु ध्वंसमात्रस्य विनाशित्वं भवदभिप्रेतं यत्किञ्चिद्ध्वंसस्य वा ? आद्ये असम्भवः द्व्यणुकध्वंसस्य नित्यपरमाण्वाश्रितत्वात् । द्वितीये द्वैतापत्ति. नित्यस्य यत्किञ्चिद्ध्वंसस्य स्वीकारात् इत्यभिप्रायेण चोद्यमानां शङ्का निराकरोति—

न चैवमपि यत्र ध्वंसाधिकरणं नित्यं तत्र कथ ध्वंसनाश इति वाच्यम् । तादृशमधिकरणं यदि चैतन्यव्यतिरिक्तं तदा तस्य नित्यत्वमसिद्धम् । ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यतायाः वक्ष्यमाणत्वात् । यदि च ध्वंसाधिकरणं चैतन्यं तदा असिद्धिः । आरोपितप्रतियोगिकध्वंसस्य अधिष्ठाने प्रतीयमानमात्रत्वात् ।

न चेति वाच्यमिति परेणान्वयः । एवमपि = घटध्वंसध्वंसनित्यत्वेऽपि । यत्र = यादृशस्थले । नित्यं = ध्वंसाप्रतियोगि । चैतन्यं = ब्रह्म । तद्व्यतिरिक्तं = तद्भिन्नं परमाण्वादिब्रह्मव्यतिरिक्तस्य = ब्रह्मभिन्नस्य । ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यतायाः = अहं ब्रह्मास्मीति वृत्तिबाध्यतायाः । आरोपितः अध्यस्तः प्रतियोगी यस्य एतादृशो यो ध्वंसः तस्य । अधिष्ठाने प्रतीयमानत्वात् = तत्त्वत. अधिष्ठानमात्ररूपत्वात् । **अयं भावः—परमाणोः द्व्यणुकध्वंसाश्रयत्वेनाभिप्रेतत्वे तस्यापि ब्रह्मभिन्नतया घटादिवदनित्यत्वेन परमाणुनाशे प[illegible]तस्य द्व्यणुकनाशस्य नाशो निराबाध एव । ब्रह्मणस्तत्त्वे नाभिप्रेतत्वे अधिष्ठानस्य ब्रह्मणो नित्यत्वेन तदाश्रिततया तदात्मकस्य द्व्यणुकध्वंसस्य नित्यत्वमिष्टमेव । द्वैतापत्तेरभावात् इति ।**

आरोपितप्रतियोगिकध्वंसस्य अधिष्ठानमात्रत्वं परोक्त्या पुष्णाति—

तदुक्तं—

अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः इति ।

हिरेवकारार्थः । तथा च कल्पितवस्तुनो नाशः अधिष्ठानावशेषः = अधिष्ठानमात्ररूप एव इत्यर्थः ।

न केवलं कल्पितप्रतियोगिकायाः निवृत्तेः अधिष्ठानमात्ररूपता, अपि तु यथाविधस्य बाधस्यापि इत्याह—

एवं शुक्तिरूप्यनाशोऽपि इदमवच्छिन्नचैतन्यमेव ।

एवं = द्व्यणुकनाश इव । इदमवच्छिन्नचैतन्यं = शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यम् ।

क्रमप्राप्तमत्यन्ताभावमाह—

यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः सोऽत्यन्ताभावः । यथा वायौ रूपात्यन्ताभावः ।

यत्रेति सप्तम्यर्थोऽभेदः । तथा च यत्राधिकरणे इत्यस्य यदभिन्ने अधिकरणे इत्यर्थः । कालत्रयेऽपि यस्याभाव इति सम्बन्धः । सोऽत्यन्ताभाव इत्यत्र मध्ये तस्येति शेषः । वायौ रूपं नासीत्, नास्ति, न भविष्यतीति वायौ विद्यमानो रूपाभावः अत्यन्ताभावो बोध्यः । एवं गुडे तिक्ताभावः पाषाणे सौरभाभावः इत्यादिकः अत्यन्ताभावो बोध्यः । तथा च त्रैकालिकाभावत्वमत्यन्ताभावत्वमिति फलितम् भवति ।

ननु तर्हि अत्यन्ताभावस्य त्रैकालिकतया तमादायैव द्वैतापत्तिः, अत आह—

सोऽपि वियदादिवत् ध्वंसप्रतियोग्येव ।

सोऽपि = अत्यन्ताभावोऽपि । वियत् = आकाशम् । अयं भावः—त्रैकालिकत्वम् = व्यावहा[illegible] कालत्रयावच्छिन्नत्वम् । वियदादेः तत्सत्त्वेऽपि यथा न पारमार्थिकत्वं मिथ्यात्वलक्षणाक्रान्तत्वात् । तथैव अत्यन्ताभावस्यापि न पारमार्थिकत्वमिति न तमादाय द्वैतापत्तिः ।

अन्योन्याभावमाह—

इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योऽन्याभावः ।

"इदं इदं न" इति प्रतीतिः "घटः पटो न" इत्यादिप्रतीतेः उपलक्षिका वेदितव्या । तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं तु न वास्तविकमन्योन्या-

भावलक्षणम् । तादात्म्यस्य वस्तुस्वरूपत्वेन सम्बन्धत्वाभावात् । सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वनियमात् ।

नैतावदेव । इदमस्मात्पृथक्, इदमस्मात् विभक्तमित्यादेरप्युपलक्षिका इदमिदं नेत्यादिप्रतीतिरित्याह–

अयमेव विभागो भेदः पृथक्त्वं चेति व्यवह्रियते ।

अत्र "व्यवह्रियते" इत्युक्त्या व्याहारे एव भेदः न तु व्याहार्य्ये इत्युक्तम् ।

तत्र हेतुमाह–

भेदातिरिक्तपृथक्त्वादौ प्रमाणाभावात् ।

भेदात् अतिरिक्तं यत्पृथक्त्वादि तस्मिन् । आदिपदेन विभागपरिग्रहः । ननु इदमस्मात्पृथक् इति पञ्चमीविभक्तिश्रवणात्, "इदं इदं न" इत्यत्र तदश्रवणात् कथमेषामेकत्वम् ? इति चेन्न । पृथक्शब्दयोगे पञ्चम्यनुशासनात् तेन तथाभावात् । घटकलशभेदेऽपि वस्त्वभेदवत् व्याहारवैरूप्येऽपि भेदपृथक्त्ववस्त्वभेदसम्भवात् । न च तर्हि व्याहारवैरूप्येऽपि प्रतीतिवैरूप्यं मास्त्विति वाच्यम् व्याहारप्रतीत्योरेकाकारतानियमात् ।

सोदाहरणं विभजते–

अयं चान्योन्याभावेऽधिकरणस्य सादित्वे सादिः । यथा घटे पटभेदः । अधिकरणस्यानादित्वे त्वनादिरेव यथा जीवे ब्रह्मभेदः ब्रह्मणि वा जीवभेदः ।

अधिकरणस्य = अन्योन्याभावाधिकरणस्य । सादित्वे = प्रागभावप्रतियोगित्वे । घटे पटभेद इति घटादौ ब्रह्मभेदस्याप्युपलक्षको वेदितव्यः । तत्रापि अधिकरणस्य सादित्वात् । अनादित्वं प्रागभावाप्रतियोगित्वम् । न च जीवस्यानादित्वे अपसिद्धान्त इति वाच्यम् ।

जीव ईशो विशुद्धाचित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमजादयः ।।
इत्यभियुक्तोक्तेः ।

ननु तर्हि द्वैतापत्तिः इत्याशङ्क्याह–

द्विविधोऽपिभेदः ध्वंसप्रतियोग्येव । अविद्यानिवृत्तौ तत्परतन्त्राणां निवृत्त्यवश्यम्भावात् ।

द्विविधोऽपि = सादिरनादिश्च । अविद्यायाः निवृत्तिः अविद्यानिवृत्तिः, तस्यां सत्याम् । तत्परतन्त्राणां = अविद्यानिवृत्त्यधीनानाम् । निवृत्त्यवश्यम्भावः = दुर्वारा-निवृत्तिः । यद्यपि निवृत्त्यवश्यम्भावादित्यसंगतम्, अविद्यानिवृत्तिस्थले प्रपञ्चबाध-स्यैवाभ्युपगमात् । तथापि निवृत्तिस्थले बाधाभावेऽपि, बाधस्थले निवृत्तिरप्य-वश्यम्भाविनी इत्यभिप्रायेण तथोक्तिरिति बोध्यम् ।

द्वैतापत्तिशंकापनोदायैव प्रकारान्तरेणापि भेदविभागं सोदाहरणमाह—

पुनरपि भेदो द्विविधः । सोपाधिको निरुपाधिकश्चेति । तत्रो-पाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वं सोपाधिकत्वम् । तच्छून्यत्वं निरुपाधिकत्वम् ।

पुनरपि = प्रकारान्तरेणापि । तत्र = उभयोर्मध्ये । उपाधिः = परिच्छेदकस्य या सत्ता = अस्तित्वम्, तद्व्याप्या सत्ता = अस्तिता यस्य, तत् उपाधि-सत्ताव्याप्यसत्ताकम्, तस्य भावस्तत्त्वम् । तच्छून्यत्वं = सोपाधिकत्वाभावः । उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वाभाव इति यावत् । घटभेदभिन्नाकाशस्थले, उपाधिः घटः तत्सत्तायाः व्याप्या = घटास्तित्वाभाववत्कालनिरूपितवृत्तित्वाभाववती भवति घटाकाशस्य सत्तेति भवति घटाकाशे लक्षणसमन्वयः । शुद्धाकाशे तु तदभावान्निरुपाधिकत्वम् ।

अवच्छेदवादेन आद्यस्य दृष्टान्तमाह—

यथा एकस्यैवाकाशस्य घटाद्युपाधिभेदेन भेदः ।

अय भावः—एकमपि महाकाशं घटादेरुपाधेः भेदेन भिन्नमिव भवतीति घटा-काशपटाकाशभेदस्य सोपाधिकत्वम् इति ।

आद्यस्यैव प्रतिबिम्बवादेन दृष्टान्तमाह—

यथा वा एकस्यैव सूर्यस्य जलभाजनभेदेन भेदः। यथा एकस्यैव ब्रह्मणः अन्तःकरणभेदाद्भेदः ।

अयं भावः—यत्रानेकस्मिन् पात्रे जलं प्रपूर्य तानि पात्राणि बहिरवस्थाप्यन्ते तत्र तेषु प्रतिबिम्बपातेन विभिन्न इव सूर्यो दृश्यते। स च भेदो न निरुपाधिको भवितुमर्हति उपाधिभूततत्तत्पात्रजन्याभावे भेदादर्शनात् इति। यथा एकस्यैव ब्रह्मण इत्यादि तृतीयदृष्टान्तप्रदर्शनं अवच्छेदप्रतिबिम्बोभयवादसाधारणमवसेयम् ।

निरुपाधिकभेददृष्टान्तमाह—

निरुपाधिकभेदो यथा घटे पटभेदः ।

घटपटसत्तयोरन्वयव्यतिरेकाभावेन व्याप्त्यभावात् न व्याप्तिघटितसोपाधिकत्वस्य तद्भेदे सम्भव इति भावः ।

शङ्कते—

ननु ब्रह्मण्यपि प्रपञ्चभेदाभ्युपगमेऽद्वैतविरोधः ।

भेदस्य प्रतियोग्याधारोभयनिरूप्यतया, प्रतियोगिनः = प्रपञ्चस्य ब्रह्मणश्चास्तित्वमभ्युपेयमिति द्वैतापत्तिर्दुर्वारेति भावः ।

उत्तरयति—

न । तात्विकभेदादेरनभ्युपगमेन वियदादिवदद्वैताव्याघातकत्वात् ।

वियत् = आकाशं, तदादिवत् । अद्वैताव्याघातकत्वात् = अद्वैतनिवारकत्वाभावात् । आकाशादिप्रपञ्च इव प्रपञ्चभेदस्यापि काल्पनिकतया न द्वैतापत्तिः। तात्विकाभेदस्यैव वेदान्तप्रतिपाद्यत्वात् इति भावः ।

सुरेश्वरोक्त्या निजोक्ति पुष्णाति—

अक्षमाभवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने ।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम् ॥
इति सुरेश्वराचार्यवचनात् ।

साधकत्वप्रकल्पने भवतः का इयं अक्षमा । संसारं तत्रैव अज्ञानकल्पितं किं न पश्यसि इत्यन्वयः । साधकत्वं = प्रामाण्यं, तस्य प्रकल्पनं स्वीकारः तस्मिन् । अक्षमा = असहिष्णुता, अस्वीकार इति यावत् । तथा च केयमक्षमा ? इत्यस्य किमर्थकल्पितः प्रमाणप्रमेयभावः कथं नाभ्युपगम्यते ? संसारस्यैव ब्रह्मणि कल्पितत्वेन द्वैतापत्तेरभावात् इति भावार्थ

प्रागभावाभ्युपगन्तारमेकदेशिनं विवरणादिविरोधापत्तिप्रदर्शनेन वारयति—

अत एव विवरणेऽविद्यानुमाने प्रागभावव्यतिरिक्तत्वविशेषणं, तत्त्वप्रदीपिकायां अविद्यालक्षणे भावत्वविशेषणं च संगच्छते ।

अत एव = वेदान्तिभिः प्रागभावाभ्युपगमादेव । अविद्यानुमानं = "प्रमाज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशगत-वस्त्वन्तरपूर्वकम् । अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात् । अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रभावत्" इत्याकारकं-अविद्यासाधकमनुमानम्, तस्मिन् । तत्त्वदीपिका = चित्सुखीतिप्रसिद्धः चित्सुखाचार्यग्रन्थः, तत्र । अविद्यालक्षणे—

"अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते ।
तदज्ञानमिति प्राज्ञाः लक्षणं सम्प्रक्षते ॥

इत्युक्त्वा अनादित्वे सति भावत्वे सति विज्ञाननिवर्त्यत्वम्" एवं प्रकारेण प्रतिपादिते । अयं भावः—"प्रमाज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्" इत्यनुमितौ साध्यांशे वस्त्वन्तरपदेन परिशेषात् अज्ञानमेव गृह्यते इति भवति तत्सिद्धिः । तत्रानुमाने वस्त्वन्तरे प्रक्षिप्तानां विशेषणानां मध्ये प्रागभावमादायार्थान्तरवारकं प्रागभावव्यतिरिक्तत्वविशेषणमपि

प्रक्षिप्तम् । तच्च प्रागभावाभ्युपगमपक्ष एव घटते । प्रागभावानभ्युपगमे तमादाय अर्थान्तरप्रसक्तिरेव गगनकुसुमायितेति, न केवलं व्यर्थमेव स्यात् प्रागभावव्यतिरिक्तत्वविशेषणम् । अपि तु दातुमशक्यमपि, प्रागभावाभावात् । अतो ज्ञायते यत् प्रागभावो वेदान्तसिद्धान्तसिद्ध इति । एव अनादित्वे सति भावत्वे सति बिज्ञाननिवर्त्यत्वं अज्ञानत्वमिति अज्ञानलक्षणे भावत्वविशेषणं प्रागभावे अतिव्याप्तिवारणायैव दीयते । यदि प्रागभाव एव न स्यात् तर्हि क्वातिव्याप्तिः ? किं वारणाय च तद्विशेषणदानं संमतं स्यात् ?

अतः प्रागभावो वेदान्तसिद्धान्तं सिद्ध इति ।

परिच्छेदोपसंहारमाह—

एवञ्च चतुर्विधाभावानां योग्यानुपलब्ध्या प्रतीतिः । तत्रानुपलब्धिर्मानान्तरम् । इति ।

एवं च = चतुर्विधाभावसिद्धौ च । चतुर्विधाभावानां = प्रागभावप्रध्वंसाभावात्यन्ताभावान्योन्याभावानां । प्रतीतिः = प्रमाज्ञानम् । तत्र = अभावे । तथा चानुपलब्धेः षष्ठं प्रमाणत्वदुरपलपमिति भावः ।

अथ प्रामाण्यवादः

प्रसङ्गात् प्रमात्वस्वतस्त्वं प्रतिपादयति—

एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एव उत्पद्यते ज्ञायते च ।

प्रमाणाना = प्रमाणसाध्याना प्रमाणम् । प्रामाण्य = प्रमात्वम् । अयं भावः— उक्तप्रत्यक्षादिप्रमाणषट्कसाध्य-प्रमाषट्कगतं प्रमात्वं ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं उताधिकसामग्रीप्रयोज्यम् ? इति दार्शनिकविप्रतिपत्तिः । तत्र न ज्ञानसामान्य-सामग्रीप्रयोज्यम्, अपि तु गुणात्मकाधिककारणघटितसामग्रीप्रयोज्यमिति न्याय-वैशेषिकमतम् । तन्न मनोरमम् । अपि तु ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यमेवेति । एवं प्रमागतस्य प्रमात्वस्य ज्ञानं ज्ञानग्राहकसामग्रीप्रयोज्यमेव भवति, न त्वतिरिक्त-सामग्रीप्रयोज्यमिति ।

एतदेव व्युत्पादयति—

तथा हि स्मृत्यनुभवसाधारणं सम्वादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वतितत्प्रकार-कत्वं प्रामाण्यम् । तच्च ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम् । न त्वधिकं गुणमपेक्षते । प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावात् ।

स्मृत्यनुभवसाधारणं = तदुभयवृत्ति । सम्वादिनी = सफला या प्रवृत्तिः, तस्यामनुकूलम् । तद्वति = प्रकारीभूतपदार्थाधिकरणे । प्रामाण्यं = प्रमात्वम् । तच्च = प्रामाण्यं तु । ज्ञानस्य या सामान्यसामग्री = साधारणकारणसमवायः, तत्प्रयोज्यम् । ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यत्वेन सह अधिकगुणप्रयोज्यत्वं न विरुद्धम्, इत्यतः स्पष्टतयोक्तं “न त्वधिकं गुणमपेक्षते” इति । कारणतायाः अनुगतधर्मा-वच्छिन्नत्वनियमेन गुणेष्वनुगतधर्मस्याभावः गुणकारणत्वे बाधकः इत्युक्तं “प्रमामात्रे” इत्यादिना ।

ननु मास्तु प्रमासामान्य प्रति अनुगततया गुणत्वेन कारणता । विशेषतः कारणतायां तु बाधकाभावः इत्याशङ्कायामाह—

नापि प्रत्यक्षप्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षः रूपादिप्रत्यक्षे आत्म-प्रत्यक्षे च तदभावात् । सत्यपि तस्मिन् पीतः शंख इति प्रत्यक्षस्य भ्रमत्वाच्च ।

प्रत्यक्षप्रमायां = प्रत्यक्षात्मिकायां प्रमायाम्। भूयान् अवयवेन्द्रियसन्निकर्षः भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षः। तदभावात् = भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षाभावात्। तस्मिन् भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षे। **अयं भावः—अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव कार्यकारणभावो निश्चीयते। इह तु तावन्वयव्यतिरेकौ विद्येते। यतो रूपस्य चाक्षुषं प्रत्यक्षं भवति, भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षस्तु नास्ति। रूपस्य गुणत्वेन निरवयवत्वात्। किञ्च आत्मनो मानसं प्रत्यक्षं भवति किन्तु भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षो नास्ति, तत एव। इति व्यतिरेकाभावः**। स्थलद्वयप्रदर्शनं वाह्यमानसप्रत्यक्षभेदाभिप्रायेण बोध्यम्। "पीतः शंख." इति प्रत्यक्षस्थले शंखेन सह भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षो विद्यते किन्तु प्रमाप्रत्यक्षं न भवति इति अन्वयाभावः। सति चैवमन्वयव्यतिरेकाभावे कथं प्रत्यक्षं प्रत्यपि भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षात्मगुणत्वेन विशेषरूपेण कारणता अभ्युपगन्तु शक्येति।

अनुमितिस्थलेऽपि न विशेषरूपेण कारणता, इत्याह—

अत एव न सल्लिङ्गकपरामर्शादिकमपि अनुमित्यादिप्रमायां गुणः। असल्लिंगकपरामर्शादिस्थले विषयाबाधेन अनुमित्यादेः प्रमात्वात्।

अत एव = व्यभिचारादेव। परामर्शादिकमित्यत्रादिपदेन वक्तृवाक्यार्थयथार्थज्ञानपरिग्रहः। अनुमित्यादीत्यादि पदेन च शाब्दबोधपरिग्रहः। **अयं भावः**— अनुमितिप्रमां प्रति सल्लिंगकपरामर्शात्मकगुणः कारणम् इत्यादिविशेषरूपेणापि न शक्यते वक्तुं कार्यकारणभावः। यत्र "वह्निव्याप्यधूमवदयोगोलकम्" इति भ्रमात्मकः परामर्शः, तत्र गुणाभावेऽपि जायमानाया "वह्निमदयोगोलकम्" इत्यनुमितेः वह्निमति वह्निप्रकारकतया प्रमात्वेन व्यतिरेकव्यभिचारात्।

ननु तर्हि भ्रमप्रमयो वैलक्षण्यमेव लुप्तं स्यात्। विशेषकाभावात् न चेष्टापत्तिः प्रवृत्त्यो : सम्वादित्वविसम्वादित्वाभ्यां भेदस्य सर्वानुभवसिद्धस्यापलापापत्तेः। इत्याशङ्कां निवारयति—

न चैवमप्रमापि प्रमा स्यात्। ज्ञानसामान्यसामग्र्याः अविशेषादिति वाच्यम्। दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात्।

न चेति वाच्यमिति परेणान्वयः। ज्ञानस्य या सामान्यसामग्री तस्याः। अविशेषात् = अवैलक्षण्यात्। हेतुत्वाङ्गीकारात् = कारणत्वाङ्गीकारात्। अयं भाव.—

प्रमां प्रति गुणस्य कारणत्वानभ्युपगमेऽपि दोषाभावस्यातिरिक्तकारणत्वमभ्युपगम्यते । तस्य चाप्रमां प्रति कारणत्वाभावेन प्रमाप्रमयोः वैलक्षण्यमक्षुण्णमिति ।

ननु तह्यपसिद्धान्तापातः । दोषाभावात्मकातिरिक्तहेत्वभ्युपगमेन फलतः परतस्त्वाभ्युपगमात् इति शङ्कां निराकरोति—

न चैवं परतस्त्वम् । आगन्तुकभावकारणापेक्षायामेव परतस्त्वात् ।

एवं = दोषाभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे । आगन्तुकं सत् भावात्मकं यत्कारणं तदपेक्षायाम् = तस्य कारणत्वकल्पनायाम् । अयं भावः—न ज्ञानसामान्यसामग्रीभिन्नसामग्रीजन्यत्वमेव परतस्त्वम् । अपि तु ज्ञानसामान्यसामग्रीभिन्नागन्तुकभावात्मककारणजन्यत्वम् । प्रकृते दोषाभावस्य भावत्वाभावेन तज्जन्यत्वेऽपि न परतस्त्वापत्तिः । न चागन्तुकपदव्यर्थतेति वाच्यम् । घटादिप्रमायां अविद्यात्मकदोषजन्यत्वसत्त्वेन तत्राव्याप्त्यापत्तेः । आगन्तुकपददाने च तस्याः आगन्तुकत्वाभावेन दोषानवकाशात् ।

प्रामाण्यस्य उत्पत्तौ स्वतस्त्वमुक्तवा ज्ञप्तौ तमाह—

ज्ञायते च प्रामाण्यं स्वतः ।

प्रामाण्यं स्वतः ज्ञायते च इत्यन्वयः । ज्ञप्तौ स्वतस्त्वं तु ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम् । अयं भावः—"अयं घटः" इत्यादिप्रमाज्ञाने जाते, "इदं ज्ञानं प्रमा" इति प्रमात्वनिश्चयः परक्षण एव सर्वत्र ज्ञानग्राहकसामग्र्या सञ्जायते, आहोस्वित् अतिरिक्तां सामग्रीमपेक्ष्य कालान्तरे सञ्जायते इति विप्रतिपत्तिः । तत्र न परक्षणे एव प्रमात्वनिश्चयः, अपि तु ज्ञानजन्यप्रवृत्तिसाफल्यमवलोक्य पश्चात् "इदं ज्ञानं प्रमा" इति प्रमात्वनिश्चयो भवतीति नैयायिकवैशेषिकादीनां मतम् । तन्न युक्तम् ज्ञानभासकसामग्र्यैव प्रमोत्पत्तिपरक्षण एव हि भवत्यसौ निश्चयः । अन्यथा रजतार्थिनः इदं रजतमिति निश्चयोत्तरमेव समुपलभ्यमाना तत्प्रवृत्तिरनुपपन्ना स्यात् इति ।

ननु किं नाम स्वतो ग्राह्यत्वमित्याकांक्षायामाह—

स्वतो ग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम् ।

स्वं = प्रमात्वम्, स्वाश्रयः = प्रमात्वनिश्चयः, तस्य ग्राहिका या यावती सामग्री तद्ग्राह्यत्वमित्यर्थः । सामग्रीपदं कारणमात्रपरम् । तेन न यावत्पदवैयर्थ्यम् ।

एतदेव विवृणोति—

स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानं तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेन वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं प्रामाण्यमपि गृह्यते ।

तेन = साक्षिज्ञानेन । वृत्तिज्ञाने = प्रमाज्ञानात्मकवृत्तौ । प्रामाण्यम् = प्रमात्वम् । गृह्यते = ज्ञायते । **अयं भावः—रजते शुक्तिकायां वा यदा "इदं रजतम्" इति साक्षात्कारो भवति केषांचित् तदा तदव्यवहितोत्तरमेव जायमानां रजतार्थिनां प्रवृत्तिः न शक्या अपलपितुम् । न च स्वकीये "इदं रजतम्" इति ज्ञाने अगृहीतप्रामाण्यकस्य सन्दिग्धप्रामाण्यकस्य वा कस्यापि भवितुमर्हति प्रवृत्तिस्तादृशी । ज्ञानप्रामाण्यसंशयस्य विषयसंशयपर्यवसन्नतया विषयसंशयदुर्निवारत्वात् । संशयस्थले च निष्कम्पप्रवृत्त्यदर्शनात् । तस्मात् भवति ज्ञानग्रहणसमकालमेव ज्ञानग्राहकसामग्र्यैव च ज्ञानप्रमात्वनिश्चय इति ।**

नन्वनभ्यासदशापन्नज्ञानस्थले दृश्यते खलु ज्ञाने प्रामाण्यसंशयः—इदं ज्ञानं प्रमा न वेति । यः खलु पश्चात् विलोक्य प्रवृत्ति विसम्वादिनी समपसरति । ज्ञानज्ञानेन सहैव च प्रमात्वज्ञाने नासौ युज्यते कथमपि । निश्चयोत्तरं संशयानुत्पादात् इत्याशंकां निषेधति—

न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः तत्र संशयानुरोधेन दोषस्यापि सत्त्वेन दोषाभावघटितस्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र प्रामाण्यस्यैवाग्रहात् ।

एवं = प्रामाण्यसंशयस्य स्वतस्त्वे । प्रामाण्यस्य संशयः प्रामाण्यसंशयः, तस्यानुपपत्तिः प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः । तत्र = प्रामाण्यसंशयस्थले । दोषस्य यः अभावः तद्घटितो यः स्वाश्रयस्य = प्रमात्वाश्रयस्य ग्राहकः तदभावेन । अग्रहात् = ग्रहाभावात् । **अयं भावः—ज्ञानग्राहकसामग्रीतोऽधिको दोषाभावोऽपि ज्ञानगतप्रमात्वग्रहे अपेक्षितः । प्रामाण्यसंशयस्थले तु संशयात्मकस्याप्रमाज्ञानस्य जननाय दोषास्तित्वमप्यपेक्षितम्, इति दोषाभावादेव न तत्र प्रमात्वनिश्चयः । इति नानभ्यासदशापन्नज्ञानस्थले प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः ।** दोषाभावस्याधिकस्यापेक्षणेऽपि यथा न स्वतस्त्वहानिः तथा प्रदर्शितं प्रागेव ।

उपायान्तरमाह—

यद्वा यावत्स्वाश्रयग्राहक-ग्राह्यत्व-योग्यत्वं स्वतस्त्वम् । संशयस्थले प्रामाण्यस्योक्तयोग्यतासत्त्वेऽपि दोषवशेनाग्रहात् न संशयानुपपत्तिः

यावता स्वाश्रयग्राहकेण यत् ग्राह्यत्वं तद्योग्यत्वमित्यर्थः । स्वं = प्रमात्वम् । प्रामाण्यसंशयस्थले दोषस्य संशयसम्पादकतया अपेक्षितत्वेन दोषाभावाभावेन स्वाश्रयग्राहके यावत्वाभवेन योग्यताया दुर्वारत्वेऽपि न प्रामाण्यनिश्चय इति न प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिरिति ।

ननु तर्हि प्रमात्वाप्रमात्वयोरुभयोः ज्ञाननिष्ठत्वाविशेषात् अप्रमात्वमपि किं न स्वतः समुत्पन्नं भवेत् । ओमित्युक्तौ अप्रमात्वोत्पादात् तज्ज्ञानाच्च ।

इत्याशङ्कां निराकर्तुमाह—

अप्रामाण्यं तु न ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम् प्रमायामप्यप्रामाण्यापत्तेः । किन्तु दोषप्रयोज्यम् ।

अप्रामाण्यं=अप्रमात्वम् । ज्ञानस्य या सामान्या सामग्री तत्प्रयोज्यं न । अपि तु अधिकसामग्रीप्रयोज्यमित्यर्थः । अन्यथा सर्वत्र ज्ञानस्याप्रमात्वापत्तिः । "किन्तु" इत्यादिना किमधिकमपेक्षितमिति शंका निराकृता ।

केवलमुत्पत्तावेव ज्ञाने अप्रमात्वस्य परतस्त्वम्, आहोस्वित् ज्ञप्तावपीत्याकाङ्क्षायामाह—

नाप्यप्रामाण्यं यावत्स्वाश्रयग्राहक-ग्राह्यत्वम् ।

यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यमपि नेति सम्बन्धः । ग्राहकान्तरमप्यपेक्षितमिति भावः ।

कुतो न तथेति जिज्ञासायामाह—

अप्रामाण्यघटकतदभावावेदेः वृत्तिज्ञानानुपनीतत्वेन साक्षिणा गृहीतुमशक्यत्वात् ।

अप्रामाण्यं=तदभाववति तत्प्रकारकत्वं, तद्घटकः तदभावादिः, तस्य। आदिपदेन तत्प्रकारकत्वपरिग्रहः। साक्षिणा अन्तःकरणोपहितचैतन्येन। गृहीतुं=विषयीकर्त्तुम्। अयमाशयः - यत् अन्तस्तद्धर्मप्रातिभासिकभिन्नं अन्तःकरणवृत्त्या विषयीक्रियते तदेव अन्तःकरणोपहितचैतन्यात्मकेन साक्षिणा विषयीक्रियते इति नियमः। सति चैवं अन्तःकरणवृत्त्यविषयस्य तदभाववत्त्वादेः गृहणं न साक्षिसाध्यम्। अतः तदभाववत्त्वादिघटितं अप्रमात्वमपि साक्ष्यभास्यमेवेति न ज्ञप्तौ अपि स्वतस्त्वमप्रमात्वस्येति।

तर्हि कथं तस्य गृहणम् इत्याकांक्षायामाह—

विसम्वादिप्रवृत्त्यादिलिंगकानुमित्यादिविषयः इति परत एवाप्रामाण्यमुत्पद्यते ज्ञायते च।

विसम्वादिनी या प्रवृत्तिः, तदादिर्लिंगिका या अनुमितिः, तदादिविषयः इत्यर्थः। "विमता प्रवृत्तिः अप्रमाजन्या विसम्वादित्वात्" इत्याद्यनुमित्या विषयीक्रियते इति भावः। परत एवेत्यादिरुपसंहारपरः।



विषयपरिच्छेद-भगवती

जीवब्रह्मैक्यात्मकविषयनिरूपणाय, निरूपितस्य विभक्तस्य प्रमाणस्य प्रकारान्तरेण विभागमाह—

एवं निरूपितानां प्रमाणानां प्रामाण्यं द्विविधं व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वं पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वं चेति ।

निरूपणविषयतां प्रापिताः=निरूपिताः, तेषाम् । प्रमाणाना=प्रत्यक्षाद्यनुपलब्धिपर्यन्ताना । प्रामाण्यं=प्रमाकरणत्वम् । व्यावहारिकं यत् तत्त्वं=वस्तु, तस्य यत् आवेदकं = ज्ञापकं, तत् व्यावहारिकतत्त्वावेदक, तस्य भावः तत्त्वम् । व्यावहारिकत्वञ्च व्यवहाराय स्वीकृतत्वम् । एवं पारमार्थिकतत्त्वेत्यत्रापि बोध्यम् । पारमार्थिकत्वं त्रिकालाबाध्यत्वम् । प्रामाण्यस्य द्वैविध्ये प्रमाणद्वैविध्यं कैमुतिकन्यायसिद्धम् । **अयं भावः—द्विविधः खलु पदार्थः ब्रह्मज्ञानबाध्यस्तदबाध्यश्च । तमःप्रकाशयोरिव विरुद्धयोरेतयोः ख्यापकेन प्रमाणेनापि वैलक्षण्यवताभाव्यम् इति द्विविधं प्रामाण्यमभ्युपेयम् । तत्र यत्प्रमाणं जीवब्रह्मैक्यस्य यथार्थवस्तुनः ख्यापकं तत्पारमार्थिकतत्त्वावेदकम् । अतस्तत्त्वरूपं प्रामाण्यं तत्र । यच्च घटपटादिव्यवहारकल्पितपदार्थख्यापकं तद्व्यावहारिकतत्त्वावेदकम् । अतस्तत्वरूपं तत्रेति ।**

विशेषतो लक्ष्यजिज्ञासायामाह—

तत्र ब्रह्मस्वरूपावगाहिप्रमाणव्यतिरिक्तानां सर्वप्रमाणानां आद्यं प्रामाण्यम् । तद्विषयाणां व्यवहारदशायां बाधाभावात् । द्वितीयं तु जीवब्रह्मैक्यपराणां सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यादीनां तत्त्वमसीत्यन्तानाम् । तद्विषयस्य कालत्रयाबाध्यत्वात् ।

तत्र=द्वयोः प्रामाण्ययोर्मध्ये । ब्रह्मस्वरूपं अवगाहन्ते=प्रमेयत्वेन विषयीकुर्वन्ति यानि प्रमाणानि, तद्व्यतिरिक्तानां = तद्भिन्नानाम् । आद्यं = व्यावहारिकतत्त्वावेदकत्वरूपम् । तद्विषयाणां = तत्प्रमेयाणाम् = ब्रह्मभिन्नत्वेन गृह्यमाणानामिति यावत् । द्वितीयं = पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वम् । जीवब्रह्मणोः यत् ऐक्यं = अभेदः तत्पराणाम् = तत्ख्यापकानाम् । "सदेवे" त्युपक्रमवाक्यं "तत्त्वमसी" ति च

उपसंहारवाक्यम् । तद्विषयस्य = निरूक्तोपक्रमोपसंहारवच्छ्रुतिवाक्यबोध्यस्य जीव-ब्रह्मैक्यस्य । कालत्रयाबाध्यत्वात् = भूतवर्तमानभविष्यत्कालेपु बाधाविपयत्वात् । **अयं भावः—त्रिविधः खलु सत्पदार्थः प्रातीतिको व्यावहारिकः पारमार्थिकश्च । प्रातीतिको रज्जुसर्पादिः, व्यावहारिको घटादिः, पारमार्थिकः जीवाभिन्नं ब्रह्म । तत्र जीवाभिन्नस्य ब्रह्मणः कस्मिन्नपि काले बाधाभावेन पारमार्थिकसत्यता । तत्त्वव्यापिका सोपक्रमोपसंहारा श्रुतिः पारमार्थिकतत्त्वावेदकं प्रमाणम् । ब्रह्मभिन्नानां तु सर्वेषां अहं ब्रह्मास्मीति परमवृत्त्याबाधेन पारमार्थिकत्वाभावात् तत्त्वव्यापकं प्रत्यक्षादिप्रमाणं अपारमार्थिकतत्त्वावेदकमिति ।** व्यावहारिक-तत्त्वावेदकत्वमित्यत्र व्यावहारिकपदं अपरमार्थिकपरं बोध्यम् । तेन न प्रातीतिकस्य प्रमाणान्तरवेद्यत्वशङ्का ।

जीवब्रह्मैक्यनिर्णयप्रयोजकीभूत – तत् त्वं पदार्थशोधनाय भूमिका-मारचयति—

तच्चैक्यं तत्त्वं पदार्थज्ञानाधीनम् इति प्रथमं तत्पदार्थो लक्षण-प्रमाणाभ्यां निरूप्यते ।

तच्चैक्यं = जीवब्रह्मैक्यम् । तत् त्वं पदयोः यौ अर्थौ, तयोः यत् ज्ञानं, तदधीनमित्यर्थः । प्रथमं = पूर्वम् । तत्पदार्थः = तत्त्वमसीत्यत्र तत्पदस्यार्थः । निरूप्यते = अध्येतृज्ञानानुकूलव्यापारविषयः क्रियते इत्यर्थः । **अयमाशयः—मोक्षाय अविद्यानिवृत्तिरपेक्षिता । तस्यै च जीवब्रह्मैक्यज्ञानमपेक्षितम् । तच्च तत्त्वमसीति महावाक्यार्थबोधसापेक्षम् । स च त्वं पदार्थज्ञानसापेक्षः । तच्च ज्ञानानुकूलव्यापारसापेक्षम् इति विधीयते खल्वसौ व्यापार इति ।**

लक्षणप्रमाणाभ्यामित्युक्तं तत्र विभागपूर्वकं लक्षण-लक्षणमाह—

तत्र लक्षणं द्विविधं स्वरूपलक्षणं तटस्थलक्षणं चेति तत्र स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूपलक्षणम् । यथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्यादिकं स्वरूप-लक्षणम् ।

तत्र = लक्षणप्रमाणयोर्मध्ये । तत्र = लक्षणयोर्मध्ये । स्वं = लक्ष्यम्, तद्रूप-मेव = तदात्मकं सदेव यल्लक्षणं = ज्ञापकं भवति, तत्स्वरूपलक्षणमिति भावः ।

इत्यादिकं = इति श्रुतिप्रतिपाद्यं सत्यज्ञानादिकम् । स्वरूपलक्षणं ब्रह्मण इति शेषः । अयं भावः—यत् तत्त्वतो न भिद्यते लक्ष्यात् किन्तु काल्पनिकधर्माभावापन्नं सत् लक्ष्यस्य परिचायकं भवति, तत्स्वरूपलक्षणम् । यथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "आनन्दं ब्रह्म" इत्यत्र सत्यादिकं न ब्रह्मणो भिन्नं तन्मात्रस्यैव सत्पदार्थत्वात् । किन्तु तादात्म्येन तदादेः ब्रह्मण्येव सत्त्वं नाब्रह्मणि व्यावहारिके प्रातिभासिके वा कस्मिंश्चिदिति भवति तदादिकं लक्षणं ब्रह्मणः इति ।

नन्वसाधारणधर्मत्वस्यैव लक्षणलक्षणतया तद्वृत्तित्वस्यैव तद्धर्मत्वतया स्वस्य स्वस्कन्धरारोहणमिव स्वस्य स्ववृत्तित्वमसम्भवीति कृत्वा कथमेकस्यैव लक्ष्यलक्षण-भावः ? इत्याशङ्क्य निषेधति—

ननु स्वस्य स्ववृत्तित्वाभावे कथं लक्षणत्वमिति चेत् न स्वस्यैव स्वापेक्षया धर्मधर्मिभावकल्पनया लक्षणत्वसम्भवात् ।

स्वस्मिन् वृत्तित्वाभावः स्ववृत्तित्वाभावः, तस्मिन् स्वस्य कथं लक्षणत्वमित्य-न्वयः । एवकारः अप्यर्थकः । धर्मधर्मिभावो धर्मत्वं धर्मित्वं च । तत्कल्पना = तदारोपः । अयं भावः—न कोऽपि स्वकन्धमारोहतीति सत्यम् । परन्तु प्रमेयत्व-वाच्यत्वादेः केवलान्वयित्वमिच्छता प्रतिवादिनाऽपि कथंचित् कुत्रचित् स्वस्य स्ववृत्तित्वमभ्युपेयम् । अन्यथा प्रमेयत्वादेः जगदन्तःपातिप्रमेयत्वाद्यवृत्तितया समग्रजगदवृत्तित्वेन केवलान्वयित्वव्याकोपो दुर्वारः स्यात् । सति चैवं सत्यस्यापि सत्यात्मकब्रह्मवृत्तित्वमुपपद्यत एव कथञ्चित् इति नानुपपद्यते स्वासाधारणधर्मत्वं स्वस्येति लक्ष्यलक्षणभावो नानुपपन्न इति ।

अर्थेऽस्मिन् पञ्चपादिकासम्मतिमाह—

आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवाभासन्ते इति ।

चैतन्यात् अपृथक्त्वेऽपि पृथक् इव अवभासन्ते इति आनन्दः विषयानुभवः नित्यत्वं च भवन्ति धर्माः इत्यन्वयः । चैतन्यस्येति शेषः । अपृथक्त्वेऽपि =

तत्त्वतः अभेदेऽपि। पृथक् इव = भिन्ना इव। इव शब्देन धर्मधर्मिभावस्य काल्पिनिकत्वद्योतनम्।

द्वितीयं तटस्थलक्षणमाह—

तटस्थलक्षणं नाम यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति यद् व्यावर्त्तकं तदेव।

तटस्थं सत् लक्षणं तटस्थलक्षणम्। ताटस्थ्यस्यैव हि विवरण यावल्लक्ष्यकाल-मनवस्थितत्वम्। तच्च लक्ष्यतावच्छेदकाधिकरणे विद्यमानाभावप्रतियोगित्वं बोध्यम्। व्यावर्त्तकत्व = इतरभेदानुमापकत्वम्।

उदाहरणमाह—

यथा गन्धवत्त्वं पृथिवीलक्षणम्। महाप्रलये परमाणुषु, उत्पत्तिकाले घटादिषु च गन्धाभावात्।

पृथिवीलक्षणं = पृथिव्यास्तटस्थलक्षणम्। महाप्रलये = महाप्रलयावच्छेदेन। उत्पत्तिकाले = उत्पत्तिकालावच्छेदेन। लक्ष्यतावच्छेदकस्य पृथिवीत्वस्याधिकरणे परमाणौ उत्पत्तिकालावच्छेदेन महाप्रलयावच्छेदेन च विद्यमानः अभावः गन्धाभाव., तत्प्रतियोगित्वं गन्धवत्त्वे विद्यते। एव पृथिवी पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात् इतीतरभेदानुमितौ हेतुभूततया व्यावर्त्तकत्वमपि विद्यते इति लक्षणसमन्वयः। उत्पत्तिकाले घटादौ निष्क्रिय च तिष्ठतीति नियमेन नैयायिकादिभिरप्यभ्युपगम्यत एव। एतेन महाप्रलयानभ्युपगमेऽपि न क्षतिः।

तत्पदार्थावगमाय तत्तटस्थलक्षणमाह—

प्रकृते च जगज्जन्मादिकारणत्वम्।

प्रकृते = तत्पदार्थावगमस्थले। जगतः जन्मादि जगज्जन्मादि, तस्य कारणत्वं, जगज्जन्मादिकारणत्वम्। तत्पदार्थस्य ब्रह्मणः तटस्थलक्षणमिति शेषः। आदिपदेन

स्थितिप्रलययोः संग्रहः । तथा च जगज्जन्मकारणत्वं, जगत्स्थितिकारणत्वम्, जयल्लयकारणत्वञ्च ब्रह्मणः तटस्थलक्षणत्रयं बोध्यम् । विशिष्टस्य लक्षणत्वे वैयर्थ्यात् । लक्ष्यतावच्छेदकाधिकरणे ब्रह्मणि तत्त्वतः जगज्जन्मादिकारणत्वाभावेन, तत्प्रतियोगित्वस्य, जगज्जन्मादिकारणत्वे सत्त्वात् लक्षणसमन्वयः ।

ननु जगत्पदस्य जङ्गमवाचितया ब्रह्मणि स्थावरकारणत्वानुपपत्तिः । तथा च तस्याकाल्पनिकत्वेन द्वैतापत्तिः, अत आह—

जगत्पदेन कार्यजातं विवक्षितम् ।

कार्यजातं = कार्यसमुदायः । तथा च स्थावराणामपि कार्यकोटिप्रविष्टतया नोक्तदोषः ।

नन्वविद्याया जगत्परिणामिन्यामतिव्याप्तिः । परिणामित्वरूपस्य कारणत्वस्य तत्रापि सत्त्वात् । अत आह—

कारणत्वं च कर्त्तृत्वं अतोऽविद्यादौ नातिव्याप्तिः ।

आदिपदेन कालादृष्टपरिग्रहः । अयं भावः — अविद्यादिषु परिणामित्वरूपकारणत्वसत्त्वेऽपि जगत्कर्त्तृत्व तत्र नास्तीति नोक्ततटस्थलक्षणातिव्याप्तिः ।

ननु न परिणामित्वादन्यत् किञ्चित् कर्त्तृत्वम्, पुरुषस्य पुष्करपलाशनिर्लेपतया प्रधानस्यैव परिणामित्वात् कर्त्तृत्वाच्च । तथा चातिव्याप्तिस्तदवस्थैव । इति साङ्ख्योक्तनिरासायाह—

कर्त्तृत्वञ्च तत्तदनुकूल - तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम् ।

चस्त्वर्थे । तत्तत्पदेन तत्तत्कार्यपरिग्रहः । उपादानगोचरः यत् अपरोक्षज्ञानं, या चिकीर्षा, या च कृतिः तत्तद्वत्त्वमर्थः । उपादानपदेन परिणामिकारणं ग्राह्यम् । तेन नासङ्गतिः । **ज्ञानेच्छाकृतीनां अजडधर्मतया प्रधानतेषामभावेन तत्र नातिव्याप्तिरिति भावः** । अथवा कार्यानुकूलकृतिमत्त्वमवेहि कर्त्तृत्वम् । तत्त्वाहृष्टद्वारा जीवस्यापि सम्भवति इति नेश्वरस्य तत्तटस्थलक्षणमिति सुवचम् ।

अन्तःकरणावच्छिन्ने तत्प्रतिबिम्बरूपे वा जीवेऽपि गतत्वात् इति नैयायिकोक्ति-निरासायैव कर्तृत्वञ्चेत्यादिग्रन्थावतारः। कर्तृत्वस्य चैतादृशनिरुक्तौ नोक्तदोषः। असर्वज्ञे जीवे जगदुपादानपरमाण्वादिगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षा-प्रयत्नानामभावात्। चिकीर्षा कर्तुमिच्छा। कृतिः प्रयत्नः। न च योगिजीवेऽतिव्याप्तिः। तेषां सर्वज्ञतया तथा सम्भवादिति वाच्यम्। तेषामप्य-सर्वज्ञत्वात्। न च योगागमविरोधः, तत्र सर्वज्ञपदेन ज्ञानाधिक्यमात्रस्य विवक्षितत्वात्। निरतिशयस्य सर्वज्ञस्य तैरपि परमेश्वर एवाभ्युपगमात्।

ननु निरुक्तं कर्तृत्वं उपादानगोचरापरोक्षज्ञानादिविनाऽनुपपन्नम्। तेषाञ्च ईश्वरेऽपि सद्भावे प्रमाणाभावः इत्याशङ्कायामाह—

ईश्वरस्य तावदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानसद्भावे "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" "यस्य ज्ञानमयं तपः" "तस्मादेतन्नामरूपमन्नं च जायते" इत्यादि श्रुतिर्मानम्।

तावदिति वाक्यालङ्कारे। उपादानगोचरः = परिणामिविषयकं यत् अपरोक्षज्ञानम् साक्षात्कारः, तस्य यः सद्भावः = अस्तित्वं, तस्मिन्। इत्यादि श्रुतिर्मानमिति सम्बन्धः। यः = परमेश्वरः। सर्वज्ञः = विशेषेण सर्व-विषयकज्ञानवान्। तस्मात् नामरूपे समुत्पद्यते इति श्रुतिभावार्थः। मानं= प्रमाणम्।

नन्वास्तां तथाविधं ज्ञानम्। चिकीर्षासद्भावे तस्य किं प्रमाणम्? इत्याकांक्षायामाह—

तादृशचिकीर्षासद्भावे च "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतिर्मानम्।

तादृशचिकीर्षा = उपादानविशेष्यकचिकीर्षा। सः = आत्मा अकामयत्। तद्ब्रह्मकामनां कृतवत्। "बहुस्यां प्रजायेय" इति कामनाऽऽकारः। "बहुस्यां" इत्यस्यैव विवरणं प्रजायेय इति। प्रजारूपेण बहुभवनेच्छारूपा चिकीर्षा परमेश्वरस्यास्तीति भावः।

कृतिमद्भावे मानमाह—

तादृशकृतौ च "तन्मनोऽकुरुत" इत्यादि वाक्यम् ।

तादृशकृतौ = उपादानविशेष्यककृतौ । वाक्यमित्यनन्तर मानमित्यनुषंगः ।

नन्वेव सति जगदुत्पत्त्यनुकूलजगदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्व, जगत्स्थित्यनुकूलतदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्व, जगद्भङ्गानुकूलजगदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्व ब्रह्मण. तटस्थलक्षणानीति स्थितम् । तत्र केवलमुपादानगोचरापरोक्षज्ञानघटितलक्षणसम्भवे चिकीर्षाकृत्योर्निवेशः कथ न व्यर्थः ? इत्याकाक्षायामाहेप्टापत्तिम्—

ज्ञानेच्छाद्यन्यतमगर्भ लक्षणत्रितयं विवक्षितम् । अन्यथा व्यर्थविशेषणत्वापत्तेः । अत एव जन्मस्थितिध्वंसानां अन्यतमस्यैव लक्षणे प्रवेशः । एवञ्च लक्षणानि नव सम्पद्यन्ते ।

आदिना कृतिसंग्रहः । ज्ञानेच्छाद्यन्यतमत्व = "ज्ञानं न" "इच्छा न" "कृतिर्न" इत्याकारकभेदकूटावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम् । चरमभेदाकारस्तु "ज्ञानं न, इच्छा न, कृतिर्न इति भेदकूटवान्न" इति रूपो बोध्यः अन्यतमगर्भ = अन्यतमघटितम् । व्यर्थविशेषणत्वापत्तेरित्यनन्तर लक्षणस्येति शेषः । तथा च नीलधूम इव व्याप्यत्वासिद्धतया इतरभेदाननुमापकत्वेन लक्षणत्वमेव न स्यात् इति भावः । अत एव = व्यर्थविशेषणत्वादेव । ध्वंसानामित्यत्र षष्ठीसप्तम्यर्था । एवञ्च = अन्यतमस्यैव लक्षणे प्रवेशे च । नव = नवत्वसंख्यावन्ति । ज्ञानेच्छाकृतिभेदेन उत्पत्तिघटितानि त्रीणि, इति त्रयाणां त्रिगुणितत्वेन नवत्वम् । तथाहि—जगदुत्पत्त्यनुकूलजगदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानवत्वमित्येकम् । जगदुत्पत्त्यनुकूलजगदुपादानगोचरचिकीर्षाश्रयत्वं द्वितीयम् । जगदुत्पत्त्यनुकूलजगदुपादानगोचरकृत्याश्रयत्वं तृतीयम् । तथा जगत्स्थित्यनुकूलजगदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानवत्त्वमित्येकम् । जगत्स्थित्यनुकूलजगदुपादानगोचरचिकीर्षाश्रयत्वम् द्वितीयम् । जगत्स्थित्यनुकूलजगदुपादानगोचरकृत्याश्रयत्वम् तृतीयम् । एवं जगद्भङ्गानुकूलजगदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानाश्रयत्वं प्रथमम् । जगद्भङ्गानुकूलजगदुपादानगोचरचिकीर्षाश्रयत्वं द्वितीयम् । जगद्भङ्गानुकूलजगदुपादानगोचरकृत्याश्रयत्वं तृतीयम् । एवं नवत्वम् । उपादानत्वं त्वत्र नाध्यासाधिष्ठानत्वं अपि तु साक्षात्परिणामित्वम् ।

ननु ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वमेव निष्प्रामाणिकमिति कथं तद्घटितलक्षणसिद्धिः ? इत्याशंका निरसितुमाह—

ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वे च "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसम्विशन्ति" इत्यादि श्रुतिर्मानम् ।

"तद्विजिज्ञासस्व" "तद्ब्रह्म" इति तदोः "यतो वे"ति यत्पदसम्बन्धः। इमानि = प्रत्यादिविषयाणि । जायन्ते = उत्पद्यन्ते । जीवन्ति = स्थितिमन्ति भवन्ति । अभिसम्विशन्तीति प्रयन्तीत्यस्यैव व्याख्यानम् । तत्प्रयोजनं त्वारम्भवादानभिप्रेतता-सूचनमवसेयम् । तथा च वाक्यशेषानुसारेण जायन्ते इत्यस्यापि विवर्त्तन्ते इत्यर्थ एव कर्त्तव्य इति स्पष्टीकर्त्तुम् ।

ननु यतो वा इमानीत्यत्र पञ्चम्यर्थो हेतुत्वम्, तत्, निमित्तत्वमुपादनत्वं वा ? आद्ये अपसिद्धान्तः। द्वितीये असिद्धिः । परमाणोः मूलप्रकृतेर्वा जगदुपादानत्वात् इत्याकाक्षायामाह—

यद्वा निखिलजगदुपादानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम् ।

यद्वा = अथवा । निखिलस्य = अखण्डस्य, जगतः = प्रपञ्चस्य, यत् उपादानं = तत्त्वम् । परमाणुप्रकृत्योः तत्त्वनिरासाय निखिलपदम् । **निखिलजगदन्तःपात्वसम्भवेऽपि निखिलजगपादानत्वसम्भवेऽपि निखिलजगदुपादानत्वं तत्र तत्र नास्ति इति भावः ।** अथवा················आकाशादेव············जायन्ते, आकाशं प्रत्यस्त यन्तीति श्रुतिबलेन प्रसिद्धो भूताकाश एव जगदुपादानमिति कथं तत्त्वं ब्रह्मणो लक्षणमिति भ्रान्तिनिरासाय निखिलपदम् । भूताकाशस्य जगदन्तःपातिनं भूताकाशं प्रति हेतुत्वासम्भवेन तत्र निखिलजगदुपादानत्वमसम्भवि । इत्यतो ब्रह्मण एव तल्लक्षणमिति भावः ।

ननु जगदुपादानत्वं न तत्परिणामित्वमपसिद्धान्तापातात् । भर्तृप्रपञ्चादिकतिपयैकदेशिमतसिद्धस्यापि तस्य भाष्यकारादिभिर्निराकरणात् । न च समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरुपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न कारणत्वं तत् । समवायाद्यनभ्युपगमात् । इत्याशंकायामाह—

उपादानत्वञ्च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम् ।

जगत: = नामरूपात्मकस्य प्रपञ्चस्य य: अध्यास: = आरोपज्ञानं तदधिष्ठानत्वं तदाश्रयत्वम् । श्रौतसिद्धान्ते कुड्यादे: चित्राधारत्वमिव ब्रह्मण एव जगत्कल्पनाधारत्वमिति भवति तत्र लक्षणसमन्वय: । अम्बरान्तधारणसामर्थ्यस्य अन्यत्राभावात् ।

नन्विदं लक्षणं ब्रह्मण: सर्वादिकमर्सावादिकं वा ? अन्त्ये कालविशेषमादायाव्याप्ति: । आद्ये च निखिलस्यैव नामरूपात्मकस्य जगत: अनादित्वाभ्युपगमापत्ति: । न चेष्टा सा, "जीव ईशो विशुद्ध चित् जीवेशयोर्भिदा । अविद्या तच्चितोर्योग: षडस्माकमनादय:" इत्यभियुक्तोक्तिविरोधात् । अवान्तरलयासद्भावप्रसङ्गाच्च । इत्यत आह—

जगदाकारेण परिणममानमायाधिष्ठानत्वं वा ।

जगदाकारेण = प्रपञ्चरूपतया, परिणममाना = प्रतिक्षणपरिणामिनी या माया, तस्या: अधिष्ठानत्वं = आश्रयत्वम् । "वा" विकल्पे । सिंहावलोकनेन "उपादानत्वमि"त्यनेन पूर्वेण सम्बन्ध: । मायाया अनादित्वन्तु निरुक्ताभियुक्तोक्तिसिद्धमेव । ब्रह्मणि मायाश्रयताऽपि "आश्रयत्वविषयत्वभागिनो निर्विभागचितिरेव केवला" इत्यभियुक्तोक्तिपरिपुष्टैव । **ब्रह्मणि समाश्रिता माया तत्तन्नामरूपाकारेण क्रमेण परिणमते इति तादृश्या मायाया आश्रयत्वं ब्रह्मणि विद्यते नान्यत्रेति नाव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवानां लक्षणदोषाणामवकाश:, इति भवति तादृगुपादानत्वं लक्षणं ब्रह्मण इति भाव:** । उपादानत्वञ्चेत्यत्रोपादानत्वं जगदुपादानत्वं बोध्यम् तेन नासङ्गति: ।

ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे श्रौतं प्रमाणमुपन्यस्यति—

एतादृशमेवोपादानत्वमभिप्रेत्य "इदं सर्वं यदयमात्मा" "सच्च त्यच्चाभवत्" "बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतिषु ब्रह्मप्रपञ्चयोस्तादात्म्यव्यपदेश: ।

एतादृशं = जगदध्यासाधिष्ठानत्वं जगदाकारेण परिणममानमायाधिष्ठानत्वं वा । यत् इदं सर्वं तत् अयमात्मा इत्यर्थ: । इदं = दृश्यमानं । सर्वं = बहुधाज्ञाय-

मानं प्रपञ्चवस्तु । सत् = सत्यम् । त्यत् = मिथ्या । च द्वयमप्यर्थकम् । अभवदित्यनन्तरं ब्रह्म इति शेषः । प्रजायेय = उत्पन्नो भवेयम् । ब्रह्म च प्रपञ्चश्चेति ब्रह्मप्रपञ्चौ तयोः । तादात्म्यस्य = ऐक्यस्य, अभेदस्येति यावत् । व्यपदेशः व्यवहारः । अयं भावः—"इद सर्वमि"ति श्रुत्योपदिश्यमानं ब्रह्मणः सर्वात्मत्वं न गच्छेत् संगतिम्, यदि न भवेद्ब्रह्म जगदध्यासाधिष्ठानम् । तत्त्वे तु शुक्तौ इदं रजतमितिवद्भवितुमर्हति तादात्म्यव्यपदेश इति । एवं सच्च त्यच्चेति प्रतिपाद्यमानं ब्रह्मणः उभयरूपभवनमपि त्यद्भूतप्रपञ्चोपादानत्वे एवं संगच्छते न भिन्नत्वे । कुविन्दः पटोऽभवदिति व्यपदेशाभावात् । बहुस्यामिति बहुभवनसंकल्पोऽपि ऐन्द्रजालिकस्य 'व्याघ्रो भवेयम्" "गजो भवेयम्" इत्यादि संकल्पवत् = ब्रह्मणो निरुक्तोपादानत्वकल्प एवावकल्पते । न तु निमितत्त्वकल्पे इति ।

श्रौतं व्यवहारं प्रमाणत्वेनोपन्यस्य लौकिकं तं तत्त्वेनाह—

घटः सन् घटो भाति घट इष्टः इत्यादि लौकिकव्यपदेशोऽपि सच्चिदानन्दरूपब्रह्मैक्याध्यासात् ।

इत्यादिः यो लौकिकः = लोककर्त्तृकः, व्यपदेशः = व्यवहारः, सोऽपि । सच्चिदानन्दरूपेण ब्रह्मणा यः ऐक्यस्य अध्यासः = आरोपः, तस्मात् । सच्चिदानन्दरूपेत्यत्र रूपपदस्य प्रत्येकमन्वयात् सद्रूपेण चिद्रूपेण आनन्दरूपेण चेत्यर्थः । अयं भावः— यदि ब्रह्मणो न भवेन्निरुक्तमुपादानत्वं तदा आत्मानमात्मनोऽध्यासाभावेन ब्रह्मणः सत्तामादाय "घटः सत्" इति तात्त्विकसत्त्वाभाववति घटे सत्त्वव्यवहारः, तच्चैतन्यांशमादाय जडे घटे "घटो भातीति" व्यवहारः तदानन्दांशमादाय अनानन्दे तत्र "घटः इष्टः" इति आनन्दरूपेष्टताव्यवहारः, कथं स्यात् ? भवति च तथेति ध्रुवमुपगन्तव्यं निरुक्तमुपादानत्व ब्रह्मणः । तथा चोपादानगततत्तदंशमादाय नानुपद्यते तथा व्यवहार इति । न च घटादावपि स्वीक्रियत एव सत्ताजातिः, तां तात्त्विकीमेवोपादाय भवितुमर्हति "घटः सन्" सत्त्वव्यवहारः । भातीत्यनेन च प्रोच्यते ज्ञानविषयता । सा च विद्यत एवेति तामुपादाय "घटो भाति" इत्यादि व्यवहारोऽपि सुसम्पाद एव । एवं इष्टत्वमिच्छाविषयता, सा च आनन्दत्वाभावेऽपि आनन्दजनकत्वेन घटादावबाधितैव इति तामुपादाय "घटः इष्टः" इत्यादि व्यपदेशोऽपि साधीयस्तयैव सम्पद्यते विनाऽपि

निरुक्तोपादानत्वं ब्रह्मणः, इति वाच्यम् । "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि श्रुति-विरोधात् । विषयविषयिभावस्य चाध्यासिकसम्बन्धातिरिक्तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । तथा हि घटादिनिष्ठविषयता स्वरूपसम्बन्धविशेषः, अतिरिक्तः पदार्थो वा । आद्ये आध्यासिकत्वम् स्वरूपस्थले सम्बन्धसम्बन्धिभावस्य काल्पनिकत्वात् । द्वितीये भानविगमकालेऽपि घटो भातीति व्यवहारापत्तिः । अतिरिक्तपदार्थरूपायाः तस्याः घटादौ सार्वदिकत्वात् । एवमेव "घट इष्टः" इत्यत्राऽपि बोध्यम् ।

शङ्कते—

नन्वानन्दात्मकचिदध्यासात् घटादरिष्टत्वव्यवहारे दुःखस्यापि तत्राध्यासात् तस्यापि इष्टत्वादिव्यवहारापत्तिः ।

आनन्दात्मकं चित् ब्रह्म, तस्य यः अध्यासः, तस्मात् । तत्र ब्रह्मणि । तस्यापि = दुःखस्यापि । **अयं भावः—ब्रह्मभिन्नं सर्वमेव वस्तु ब्रह्मणि अध्यस्तम् । अध्यास-मूलका एव च सर्वे व्यवहाराः इत्यभ्युपगमे दुःखमपि न तात्त्विकं अपि तु ब्रह्मणि अध्यस्तम् । अध्यासमूलक एव च दुःखस्यापि व्यवहारः इति वक्तव्यम् । तथा च "घट इष्ट" इति वत् "घटो दुःखम्" इत्यपि व्यवहारः सार्वलौकिकः स्यात् । ननु भवति तथा । तस्मान्नाध्यासमूलत्वं व्यवहारमात्रस्येति ।**

निषेधति—

इति चेन्न । आरोपे सति निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्या-रोप इत्यभ्युपगमेन दुःखादौ सच्चिदंशाध्यासेऽपि आनन्दांशाध्यासा-भावात् ।

आरोपे = अध्यासात्मके कार्ये । निमित्तस्य = आरोपकारणीभूतायाः अविद्यायाः अनुसरणं = कल्पनम् । निमित्तं = अध्यासात्मकं कार्यम् । सच्चि-दंशाध्यासेऽपि = सदंशाध्यासेऽपि चिदंशाध्यासेऽपि च । आनन्दांशस्याध्यासः आनन्दांशाध्यासः, तदभावात् । अंश इव अंशः न तत्त्वतः । ब्रह्मणो निरंशत्वात् । **अयं भावः—कार्याणाममायिकत्वपक्षे कारणेन कार्यकल्पनासम्भवेऽपि मायिकत्वपक्षेन तत्सम्भवः । मायाया दुर्गम्यतया तदसम्भवात् । अतस्तादृशस्थले कार्यदर्शनेनैव कारणकल्पनं न त्वन्यथा । प्रसिद्धं चैतत ऐन्द्रजालिकक्रीडास्थले । सति चैवं कार्य-**

मात्रस्य मायिकत्वं व्यवस्थापयतामस्माकं मते कार्यदर्शनेनैव कारणमनुमेयम् । प्रकृते च दुःखादौ इष्टत्वव्यवहारात्मकस्वकार्यस्याभावेन कारणीभूतस्यानन्दांशस्याभावः । तदभावेन तत्कारणस्याभाव एव स्वीकर्त्तव्यः न तु अध्यासः तत्कार्यभूतो व्यवहारो शक्य आपादयितुम् इति ।

प्रसङ्गादाह—

जगति नामरूपांशद्वयव्यवहारस्तु अविद्यापरिणामात्मकनामरूपसम्बन्धात् । तदुक्तम्—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥

इति ।

नामरूपे एव अंशद्वयं, तस्य = व्यवहार. = तज् ज्ञापकशब्दप्रयोग:, तज् ज्ञानं वा । अविद्याया: परिणामौ अविद्यापरिणामौ, तावेवात्मानौ स्वरूपे ययो: नामरूपयो:, तयो सम्भवात् इत्यर्थं । तदुक्तमित्यनन्तरं अभियुक्तै रिति शेष: । इति = एवं व्यपदिश्यमानम् । अंशपञ्चकम् = पञ्चत्वसख्यावन्त: अंशा: । आद्यं त्रयं = अस्ति-भाति-प्रियमिति । ब्रह्म रूप्यते अनेन इति ब्रह्मरूपं = ब्रह्मण: कल्पिता अशा: । जगद्द्वयं = जगत: अंशौ । ततो द्वयम् तदनन्तरवर्त्तिनी नामरूपे द्वे । **अयं भावः—घटः अस्ति घटः भाति, घटः इष्टः, घटस्य रूपम्, घटस्य नाम, इति भवन्ति व्यवहाराः सर्वैर्व्यावहारिकैः क्रियमाणाः । तत्र अस्तीत्यनेन ब्रह्मणः सदशः ख्याप्यते । भातीत्यनेन च तस्य चिदंशः ख्याप्यते । इष्टः इत्यनेन तस्य आनन्दांशः ख्याप्यते । रूपमित्यनेनाकारः, नाम इत्यनेन च वाचकः शब्दः । तत्राद्येन त्रयेण = सच्चिदानंदांशात्मकैः अस्ति भाति प्रियांशैः ब्रह्म रूप्यते । नामरूपाभ्यां तु जगत् । तेषां तत्स्वरूपलक्षणत्वात् इति ।** ब्रह्म रूप्यते = निरुप्यते अनेन इति ब्रह्मरूपम् । एवं जगद्रूपमित्यपि ।

ननु जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्मण. तटस्थलक्षणमित्युक्तम् । तत्र केन क्रमेण जगत: उत्पत्ति: ? किञ्च तत्र प्रमाणम् ? इत्याशङ्कायामाह—

अत्र जगतो जन्मक्रमो निरूप्यते । तत्र सर्गाद्यकाले परमेश्वरः सृज्यमानप्रपञ्चवैचित्र्यहेतुप्राणिकर्मसहकृतः सन् नामरूपात्मकनिखिलप्रपञ्चं बुद्धावाकलय्य "इदं करिष्यामि" इति सङ्कल्पयति । "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय, सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादिश्रुतेः ।

अत्र = इदानीम् । जन्मनः क्रमो जन्मक्रमः । जन्मप्रक्रियेति यावत् । निरूप्यते = बोधानुकूलव्यापारविषयः क्रियते । तत्र निरूपणप्रतिज्ञायां सत्याम् । सर्गस्य = सृष्टेः आद्यः कालः सर्गाद्यकालः, तस्मिन् । परमेश्वरः इति सङ्कल्पयतीत्यन्वयः । सृज्यमानः वर्त्तमानसृष्टिक्रियाविषयः यः प्रपञ्चः तस्य यत् वैचित्र्य = वैषम्यम्, तस्य हेतुः प्राणिकर्म = भोगादृष्टम्, तत्सहकृतः = तत्साहाय्यमावहन् । नाम च रूपं च नामरूपे, ते एव आत्मा = स्वरूपं, यस्य स नामरूपात्मकः । एतादृशो यो निखिलः = समग्रः प्रपञ्चः तम् । प्रथमं = सृष्टिप्राक्काले । बुद्धौ = ज्ञाने । आकलय्य = विषयत्वेनादाय । 'इदं करिष्यामि" इति सङ्कल्पाकारः । इदं = नामरूपात्मकं जगत् । बहु स्यां = बहु भवेयम् । इति अकामयत = कामनां चकार । इति श्रुत्यर्थः ।

सङ्कल्पस्यानन्तर किं वृत्तमित्याकाङ्क्षायामाह—

ततः आकाशादीनि पञ्चभूतानि अपञ्चीकृतानि तन्मात्रपदप्रतिपाद्यानि उत्पद्यन्ते ।

ततः = सङ्कल्पानन्तरम् । तन्मात्रपदप्रतिपाद्यानि अपञ्चीकृतानि आकाशादीनि पञ्चभूतानि उत्पद्यन्ते इत्यन्वयः । तन्मात्रपदेन = तन्मात्रेति शब्देन । प्रतिपाद्यन्ते = उच्यन्ते यानि, तानि तन्मात्रपदप्रतिपाद्यानि । तन्मात्रशब्दवाच्यानीत्यर्थः । वक्ष्यमाणविशेषप्रकारेण, परस्परं मिलितानि पञ्चीकृतानि । न पञ्चीकृतानि अपञ्चीकृतानि । आकाशादीत्यत्र आदिपदेन अनिलानलसलिलभूतलानि बोध्यानि । उत्पद्यन्ते = जायन्ते । **उत्पत्तिश्च व्यावहारिकी न पारमार्थिकी । तेन चारम्भवावादरो द्वैतापत्तिर्वा ।**

ननु तानि सगुणान्युत्पद्यन्ते निर्गुणानि वा ? सगुणानि चेत् किं गुणकानि ? इत्याकांक्षायामाह—

तत्राकाशस्य शब्दो विशेषगुणः । वायोस्तु शब्दस्पर्शौ । तेजसस्तु शब्दस्पर्शरूपाणि । अपां तु शब्दस्पर्शरूपरसाः । पृथिव्याः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ।

तत्र = आकाशादिषु मध्ये । गुण : = विशेषगुण :, तेन संख्यादिसामान्यगुणाव्यावृत्तिः । एवमन्यत्रापि । "वायोस्तु" इत्यत्र "तु"कारः केवल स्पर्शनिरासार्थकः एवमन्यत्रापि ।

ननु "शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सत्यकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात्" इत्यनुमानस्य बाधकस्य सत्वेन कथं वायोः शब्दस्पर्शौ इत्युक्तिसंगतिः इत्याशङ्कायामाह—

न तु शब्दस्य आकाशमात्रगुणत्वम् । वाय्वादीनामपि तदुपलम्भात् । न चासौ भ्रमः । बाधकाभावात् ।

केवलमाकाशः आकाशमात्रम् । तस्य गुणत्वं आकाशमात्रगुणत्वम् । आदिना अनिलानलसलिलभूतलानां परिग्रहः । तस्य उपलम्भः तदुपलम्भः = शब्दप्रत्यक्षम् तस्मात् । असौ = उपलम्भः । भ्रमः = पदार्थव्यभिचारिज्ञानम् । बाधकाभावात् अबाधितज्ञानाभावात् । अयं भावः—स्पष्टं साक्षात्क्रियत एव हि वेगवत्सु अनलसलिलभूतलेषु शब्दः । व्यावहारिकेषु प्रमाणेषु प्रत्यक्षस्य श्रैष्ठ्यमविवादमिति तेन बाधिततया न "शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः" इत्यादेर्निराभासता । साभासस्य च न कथञ्चित् साधकतेति । इदमुपलक्षणम् "नरशिरः कपालं शुचिप्राण्यङ्गत्वात् शंखवत् इत्यनुमानवत् निरुक्तानुमानस्य—

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः ।
यो यो यावद्गुणश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥

इति मानवेन वचनेन

"शब्दादिभि गुणैर्ब्रह्मन् संयुक्तान्युत्तरोत्तरे" इति विष्णुपुराणवचनेन च आगमबाधोऽपि बोध्यः ।

ननु सङ्कल्पानन्तरमपञ्चीकृतभूतोत्पत्तिरुक्ता, परन्तु भूतानां तेषामुत्पत्तिः कुतो भवति ? ब्रह्मणश्चेत् अपसिद्धान्तापातः । ब्रह्मपरिणामवादानभ्युपगमात् । इत्याशंकायामाह—

इमानि च भूतानि त्रिगुणमायाकार्याणि त्रिगुणानि ।

इमानि = अपञ्चीकृतानि । त्रिगुणात्मिका या माया तस्याः कार्याणि = परिणामानि भूतानि । त्रिगुणानि इति हि युक्तिप्रदर्शनम् । अयं भावः—एकमेव हि वस्तु केषाञ्चित्कृते सुखरूपं केषाञ्चित्कृते दुःखरूपम् । केषाञ्चित्तु मोहरूपम् इति सर्वजनप्रसिद्धम् । सति चैवं जगतस्त्रिगुणात्मकत्वे तत्कारणेनापि तत्सजातीयेनैव भवितव्यम् इति त्रिगुणात्मिका मायैव जगदात्मकस्य परिणामस्य परिणामिकारणम् इति ।

ननु के ते त्रयो गुणाः ? इत्यकांक्षायामाह—

गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि ।

सत्त्वं = सुखम् । रजः = दुःखम् । तमः = मोहः । यथोक्तमीश्वरकृष्णेन—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥

इति ॥

ननु तर्हि मन्ये सांख्योक्तजगदुत्पत्तिपद्धतिरेवाश्रिता वेदान्तिभिरपि इति भ्रमनिरासायाह—

एतैश्च सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैः व्यस्तैः यथाक्रमं श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणानि पञ्चेन्द्रियाणि जायन्ते ।

एतैः = अपञ्चीकृतैः । सत्त्वगुणोपेतैः = पञ्चभूतसत्त्वांशैः । यथाक्रमं आकाशेन श्रोत्रं वायुनात्वक् इत्त्येवं क्रमेण जायन्ते = उत्पद्यन्ते । तथा च

नास्माकं मते सांख्यसिद्धान्त इव समुत्पत्तिरिन्द्रियाणामहंकारात् भवतीति न सर्वथा सांख्यसिद्धान्तानुसरणम् इति भावः ।

ननु अन्तरिन्द्रियाणां उत्पत्तिस्तर्हि कुतो भवति इत्याकांक्षायामाह—

एतैरेव सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैर्मिलितैः मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि जायन्ते ।

एतैः = अपञ्चीकृतैः । सत्त्वगुणोपेतैः पञ्चभूतैरित्यस्यार्थः पूर्ववत् । तथा च मिलितैरपञ्चीकृतैः पञ्चभूतसत्त्वांशैः मनोबुद्ध्यहंकारचित्ताख्यानि चत्वार्यन्तः-करणानि समुत्पद्यन्ते इत्यर्थः । **अपञ्चीकृतपञ्चभूतसत्त्वांशपञ्चकान्तःपात्येकैक-सत्त्वांशेन चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियपञ्चकघटकैकेन्द्रियोत्पत्तिः । अपञ्चीकृतसत्त्वांश-पञ्चकेन समुदितेन अन्तरिन्द्रियचतुष्टयोत्पत्तिरिति विवेकः इति भावः ।**

ननु चेतनाधिष्ठितानामेवाचेतनानां किञ्चित्करत्वं सर्वानुभवसिद्धम् । सति चैवं किमधिष्ठितानि इन्द्रियाणि ज्ञानजननसमर्थानि ? इति जिज्ञासायामाह—

श्रोत्रादीनां पञ्चानां क्रमेण दिग्वातार्कवरुणाश्विनोधिष्ठातृदेवताः । मन आदीनां क्रमेण चन्द्रचतुर्मुखशंकराच्युताः अधिष्ठातृदेवताः ।

दिग्वायुसूर्यवरुणाश्विनीकुमाराः यथासंख्याः श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणानाम-धिष्ठातारः इत्यर्थ. । चतुर्मुखः = ब्रह्मा । शंकरः = शिवः । अच्युतो=विष्णुः । तथा मनसः चन्द्रः, बुद्धेः ब्रह्मा; अहंकारस्य शिवः । चित्तस्य विष्णुः अधिष्ठाता । तत्तदेवाधिष्ठितानि तत्तदिन्द्रियाणि स्वस्वकार्यभूतज्ञानोत्पादनक्षमानि भवन्ति इत्यर्थः । एतद्विषये प्रमाणजिज्ञासायाम्—

दिग्वातार्कप्रचेतोरिव वह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ।
चन्द्रो विष्णुः चतुर्वक्त्रः शम्भुश्च करणाधिपः ॥

इति भागवतवचनमवगन्तव्यम् ।

कर्मेन्द्रियाणि कुतः समुत्पद्यन्ते किमधिष्ठितानि च भवन्ति ? इति जिज्ञासायामाह–

एतैरेव रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैः यथाक्रमं वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि जायन्ते। तेषां च वह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युप्रजापतयोऽधिष्ठातृदेवताः।

एतैरेव = अपञ्चीकृतैरेव। रजोगुणोपेतैः पञ्चभूतैः = पञ्चभूतरजोंशैः। यथाक्रमं = यथासंख्यम्। वाक् च पाणी च पादौ च पायुश्च उपस्थं च वाक्पाणीपादपायूपस्थानि। कर्मेन्द्रियाणि = कर्मजनकानीन्द्रियाणि। वह्निश्च इन्द्रश्च उपेन्द्रश्च मृत्युश्च प्रजापतिश्च वह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युप्रजापतयः। अधिष्ठातारो देवताः अधिष्ठातृदेवताः। अयं भावः—अपञ्चीकृतवियदादिभूतपञ्चकरजोंशपञ्चकान्तःपातिना एकैकांशेन वागादिकर्मेन्द्रियान्तःपातिनः एकैकेन्द्रियस्य समुत्पत्तिर्भवति। यथा—तादृग्वियदंशेन वाचः, तादृग्वाय्वंशेन पाण्योः, तादृक्तेजोंशेन पादयोः, तादृक्तोयांशेन पायोः, तादृक्पृथिव्यंशेन उपस्थस्य समुत्पत्तिर्भवति। अधिष्ठाता च वाचो वह्निः, पाण्योरिन्द्रः, पादयोरुपेन्द्रः, पायोर्मृत्युः। उपस्थस्य प्रजापतिः, इति।

ननु यथा मिलितैः पञ्चभूतसत्त्वांशैः अन्तःकरणोत्पत्तिः तथा मिलितै रजोंशैः किमपि भवति न वा ? इति जिज्ञासायामाह—

रजोगुणोपेतैर्मिलतैः पञ्चवायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाख्याः जायन्ते।

मिलितरजोंशपञ्चकेन प्राणादीनां वायूनां जीवनकारणानां समुत्पत्तिः। रजोंशस्य वायुपञ्चकस्य च उभयोः क्रियाशीलत्वात्। सजातीययोरेव च कार्यकारणभावानुभवात्। प्राणादिकं विशेषतः परिचाययति–

तत्र प्राग्गमनवान् वायुः प्राणः नासादिस्थानवर्त्ती। अर्वाग्गमनवान् अपानः पाय्वादिस्थानवर्त्ती। विष्वग्गमनवान् व्यानः अखिलशरीरवर्त्ती। ऊर्ध्वगमनवान् उत्क्रमणवायुः उदानः कण्ठस्थानवर्त्ती। एवं अशितपीतान्नादिसमीकरणकरः समानः नाभिस्थानवर्त्ती।

तत्र = प्राणादिषु पञ्चसु । प्रागगमनवान् = अग्रदेशगमनवान् । अर्वाक् = अधोदेशः । विष्वक् = सर्वदिक्षु । अशितं = भक्षितम् । पीतं = पानविषयीकृतम् यत् अन्नादिकं, तेषां यत्समीकरणं = एकरूपतापादनम् तत्करोतीति अशितपीतान्नादिसमीकरणकरः । परिचायक इति यावत् । नाभिरेव स्थानं तद्वर्त्ती = तन्निष्ठः ।

ननु स्थूलपञ्चभूतोत्पत्तिः कुतः ? इत्याकांक्षायामाह–

एवं तैरेव तमोगुणोपेतैः अपञ्चीकृतभूतैः पञ्चीकृतानि भूतानि जायन्ते ।

एवं = प्राणादिवत् । तैरेव = मिलितैरेव । तमोगुणोपेतैरपञ्चीकृतभूतैः = अपञ्चीकृतभूततमोगुणांशैः । पञ्चीकृतानि भूतानि = स्थूलभूतानि । जायन्ते उत्पद्यन्ते ।

पञ्चीकरणे प्रमाणमाह–

"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति" श्रुतेः ।

तासां = तेजोबन्नानां = देवतानाम्, एकैकां त्रिवृतं त्रिवृतं करवाणीति सम्बन्धः । त्रिवृत्करणन्त्वित्थम् तेजोबन्नानां प्रत्येकं द्विधा विधाय, तदेकैकांशं पुनर्द्विधा विधाय स्वेतरार्धांशेन योजयेत् । सति चैवं त्रयाणां त्र्यात्मकत्वं सम्पद्यते । तथा हि स्थूले तेजसि अर्द्धं तेजः, अर्द्धं चार्द्धं जलं, अर्द्धं पृथिवी; इति स्थूलस्य त्र्यात्मकत्वम् । एवमेवान्ययोरपि बोध्यम् ।

ननु प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः । प्रतिज्ञया पञ्चीकरणस्य, हेतुना च तद्विरुद्धत्रिवृत्करणस्य प्रतिपादनात्, इत्याशंकायामाह–

त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणोपलक्षणार्थत्वात् ।

न विरोध इति शेषः । त्रिवृत्करणश्रुतिः = उक्ता तस्यां त्रिवृत" इत्यादि श्रुतिः, तस्याः पञ्चकरणस्य उपलक्षणं=ज्ञानम्, तदर्थकत्वात्= तत्प्रयोजनकत्वात्

अयं भावः—

एवञ्च तेषु भूतेषु प्रत्येकं स्वाद्विधा ततः ।
चतुर्धा भिन्नमेकैकमर्द्धमार्द्धं तथा स्थितम् ।।
व्योम्नोऽर्धभागाश्चत्वारो वायुतेजप्पयोभुवाम् ।
अर्द्धानि यानि वायोस्तु व्योमतेजप्पयोभुवाम् ।।

इति पुराणादौ पञ्चीकरणस्योपलब्ध्या श्रौती त्रिवृत्करणश्रुतिःपञ्चीकरणस्यापि प्रकाशनार्था इति ।

ननु को नाम पञ्चीकरणस्य प्रकारः ? इत्याकांक्षायामाह–

पञ्चीकरणप्रकारश्चेत्थम्—आकाशमादौ द्विधा विभज्य तयोरेकं भागं पुनश्चतुर्धा विभज्य, तेषां चतुर्णां वाय्वादिषु चतुर्षु भूतेषु संयोजनम् ।

आकाश = तन्मात्ररूपं सूक्ष्मम् । सूक्ष्मत्वं च न निरवयवत्वम्, अपि तु उपभोगालाघवत्वम् । तेन नासङ्गतिः । विभागकर्त्ता तु सर्वशक्तिमान परमेश्वर इति बोध्यम् ।

आकाशोक्तप्रकारमन्यत्रातिदिशति–

एवं वायुं द्वेधा विभज्य, तयोरेकं भागं चतुर्धा विभज्य तेषां चतुर्णामंशानां आकाशादिषु सयोजनम् । एवं तेजोवाय्वादीनामपि ।

एवं = आकाशवत् । आदिना पृथिवीपरिग्रहः । नन्वेवं सर्वेषां भूतानां सर्वभूतसाङ्कर्ये वियदादिव्यपदेशनियमः कथमुपपद्यते ? विनिगमकाभावात् इत्याशंकायामाह–

तदेवमेकैकस्य भूतस्यार्धं स्वांशात्मकं अर्धान्तरं चतुर्विधभूतमयमिति पृथिव्यादौ स्वांशाधिक्यात् पृथिव्यादिव्यवहारः ।

तदिति अर्धस्य विशेषणम् । एवमिति प्रकारे । अयं भावः—अर्द्धांशस्य अन्यभूतमयत्वेऽपि अर्धांशस्यैकभूतमयत्वेन प्राधान्यात् तत्तद्भूतत्वव्यपदेशः । भागप्राचुर्यमेव विनिगमकम् । अन्येषां भूतानां अष्टमांशतया एकस्य भूतस्याधिक्यात् ।

उक्तार्थे सूत्रकृत्सम्मतिमाह–

तदुक्तम्—"वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वाद" इति ।

वैशेष्यं = भागाधिक्यम्, तस्मात् । तद्वादः = तत्तद्भूततया वदनम् = थनम् = व्यपदेश इति यावत् । तद्वादपदवीप्सा पदसमाप्तिसूचिका । तथा च ाधिक्यादाकाशादिपदव्यवहार इति भावः ।

ननु शरीरस्य भस्मशेषतायां परलोकोपभोगादिः कथमुपपद्यते ? सूक्ष्मशरीरेण नगाख्येन चेत् कुतस्तदुत्पत्तिः ? कि स्वरूपता च तस्य । इति जिज्ञासायामाह–

पूर्वोक्तैरपञ्चीकृतभूतैर्लिङ्गशरीरं परलोकयात्रानिर्वाहकं मोक्ष- ार्यन्तस्थायिमनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रियपञ्चककर्मेन्द्रियपञ्चक- ाणादिपञ्चकसंयुक्तं जायते ।

लिंगमेव शरीरं लिङ्गशरीरम् । परलोकयात्रा = मरणोत्तरभावी भोगः, न्निर्वाहकं तत्सम्पादकम् । मोक्षपर्यन्तं तिष्ठतीति मोक्षपर्यन्तस्थायि । मनश्च द्धिश्च मनोबुद्धी, ताभ्यामुपेतं = युक्तम् । सङ्कल्पव्यापारवन्मनः, निश्चय- यापारवती बुद्धिः इति तयोर्भेदः । ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं च कर्मेन्द्रियपञ्चकं च ाणादिपञ्चकस्य इति ज्ञानेन्द्रियपञ्चककर्मेन्द्रियपञ्चकप्राणादिपञ्चकानि, तैः ंयुक्तम् । इदं सर्वं लिङ्गशरीरविशेषणम् । अयं भावः—प्रत्यक्षसिद्धस्थूलशरीरा- तिरिक्तसूक्ष्मशरीराभ्युपगमो निरर्थकः प्रयोजनाभावात् इति तार्किककथनमसङ्गतम् ात्मनो [illegible]पभोगत्वेन स्थूलस्य च शरीरस्य व्यभिचारित्वेन सर्वस्थूलशरीरानु- यूतलिंगशरीरानुपगमे कृतहानाकृताभ्यागमप्रसंगः । न चान्तःकरणमात्रानुस्यूति- ादाय तद्वारणम् । अनाश्रितस्य तस्य शरीरान्तरगमनासम्भवात् । अतः सप्त- शावयवं तत्स्वीकार्यमेव । तदवयवास्तु श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियपञ्चकं वागादिकर्मेन्द्रिय- ञ्चकं, प्राणादिपञ्चकं मनो बुद्धिश्चेति ।

अत एव हि–

ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशङ्गतम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद्यमः ॥

इति पुराणवचनमपि संगच्छते। अङ्गुष्ठमात्रत्वं तु सूक्ष्मत्वं न तु मानवाङ्गुष्ठ-परिमाणत्वम् पुत्तिकादिर्लिंगे तत्सम्भवाभावात् ।

अत्रार्थे शब्दप्रमाणमाह–

तदुक्तं—

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्मांगं भोगसाधनम् ॥ इति ।

अपञ्चीकृतभूतोत्थं = तथाविधभूतघटितम् । सूक्ष्मांगं = सूक्ष्मशरीरम् । भोगसाधनं = भोगस्य साधनम् ।

लिंगशरीरं विभजते–

तच्च द्विविधं परमपरं च। तत्र परं हिरण्यगर्भलिंगशरीरम् । अपरं अस्मदादिलिंगशरीरम् । तत्र हिरण्यगर्भलिंगशरीरं महत्तत्वम् । अस्मदादिर्लिंगशरीरञ्चाहङ्कार इत्याख्यायते ।

तच्च = लिंगशरीरं च । तत्र = परापरयोर्मध्ये । परत्वं उत्कृष्टत्वम्, हैरण्यगर्भत्वात् । अस्मदादेः लिंगशरीरं = अस्मदादिर्लिंगशरीरम् । आदिपदेन पश्वादिशरीरपरिग्रहः । तत्र = हिरण्यगर्भलिंगशरीरास्मदादिर्लिंगशरीरयोः । महत्त्वं आख्यायते इति व्यवहितेन सम्बन्धः । शास्त्रविद्भिरिति शेषः ।

नन्वपञ्चीकृतभूतात्स्थूलभूतोत्पत्तिरित्युक्तम्, तदयुक्तं कपालादिस्थूलेभ्यो घटादिस्थूलोत्पत्तेः प्रात्यक्षिकत्वादित्याशङ्कायामाह–

एवं तमोगुणयुक्तेभ्यः पञ्चीकृतभूतेभ्यः भूम्यन्तरिक्षस्वर्महर्जन-तपस्सत्यात्मकस्योर्ध्वलोकसप्तकस्य, अतल - पाताल-वितल - सुतल-तलातल-रसातल-महातलाख्यस्याधोलोकसप्तकस्य ब्रह्माण्डस्य, जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाख्यस्य, चतुर्विधशरीराणां चोत्पत्तिः ।

तमोगुणयुक्तेभ्यः = अधिकतमो गुणकेभ्यः । भूमिः, अन्तरिक्षं, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, एतानि आत्मा = स्वरूपं यस्य उर्ध्वलोकसप्तकस्य तत् तथा,

तस्य । भूमिः = भूर्लोकः । अतलं च, पातालं च, वितलं च, सुतलं च, तलातलं च, रसातलं च, महातलं च अतल - पाताल - वितल - सुतल - तलातल - रसातल- महातलानि । तान्येव आख्या संज्ञा यस्याधोलोकसप्तकस्य तत्तथा, तस्य । उभयं ब्रह्माण्डविशेषणम् । द्वन्द्वान्तश्रूयमाणस्य आख्या शब्दस्य प्रत्येकमन्वयात् जरायुजाख्यानि अण्डजाख्यानि स्वेदजाख्यानि उद्भिज्जाख्यानि च यानि चतुर्विधानि स्थूलानि शरीराणि तेषाम् । अयं भावः— न खलु सूक्ष्मभूतेभ्यो युगपदेव समग्रा सृष्टिः भवति पाश्चात्त्या । किन्तु तेभ्यः मूलभूतसृष्टिः । ततश्च प्रथमभौतिकसृष्टिः ततश्च प्रत्यक्ष जायमाना भौतिकी सृष्टिरिति क्रमः । इति नोक्तशङ्कावकाशः ।

जरायुजादीनां प्रत्येकं परिचाययति—

तत्र जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि, मनुष्यपश्वादिशरीराणि । अण्डजानि अण्डजेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि शरीराणि । स्वेदजानि तु स्वेदाज्जातानि यूकमशकादिशरीराणि । उद्भिज्जानि तु भूमिमुद्भिद्य- जातानि वृक्षादीनि ।

तत्र = चतुर्षुमध्ये । गर्भवेष्टनचर्मपुटकं जरायुः । जातानि = निर्गतानि । आदिपदं सम्भाव्यमानशरीरविशेषमाभिलक्ष्य । पन्नगः = सर्पः । मलिनकेशवर्त्ति- जन्तुविशेषो यूकः गगनगवाष्पजो "जोक" इत्याख्यो वा । उद्भिद्य = औन्मुख्येन भेदनं कृत्वा ।

ननु कथं वृक्षादीनां शरीरता ? लौकिकतद्व्यवहाराभावात् इत्याशङ्कायामाह—

वृक्षादीनामपि पापफलभोगायतनत्वेन शरीरत्वम् ।

पापफलं = दुःखं, तद्भोगायतनत्वेन = तद्भोगाश्रयत्वेन ।

अयं भावः—

गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः ।।
नर्मदातीरसम्भूताः सरलार्जुनपादपाः ।
नर्मदातोयसंस्पर्शात् ते यान्ति परमां गतिम् ।।

इत्यादिवचनेन तेषामपि भवति साध्वसाधूपभोगाश्रयत्वनिश्चयात् आध्यत्मिक-वायुसम्बन्धरूपस्यानुमापकस्य च सत्वात् शरीरत्वनिश्चय इति ।

आध्यात्मिकवायुसम्बन्धश्च भग्नक्षतसंरोहणादिना समनुमेय इति ।

ननु जगत्स्रष्ट्रत्वं कस्य ? हिरण्यगर्भाख्यस्य ब्रह्मण इति चेत् "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इति श्रुतिविरोधः । ईश्वरस्य चेत्—

"सर्गादौ सृष्टवान् ब्रह्मा तन्ममाचक्ष्व विस्तरात्" इत्यादि स्मृतिविरोधः इत्याशङ्कायामाह—

तत्र परमेश्वरस्य पञ्चतन्मात्राद्युत्पत्तौ च साक्षात्कर्तृत्वम् । इतरनिखिल-प्रपञ्चोत्पत्तौ च हिरण्यगर्भद्वारा ।

तत्र = भूतभौतिकोत्पत्त्योः । चकारस्त्वर्थः । साक्षात् = हिरण्यगर्भमन-पेक्ष्य । इतरस्य निखिलस्य प्रपञ्चस्य उत्पत्तिः इतरनिखिलप्रपञ्चोत्पत्तिः, तत्र । हिरण्यगर्भो ब्रह्मा, तद्द्वारा = तं द्वारीकृत्य । **अयं भावः—अपञ्चीकृतभूतोत्पत्तौ परस्य साक्षात् हेतुत्वम् । भौतिकोत्पत्तौ तु हिरण्यगर्भस्य साक्षात् हेतुत्वमिति वाक्यद्वयसङ्गत्या न विरोधावकाशः । व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथा सिद्धिरिति न्यायेन परमेश्वरोभयस्रष्ट्रत्वम् इति ।**

ननु किमत्र प्रमाणं भौतिकसृष्टिः हिरण्यगर्भद्वारकेश्वरकर्तृकत्वे इति जिज्ञासा-यामाह—

"हन्ताहमिमाः तिस्रो देवताः, अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"ति श्रुतेः ।

अहं अनेन जीवेनात्मना इमाः तिस्रो देवताः अनुप्रविश्येति सम्बन्धः । जीवेना-त्मना = जीवस्वरूपेण । तिस्रो देवताः = तेजोबन्नरूपाः । इदं द्वितीयाबहुवचन-पदम् । नन्वत्र श्रुतौ हिरण्यगर्भचर्चाऽभावात् कथमितो भौतिकसृष्टेर्हैरण्यगर्भत्व-नियमः ? इत्याशङ्कायामाह—

हिरण्यगर्भो नाम मूर्त्तित्रयादन्यः प्रथमो जीवः ।
स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।

आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्त्तत् ॥
"हिरण्गर्भः समवर्त्तताग्रे" इत्यादि श्रुतेः ।

मूर्त्तित्रयात् = ब्रह्माविष्णुमहेश्वराख्यात् । शरीरी = जीवः । भूतानां = अपञ्चीकृतभूतानां आदिकर्त्ता = प्रथमकर्त्ता । परमेश्वर इति यावत् । अग्रे = प्रथमं । ब्रह्मा=हिरण्यगर्भः । समवर्त्तत = अभवत् । अयं भावः— [illegible] प्रथमजीवत्वेन 'जीवेनात्मना अनुप्रविश्य" इत्यनेन तस्यैव प्रतिपादनात् न भौतिक-सृष्टेर्हैरण्यगर्भत्वे प्रमाणाभावः । न च तर्हि त्रिमूर्त्यन्तःपातिना ब्रह्मणः कल्पना-वयर्थ्यम् बुद्धेरधिष्ठातृतया वैयर्थ्याभावात् । भूतानामादिकर्त्तुः परमेश्वरस्यैव भौतिककर्त्तृ चतुर्मुखभावापन्नतया वस्तुतः सर्वकर्तृत्वं परमेश्वरस्यैवेति ।

सृस्टिनिरूपणोपसंहारपूर्वकं प्रलयनिरूपणं प्रतिजानीते—

एवं भूतभौतिकसृष्टिर्निरूपिता इदानीं प्रलयो निरूप्यते ।

भूतं च भौतिकं च भूतभौतिके । तयोः सृष्टिः भूतभौतिकसृष्टिः । निरूप्यते = बोधानुकूलव्यापारविषयीक्रियते ।

प्रलयलक्षणमाह—

प्रलयो नाम त्रैलोक्यविनाशः ।

त्रिलोकमेव त्रैलोक्यम् = स्वर्गमर्त्यपातालाख्यम्, तस्य विनाशः जन्याभाव-रूपा निवृत्तिः ।

तद्भेदानाह—

स चतुर्विधः । नित्यः प्राकृतो नैमितिक आत्यन्तिकश्चेति । तत्र नित्यः प्रलयः सुषुप्तिः । तस्याः सकलकार्यप्रविलयरूपत्वात् ।

तत्र = उक्तेषु चतुर्विधेषु । नित्यत्वं चात्र प्रतिदिनं जायमानत्वरूपं बोध्यम् । "तस्याः सकलकार्येत्यादिना" सुषुप्तेः प्रलयत्वस्थापनं विहितं वेदितव्यम् । अयं भावः—न चेदं शङ्कनीयम् यत् कथं नाम सुषुप्तेः प्रलयत्वम् ? इति । कार्याणां मूलकारणे लीनत्वस्यैव प्रलयपदार्थतया, तस्य च तदानीमपि भावात् ।

ननु तर्हि सुषुप्त्यनन्तरं पुनर्जागरणे सुखदुःखानुभवस्मरणादीनामप्यभाव-प्रसङ्गः । धर्माधर्मादीनां तत्कारणानां विलयात् इत्याशङ्कानिरासायाह—

धर्माधर्मापूर्वसंस्काराणां च तदा कारणात्मना अवस्थानम् । तेन सुप्तोत्थितस्य न सुखदुःखानुपपत्तिः । न वा स्मरणानुपपत्तिः ।

धर्माधर्मौ एवापूर्वं धर्माधर्मापूर्वम्, धर्माधर्मापूर्वं च संस्काराश्च धर्माधर्मापूर्व-संस्काराः, तेषाम् । तदा = सुषुप्तौ । कारणात्मना = अविद्यात्मना । अवस्थानं = स्थितिः । अयं भावः—सुषुप्तौ धर्माधर्मसंस्कारसहितस्यान्तःकरणस्य स्वस्वरूपेण विलयेऽपि अविद्यात्मना अवस्थानेन जागरणे पुनस्ततो निर्गमनसम्भवेन न सुखदुःखाद्युपभोगस्मरणाद्यनुपपत्तिरिति ।

पुनरन्यां शङ्कां निराकरोति—

न च सुषुप्तावन्तःकरणस्यापि नाशे तदधीनप्राणनादिक्रियानुपपत्तिः । वस्तुतः श्वासाद्यभावेऽपि, तदुपलब्धेः पुरुषान्तरविभ्रम-मात्रत्वात् । सुप्तशरीरोपलम्भवत् ।

तदधीना = अन्तःकरणाधीना या प्राणादिविक्रिया = श्वासप्रश्वासात्मको विकारः तदनुपपत्तिः । अनुपपत्तिर्न चेति सम्बन्धः । वस्तुतः = तत्त्वतः । तदुपलब्धेः = श्वासाद्युपलब्धेः । अन्ये पुरुषाः पुरुषान्तराणि, तेषां विभ्रममात्रत्वात् = प्रतीतिमात्रत्वात् । अयं भावः—सुषुप्तिकालिकश्वासप्रश्वासादयः न व्यावहारिकाः, सुषुप्तप्रातीतिका वा, किन्तु असुप्तान्यपुरुषप्रातीतिकाः । अतो न विलयोक्ति-विरोधः । परमार्थतो व्यवहारतश्च तदा तदभावात् ।

ननु तर्हि मृतसुषुप्त्योरविशेषापत्तिः इत्याशंकां निराकुरुते—

न चैवं सुषुप्तस्य परेतादविशेषः । सुप्तस्य हि लिंगशरीरं संस्कारा-त्मना अत्रैव वर्त्तते । परेतस्य हि लोकान्तरे इति वैलक्षण्यात् ।

न चाविशेष इति सम्बन्धः । परेतात् = मृतात् । संस्कारात्मना = संस्काररूपेण । अत्रैव = एतत्प्रारब्धजन्यशरीरे । लोकान्तरे = एतादृशशरीर-

व्यतिरेकेण। वैलक्षण्यात् = भेदात्। अयं भावः—अयं खलु सुषुप्तमृतयोः भेदः, यत् सुषुप्तलिंगशरीरं पुनरेतच्छरीरावच्छिन्नोपभोगाय एतच्छरीरे एव अविद्यात्मना चैतन्ये तिष्ठति तदानीम्। मृतस्य तु न तथेति।

प्रकारान्तरेण मरणसुषुप्त्योर्भेदमाह—

यद्वा अन्तःकरणस्य द्वे शक्ती। ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति। तत्र ज्ञानशक्तिविशिष्टान्तःकरणस्य सुषुप्तौ विनाशः, न तु क्रियाशक्तिविशिष्टस्येति प्राणाद्यवस्थानमविरुद्धम्।

यद्वा = अथवा। ज्ञानानुकूला शक्तिः = ज्ञानशक्तिः। एवं क्रियाशक्तित्यपि। इदि = इति हेतोः प्राणादेः = श्वासप्रश्वासादेः अवस्थानं = अस्तित्वम्। अयं भावः-सुषुप्तौ नान्तःकरणविनाशः किन्तु तदानीं ज्ञानानुकूलशक्तिनाशेन तत्र तद्वैशिष्ट्याभावेन, विशेषणाभावप्रयुक्तः तद्विशिष्टान्तःकरणस्याभाव इति कारणाभावेन ज्ञानात्मककार्यस्याभावो भवति। श्वासप्रश्वासादिक्रियानुकूलशक्तेस्तु तदानीमपि अन्तःकरणे सत्त्वेन विशेषणविशेष्ययोरुभयोरपि सत्त्वेन विशिष्टाभावाभावेन कारणस्यैव सत्तया श्वासप्रश्वासाद्युपपत्तिरिति। यद्वेत्यस्वरसबीजम्—अन्तःकरणस्यालीनत्वे प्रमाणविगमः।

किमत्र सुषुप्तौ प्रमाणमित्याशङ्कायामाह—

"यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति। अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति। अथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति। सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति। स्वमपीतो भवति" इत्यादिश्रुतिः सुषुप्तौ मानम्।

अस्मिन्निति प्राणविशेषणम्। एकधा भवति = लीनो भवति। एनं = प्राणं। अप्येति = गच्छति। प्राणस्त्वत्र ब्रह्म न मुख्यः। सोम्येति सम्बोधनपदम्। सता सम्पन्नो भवतीति सम्बन्धः। सता = ब्रह्मणा। सता सम्पन्नो भवतीत्यस्यैव व्याख्यानम् स्वमपीतो भवतीति। स्वं = आत्मानं प्राप्तो भवतीत्यर्थः।

प्राकृतं प्रलयमाह—

प्राकृतप्रलयस्तु कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तकः सकलकार्यविनाशः।

कार्यंब्रह्म = हिरण्यगर्भः। तस्य विनाशः = विदेहकैवल्यम् तदेव निमित्तं = कारणं यस्य तत्तथा। सकलकार्याणा विनाशः = निवृत्तिः।

इममेवार्थ स्पष्टयति—

यदा तु प्रागेवोत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य कार्यब्रह्मणो ब्रह्माण्डाधिकारलक्षणप्रारब्धकर्मसमाप्तौ विदेहकैवल्यात्मिका परा मुक्तिः, तदा तल्लोकवासिनामप्युत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह विदेहकैवल्यम्।

उत्पन्नो ब्रह्मसाक्षात्कार. = अहं ब्रह्मास्मीति श्रुतिजन्यः अखण्डार्थबोधः यस्य असौ उत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारः तस्य। इद कार्यब्रह्मविशेषणम्। कार्य ब्रह्म = कार्यंब्रह्म = हिरण्यगर्भः, तस्य। तस्यानित्यत्वात्। ब्रह्माण्डस्याधिकारः = योगक्षेमनिर्वाहकत्वम्। तल्लक्षण = तत्स्वरूप यत् प्रारब्धकर्म, तस्य या समाप्तिः, तस्या सत्याम्। विदेहकैवल्य आत्मा = स्वरूपं यस्याः परस्याः मुक्तेः, सा विदेहकैवल्यात्मिका। परा मुक्तिरित्यनन्तर भवतीति शेषः। तस्य कार्यब्रह्मणः, लोके सत्याख्ये वसन्तीति तल्लोकवासिनः तेषाम्। सूर्यमण्डलं भित्वा दक्षिणेन यथा गतानामिति यावत्। उत्पन्नो ब्रह्मसाक्षात्कारो येषा ते उत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराः अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारवन्तः, तेषाम्। इदं तल्लोकवासिनामित्यस्य विशेषणम्। **अयं भावः—ये खलु लोकेऽस्मिन् सगुणोपासकाः सन्तः मरणानन्तरं तादृगुपासनाबलेन दक्षिणमार्गेण हिरण्यगर्भस्य सत्याख्यं लोकं गत्वा तन्निवासिनो जाताः, ते तत्रैव प्राप्तनिर्गुणब्रह्मसाक्षात्काराः सन्तः हिरण्यगर्भस्य जगद्योगक्षेमनिर्वाहकत्वकालसमाप्तौ तत्कैवल्ये भवन्ति केवलिनः इति।**

अत्रार्थे प्रमाणमाह—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यन्ति कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

इति श्रुतेः।

ब्रह्मणा = हिरण्यगर्भेण। ते = सगुणब्रह्मोपासकाः। प्रतिसञ्चरः = प्रलयः। परस्य = अधिपतेर्हिरण्यगर्भस्य। अन्ते = मुक्तौ। कृतात्मान. = कृतात्मसाक्षात्काराः। ब्रह्मणा सह परं पदं प्रविशन्ति इति सम्बन्धः।

ननु प्रकृते ततः किमायातम् इति जिज्ञासायामाह—

एवं तल्लोकवासिभिः सह कार्यब्रह्मणि मुच्यमाने तदधिष्ठितब्रह्माण्ड-तदन्तर्वर्त्तिनिखिललोकतदन्तर्गतस्थावरादीनां भौतिकानां भूतानां च प्रकृतौ मायायां लयः, न तु ब्रह्मणि। बाधरूपविनाशस्यैव ब्रह्मनिष्ठत्वात्। अत प्राकृत इत्युच्यते।

एवं = उक्तप्रकारेण। तल्लोकवासिभिः = हिरण्यगर्भलोकवासिभिः। तेन ब्रह्मणा अधिष्ठितं = शासितं यत् ब्रह्माण्डं, तदन्तर्वर्त्तिनो ये लोकाः = भूरादयः, तदन्तर्गता ये स्थावरादयः तेषाम्। आदिपदेन जङ्गमपरिग्रहः। इदं भूताना भौतिकाना इत्यस्य विशेषणम् तेन नासङ्गतिः। मायायामिति साङ्ख्योक्तप्रकृतिवारणायोक्तम्। **अयं भावः— पूर्वोक्तक्रमेण हिरण्यगर्भाभावे तदधिष्ठितस्य निखिलचराचरात्मकभूतभौतिकघटितस्य ब्रह्माण्डस्य मायात्मकप्रकृतौ निवृत्तिरूपः प्रलयः सम्पद्यते। प्रकृतौ लयेन अयमेव लयः प्राकृतलय इत्युच्यते। इति।**

ज्ञातो नित्यः प्राकृतश्च प्रलयः, नैमित्तिकोऽसौ कीदृशः इत्याकाङ्क्षायामाह—

कार्यब्रह्मणो दिवसावसाननिमित्तस्त्रैलोक्यमात्रप्रलयो नैमित्तिकः प्रलयः।

कार्यब्रह्मणः = हिरण्यगर्भस्य। दिवसावसानं निमित्तं यस्य स दिवसावसाननिमित्तकः। अवसानं अन्तः। कर्मणि निमित्ताधीननैमित्तिकत्ववत् प्रलयस्याप्यस्य दिवसावसाननिमित्ताधीनत्वप्रयुक्तं नैमित्तिकत्वमिति भावः।

ननु दिवसोऽसौ लौकिक एव अन्यो वा कश्चन? आद्ये अनुभवविरोधः। द्वितीये वचनीयता इत्यत आह—

ब्रह्मदिवसः चतुर्युगसहस्रपरिमितः कालः।

ब्रह्मणः = हिरण्यगर्भस्य दिवसः = दिनं ब्रह्मदिवसः। चत्वारो युगाः चतुर्युगाः, तेषां सहस्राणि चतुर्युगसहस्राणि, तैः परिमितः = चतुर्युगसहस्रपरिमितः। चत्वारो युगाः सत्यत्रेताद्वापरकल्पाख्याः। सहस्रसंख्यकचतुर्युगपरिमितः कालः हिरण्यगर्भाख्यस्य ब्रह्मणः एकं दिनं भवति। तदन्ते तद्रात्रिरूपः कालः = प्रलयकालः, तद्दिनान्तनिमित्ताधीनतया च नैमित्तिकः इति भावः।

तद्दिवसस्यैतावत्कालपरिमितत्वे शास्त्रं प्रमाणयति—

चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते । इत्यादिवचनात् ।

सहस्रसंख्यकाः चत्वारो युगाः हिरण्यगर्भाख्यब्रह्मसम्बन्धिदिनशब्दवाच्याः इति वाक्यार्थः । दिनस्य तस्यैतत्परिमितत्वे तद्रात्रिरूपस्य किम्परिमितत्त्वमिति जिज्ञासायामाह—

प्रलयकालोऽपि दिवसकालपरिमितः । रात्रिकालस्य दिवसकालतुल्यत्वात् ।

प्रलयकालः = नैमित्तिकप्रलयकालः । दिवसकालेन परिमितः । दिवसकालपरिमितः ब्रह्मरात्रिकालः चतुर्युगसहस्रपरिमितः, तद्दिवसकालतुल्यत्वात् दिवसपदवाच्यक्षणकूटसंख्यकक्षणरूपत्वात् इत्यर्थः । तुल्यत्वं चात्र अत्यधिकक्षणघटितत्वप्रयुक्तातिवैषम्याभावः । तेन न विषमदिनरात्री समादाय दोषापत्त्यवकाशः ।

प्राकृतिकनैमित्तिकाख्यप्रलयप्रमाणजिज्ञासायामाह—

प्राकृतिकप्रलये नैमित्तिकप्रलये च पुराणवचनानि प्रमाणानि—

द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मण. परमेष्ठिनः ।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते ।

इति वचनं प्राकृतप्रलये मानम् ।

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् ।
शेतेऽनन्तासनो नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम् ॥

इति वचनं नैमित्तिकप्रलये मानम् ।

पञ्चाशत्वसंख्याको ब्राह्मो वर्षः परार्द्धम् । द्वित्वविशिष्टं तदेव द्विपरार्द्धम् तस्मिन् । ब्रह्मणः पूर्णायुभूते शतसंख्याके वर्षे इति यावत् । अतिक्रान्ते = व्यतीते । परमेष्ठिन इति. ब्रह्मणो विशेषणम्, तेन हिरण्यगर्भतालाभः । प्रकृतयः सप्त = प्रकृतिविकृतिभूताः । फलतः महदहंकारपञ्चतन्मात्राणि साङ्ख्यशास्त्रे प्रकृति-

विकृतिपदेनाभिधीयमानानि प्रलयाय कल्पन्ते इति सम्बन्धः । कल्पन्ते = भवन्ति । यत्र लीयते इत्यनन्तरं चराचरमिति शेषः । विश्वं सृजतीति विश्वसृक् = विश्वसृष्टा हिरण्यगर्भः । अखिलं आत्मसात्कृत्य अनन्तासनः नित्यं शेते इति सम्बन्धः ।

तुरीयं प्रलयमाह–

तुरीयप्रलयस्तु ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तकः सर्वमोक्षः ।

ब्रह्मणः = ज्ञेयस्य सच्चिदानन्दरूपस्य न तु पूर्वोक्तस्य यः साक्षात्कारः = अहं ब्रह्मास्मीति रूपः स एव निमित्तं कारणं यस्य स तादृशनिमित्तकः । सर्वेषां मोक्षः सर्वमोक्षः = अज्ञाननिवृत्तिः । तेन नापसिद्धान्तः । आत्मरूपस्य मोक्षस्य नित्यतया साक्षात्कारनिमित्तकत्वासम्भवात् ।

ननु सर्वेषां जीवानां मोक्षरूपः प्रलयो भवति चेत् क्रमेणासौ भवति युगपद्वा ? इति जिज्ञासानिरासाय आह–

स चैकजीववादे युगपदेव । नानाजीववादे तु क्रमेण "सर्वं एकीभवन्ती" त्यादिश्रुतेः ।

स च मोक्षाख्य तुरीयप्रलयः । एकजीववादे जीवस्यैकत्वाभ्युपगमपक्षे । युगपदेव एकदैव = । नानाजीववादे जीवबहुत्वाभ्युगमपक्षे । क्रमेण = एकैकमोक्षोत्तरम-परापरमोक्ष इति । **अयं भावः–एकजीववादे उपाधिभूताया अविद्याया अप्यैक्येन तन्निवृत्तिरूपस्य मोक्षस्य क्रमभाविता अनुपपन्ना । अनेकजीववादे तु उपाधिभूतानां अविद्यानां युगपन्निवृत्त्यसम्भवेन एकदा तादृशमोक्षासम्भव इति ।** वस्तुतस्तु "सर्वमोक्ष" इति लेख एव नैकजीववादे सङ्गच्छते । अनेकत्वाभावे तद्व्याप्य सर्वत्वासम्भवात् । अथवा कथञ्चित् संगतौ क्रियमाणायां "युगपत्" इत्यस्य अक्रमेण इत्यर्थः ।

मोक्षामोक्षात्मकप्रलययोः कारणभेदमाह–

तत्राद्यास्त्रयो विलयाः कर्मोपरमनिमित्ताः । तुरीयस्तु ज्ञानोदय-निमित्तकः अज्ञानेन सहैवेति विशेषः ।

तत्र = चतुर्षु प्रलयेषु मध्ये । त्रय: = नित्यप्राकृतनैमित्तिका: । कर्म = अदृष्टम्, तदुपरम: = तत्स्तम्भ:, कार्याननुकूलत्वमिति यावत् । तुरीय: = मोक्षाख्य: । ज्ञानस्य उदय: = ज्ञानोदय. असौ निमित्तं यस्य स तथा । अज्ञानेन सदैव अज्ञानविलयेन सदैव । **अय भाव:—त्रिषु जीवाज्ञानसत्त्वात् तुरीये च तन्निवृत्ते: मोक्षामोक्षविलयोर्भेद इति ।**

ननु भूतभौतिकाना प्रलयो भवतीति बुद्धम्, किन्तु कस्तत्र क्रम: ? इत्याकाक्षायामाह—

एव चतुर्विध: प्रलयो निरूपित: । तस्येदानी क्रमो निरूप्यते—भूतानां भौतिकानां च न कारणलयक्रमेण लय: कारणलयसमये कार्याणांमाश्रयमन्तरेणावस्थानानुपपत्ते:।

कारणाना लय: कारणलय:, तस्य क्रम: = तदव्यवहितोत्तरभावित्वम्, तेन । उपादाननाशाधीनो नोपादेयनाश: इति भाव: । कार्याणां अवस्थानानुपपत्तेरिति सम्बन्ध: । **अयमाशय:—यदि कपालनाशाधीनो घटनाश: स्वीकरणीय:, तदा कपालनाशक्षणे विनैव कपालं घटस्यास्तित्वं स्वीकरणीयतां प्राप्नोति । न च कपालं विना घटस्यास्तित्वमनुभवसिद्धं येन तदिष्टतामुररीकुर्यात् कोऽपि इति ।**

ननु केन क्रमेण तर्हि तेषां नाश: ? इत्याकांक्षायामाह—

किन्तु सृष्टिक्रमविपरीतक्रमेण ।

सृष्टे: क्रम: सृष्टिक्रम: । कारणानन्तरं कार्योत्पाद: । तद्विपरीतक्रम: = कारणनाशस्य कार्यनाशानन्तर्यम् । तेन ।

ननु कारणनाशाधीनकार्यनाशानङ्गीकारे कार्यनाशस्य किञ्चिदप्रयोज्यत्वापत्त्या कारणनाशस्य कार्यनाशप्रयोजकत्वमभ्युपगन्तव्यम् । तथा च कारणनाशानन्तरमेव कार्यनाश: इत्याशङ्कायामाह—

तत्तत्कार्यनाशे तत्तज्जनकादृष्टनाशस्यैव प्रयोजकतया उपादाननाशस्याप्रयोजकत्वात् ।

तानि तानि कार्याणि तत्तत्कार्याणि = घटपटादीनि, तेषां नाशः तत्तत्कार्य-नाशः, तस्मिन्। तत्तज्जनकानि यानि अदृष्टानि, तन्नाशस्य। उपादानं = समवायिकारणत्वेन परैर्व्यवह्रियमाणं परिणामिकारणम्, तन्नाशस्य। प्रयोजकत्वात् = सम्पादकत्वात्। **अयं भावः—परिणामनाशं प्रति परिणामिनाशस्योक्तयुक्त्या नास्माभिः प्रयोजकत्वमभ्युपेयते अपि तु परिणामानुकूलादृष्टनाशस्य। तथा च न कार्यनाशस्य निष्प्रयोज्यत्वापत्त्या सार्वदिकत्वापत्तिरिति।**

एवमनभ्युपगच्छतां नैयायिकानां शिरसि अधिकं दण्डं पातयति—

अन्यथा न्यायनयेऽपि महाप्रलये पृथिवीपरमाणुगतरूपरसादेर-विनाशापत्तेः।

अन्यथा = उपादाननाशाधीनोपादेयनाशाभ्युपगमे। पृथिवीपरमाणुगतः = पृथिवीपरमाणुनिष्ठः, यो रूपरसादिः तस्य। महाप्रलये=तत्काले। अविनाशापत्तेः = विनाशानुपपत्तेः **अयं भावः—परमाणुगतानां रूपरसादीनां उपादानानि परमाणवः, तेषां नित्यतया नाशासम्भवेन उपादाननाशत्वरूपप्रयोजकाभावेन, कथं खलु रूपरसादीनां उपादेयानां नाशः तत्प्रयोज्यः सम्पद्यते। न च तेऽपि परमाणु-वन्नित्या एवेति शक्यते वक्तुम्। पाकजत्वात्तेषाम्। जन्यभावानां तेषां तदानीम-स्तित्वाभ्युपगमे महाप्रलयस्यैव व्याकृतिः स्यादिति।**

क्रममेव स्पष्टयति—

तथा च पृथिव्या अप्सु, अपां तेजसि, तेजसः वायौ, वायोराकाशे, आकाशस्य जीवाहङ्कारे। तस्य हिरण्यगर्भाहङ्कारे तस्य चाविद्यायाम् इत्येवरूपः प्रलयः।

सर्वत्र विलय इति शेषः। हिरण्यगर्भाहङ्कार. समष्टिरूपः, महत्तत्वम्, तत्र। आत्मनः आकाशः सम्भूत इत्यारभ्य अद्भ्यः पृथिवीत्यन्तेन श्रुतिवाक्येन पृथिव्याः चरमकार्यत्वप्रतिपादनात् कार्यभूतायाः तस्याः स्वकारणेषु अप्सु लयो भवति। एवमन्यत्रापि एवमभ्युपगमे कारणे कार्यलय इति सर्वानुभवोऽपि सुरक्षितस्तिष्ठति।

एतस्मिन् लयक्रमे आगमं प्रमाणमाह–

तदुक्तं विष्णुपुराणे–

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते । इति ।

देवर्षे ? इति सम्बोधनपदम् । जगत्प्रतिष्ठा पृथिवी अप्सु प्रलीयते इति सम्बन्धः । जगतः प्रतिष्ठा = आश्रयः जगत्प्रतिष्ठा, इदं पृथिवीविशेषणम् । पृथिव्या अपि जगदन्तः पातितया स्वस्य च स्वाश्रयत्वाभावेन कथं पृथिव्याः जगत्प्रतिष्ठात्वमिति तु नाशङ्कनीयम् । जगत्पदस्य जङ्गमवाचित्वेन पृथिव्याः स्थावरत्वेन तत्सम्भवात् ।

प्रलयनिरूपणप्रयोजनमाह–

एवम्विधप्रलयकारणत्वं ब्रह्मणः तटस्थलक्षणम् ।

एवविधः = पूर्वोक्तप्रकारः यः प्रलयः, तत्कारणत्वं = तत्कर्तृत्वम् । तटस्थं सत् लक्षणं तटस्थलक्षणम् । ताटस्थ्यं = लक्ष्यावृत्तित्वम् । लक्षणत्वं प्रकाशकत्वम् । तत्त्वतः अजातवादे सृष्टिप्रलयाद्यभावेन ब्रह्मणि प्रलयकर्तृत्वं नास्ति, इति तदवृत्तिसदेव तत् ब्रह्म = परिचायक भवतीत्याशयः ।

ननु "आत्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिका श्रुतिः प्रमाणं न वा ? आद्ये अपसिद्धान्तः द्वितीये द्वैतापत्तिः तत्प्रतिपाद्यायाः सृष्टेरभ्युपगमात् इत्याशयेन शङ्कते–

ननु वेदान्तैः ब्रह्मणि जगत्कारणत्वेन प्रतिपाद्यमाने सति सप्रपञ्चं ब्रह्म स्यात् । अन्यथा सृष्टिवाक्यानामप्रामाण्यापत्तेः ।

वेदान्तैः = "आत्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादिभिः । जगत्कारणत्वेन = जगत्कर्तृत्वेन । प्रपञ्चेन सहितं सप्रपञ्चं प्रपञ्चद्वितीयकमित्यर्थः । अन्यथा अप्रतिपाद्यमाने । सृष्टिवाक्यानाम् = "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्यादीनाम् । तथा चोभयतः पाशा रज्जुरिति भावः ।

समाधत्ते—

इति चेन्न । नहि सृष्टिवाक्यानां सृष्टौ तात्पर्यम् । किन्त्वद्वितीये ब्रह्मण्येव ।

न = नोभयतः पाशा रज्जुः । यत इत्यध्याहारः । न हि तातपर्यमिति व्यवहितेन सम्बन्धः । सृष्टिवाक्यानाम् = प्रोक्तानां "आत्मन आकाशः" इत्यादीनाम् । सृष्टौ = तात्त्विके वियदारम्भे । अद्वितीये = द्वितीयरहिते । तात्पर्यं त्वत्र प्रतिपादकत्वरूपं बोध्यम् । न त्विच्छात्मकं जडे वाक्ये तदसम्भवात् ।

पुनराशङ्क्य विशदयति—

तत्प्रतिपत्तौ कथं सृष्टेरुपयोगः ? इत्थं यदि सृष्टिमनुपन्यस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि निषेधः प्रतिपाद्येत तदा ब्रह्मणि निषिद्धस्य रूपस्येव ब्रह्मणोऽन्यत्रावस्थानशङ्कायां न निर्विचिकित्समद्वितीयत्वं प्रतिपादितं स्यात् ।

तत्प्रतिपत्तौ = अद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्तौ । कथमिति प्रश्ने न त्वाक्षेपे । उपयोगः सहायकत्वम् । अनुपन्यस्य = अप्रतिपाद्य । श्रुत्या इति शेषः । ब्रह्मणः इति पञ्चमी । अवस्थानं अवस्थितिः अस्तित्वम्, तस्या या शङ्का तस्याम् । सत्त्यामिति शेषः । निर्विचिकित्सं = असन्दिग्धम् । इद क्रियाविशेषणम् । तथा च अद्वितीयत्वं निर्विचिकित्सं न प्रतिपादितं स्यादिति सम्बन्धः । **अयं भावः— यदि ब्रह्मणि सृष्टिमनुपन्यस्यैव तस्मिन् प्रपञ्चनिषेधं प्रतिपादयेत् भगवती श्रुतिः, तर्हि "देवदत्तो गेहे नास्ति" इति निषेधेन तस्य बहिः सत्त्वकल्पनावत् ब्रह्मणि निषेधमुपगतस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मभिन्नेऽन्यत्र कुत्रापि तात्त्विकतयावस्थानकल्पनया प्रपञ्चात्मकद्वितीयसत्त्वापत्त्या ब्रह्माद्वैतवादो न स्यान्निर्णीतः श्रुत्येति ।**

ननु श्रुत्या सृष्टिप्रतिपादने कथमद्वितीयत्वसिद्धिः ? इति जिज्ञासायामाह—

ततः सृष्टिवाक्यात् ब्रह्मोपादेयत्वज्ञाने सति उपादानं विना कार्यस्यान्यत्रसद्भावशङ्कायां निरस्तायां, नेति नेतीत्यादिना ब्रह्मण्यपि तस्यासत्त्वोपपादने प्रपञ्चस्य तुच्छत्वावगमे निरस्तनिखिलद्वैतविभ्रमं अखण्डसच्चिदानन्दैकरसं ब्रह्मसिद्ध्यतीति परम्परया सृष्टिवाक्यानामद्वितीये ब्रह्मण्येव तात्पर्यम् ।

ततः = तस्मात् । ब्रह्मणः उपादेयं ब्रह्मोपादेयम्, तस्य भावः तत्त्वम्, तस्य ज्ञानं ब्रह्मोपादेयत्वज्ञानम् । ब्रह्मोपादानकत्वज्ञानमिति यावत्, तस्मिन् । तस्य = उत्पन्नत्वेन प्रतिपाद्यमानस्य प्रपञ्चस्य । असत्त्वोपपादने = तात्त्विकत्वाभावनिर्णये । तुच्छत्वमत्र नालीकत्वमपि तु अनिर्वाच्यत्वरूप मिथ्यात्वमवगन्तव्यम् । तस्यावगमो निर्णयः, तस्मिन् । निरस्तः निखिलस्य द्वैतस्य विभ्रमो यत्र तत् तथा । द्वैत-विभ्रमः = द्वैतनिष्ठनिरूपकतानिरूपिताधिकरणत्वप्रकारज्ञानम् तद्विशेष्यत्वञ्च । अखण्ड च सत् च चित् च आनन्दश्च एकरस इति अखण्डसच्चिदानन्दैकरसम् । सर्वत्र विग्रहस्थश्चकारः अप्यर्थकः । अखण्डत्वं निर्विकल्पकधीविषयत्वम् । सत्त्वं तात्त्विकत्वम् । चित्त्वं साक्षात्कारत्वम् । एकरसत्वं कूटस्थनिर्विकारत्वम् । **अयं भावः— कार्यं समवायिकारणे एव समुत्पद्यते तिष्ठति चायुतसिद्धभावेनेति नैयायिकादिभिरपि स्वीक्रियते । सति चैवं "आत्मन आकाश" इति श्रुतिः जगतः ब्रह्मात्मकसमवायिकारण एव समुत्पत्तिः अस्तितः चेति प्रदर्शितवती । प्रदर्शनेन चानेन जगतः अन्यत्रावस्थानशङ्कैव नावतरति । ब्रह्मणि तत्समुत्पत्तिः तदस्तिता च पश्चात् नेति नेति श्रुत्यैव खण्डिता । इति ब्रह्मभिन्नाधिकरणे ब्रह्मणि च द्वैतप्रपञ्चाभावः स्पष्टीकृतो भवति । ब्रह्मतद्भिन्नाभ्यामन्यच्च तृतीयं स्थानमेव नास्ति यत्र द्वैतप्रपञ्चसद्भावसम्भावनाऽपि शक्नुयाद्भवितुम् । सृष्टिवाक्यात् प्रपञ्चस्य बघस्थाननयनम् । नेति नेतीति वाक्याच्च तद्बधः इति सर्वथा ब्रह्माद्वैते श्रुतितात्पर्यं समधिगतं भवतीति ।**

ननु श्रुतेः अद्वैतब्रह्मपरत्वाभ्युपगमे सत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिगुणप्रतिपादक-वाक्यानां का गतिः इति शङ्कायामाह—

उपासनाप्रकरणपठितसगुणब्रह्मवाक्यानां तु उपासनाविध्यपेक्षित-गुणमात्रपरत्वम् । निर्गुणप्रकरणपठितानां सगुणवाक्यानां तु निषेधवाक्या-पेक्षितानिषेधसमर्पकत्वेन विनियोगः । इति न किञ्चदपि वाक्यम-द्वितीयब्रह्मप्रतिपादनेन विरुध्यते ।

उपासनायाः प्रकरणं उपासनाप्रकरणम् तत्र पठितानि यानि सगुणब्रह्मवाक्यानि, तेषाम् । सगुणस्य ब्रह्मणो बोधकं वाक्यं सगुणब्रह्मवाक्यम् । उपासनायाः विधिः विधानम् तत्र अपेक्षितो यो गुणारोपः, तन्मात्रपरत्वं तन्मात्रबोधकत्वम् । निर्गुणस्य प्रकरणं निर्गुणप्रकरणम्, तत्र पठितानि निर्गुणप्रकरणपठितानि तेषाम् । सगुण-

वाक्यानां = सगुणब्रह्मबोधकवाक्यानाम् । निषेधवाक्यार्थं अपेक्षित निषधवाक्यापेक्षितम्, तादृशं यत् निषेध्यं, तत्समर्पकत्वेन = तत्प्रापकत्वेन । अयं भावः—उपासनाप्रकरणपठितानि सगुणब्रह्मबोधकवाक्यानि न ब्रह्मणि तात्त्विकगुणप्रतिपादकानि । येन गुणानद्वितीयत्वेनादाय अद्वितीयत्वनिरासः स्याद् ब्रह्मणः । किन्तु उपासनार्थं आरोपितगुणे प्रतिपादकानीति न तात्त्विकाद्वैतव्याघातः । निर्गुणस्य ब्रह्मणः प्रतिपादके तु प्रकरणे पठितानि सगुणब्रह्मवाक्यान्यपि नेति नेतीति निषेधार्थमेव निषेध्यस्य गुणस्य प्रतिपादकानि । अप्राप्तस्य निषेधासम्भवात् । तथा च तत्प्रतिपादितस्यापि गुणस्य आरोप्यत्वेन तात्त्विकत्वाभावात् न तमादाय द्वैतापत्त्या अद्वितीयत्वनिरास इति सर्वथा अद्वैतब्रह्मण्येव श्रुतितात्पर्यमिति ।

सृष्टिलयप्रतिपादनेन तद्घटितं लक्षणमुपपाद्य लक्षणस्वरूपमाह—

तदेवं स्वरूपतटस्थलक्षणलक्षितं तत्पदवाच्यमीश्वरचैतन्यं मायाप्रतिबिम्बरूपमिति केचित् ।

तत् = तस्मात् । एवं = प्रोक्तप्रकारेण स्वरूपं च तटस्थं च स्वरूपतटस्थे । ते एव लक्षणे स्वरूपतटस्थलक्षणे ताभ्या लक्षितम् । लक्षितं = तादृशलक्षणयोगि । तत्पदवाच्यम् = तत्त्वमसीति महावाक्यघटकतत्पदनिष्ठवाचकतानिरूपितवाच्यतावत् । ईश्वरमेव चैतन्यं = ईश्वरचैतन्यम् । मायाप्रतिबिम्बरूपं = मायाया यत् प्रतिबिम्बं = प्रतिफल, तद्रूपं = तदात्मकम् । केचिदित्यनन्तरं वेदान्तिन इति शेषः ।

प्रतिबिम्बमात्रस्य बिम्बसापेक्षतया, तज्जिज्ञासाया प्रक्रियां स्पष्टयति ।

तेषामयमाशयः—जीवपरमेश्वरसाधारणं चैतन्यमात्रं बिम्बम् । तस्यैव बिम्बस्याविद्यात्मिकायां मायायां प्रतिबिम्बमीश्वरचैतन्यम् । अन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बं जीवचैतन्यम् ।

तेषां = ईश्वरस्य माया प्रतिबिम्बतावादिनाम् । जीवपरमेश्वरसाधारणम् = तदुभयानुस्यूतम् । चैतन्यमात्रम् = शुद्धं चैतन्यम् । बिम्बं = प्रतिबिम्बतानिरूपकम् । तस्यैव = शुद्धचैतन्यस्यैव । इदं बिम्बस्येत्यस्य विशेषणम् । अविद्यात्मिकायां सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयरूपायाम् । अन्तःकरणेषु बुद्धिषु ।

अयं भावः—यथा बिम्बरूपस्य सूर्यस्य एकस्यां महानद्यां एकं प्रतिबिम्बमवलोक्यते लोकैः । अनेकेषु च सरावावच्छिन्नजलेषु तस्यैव सूर्यस्य सरावसंख्याकानि प्रतिबिम्बानि समवलोक्यन्ते, तथैव एकस्यैव चितः सूर्यस्थानीयस्य एकस्यां मायायां व्यापिकायां यत्प्रतिबिम्बमुत्पद्यते प्रातीतिकं तदीश्वरः । यच्चानेकेष्वन्तःकरणेषु सरावाच्छिन्नजलस्थानीयेषु अन्तःकरणेषु तस्यैव चितः अनेकानि प्रतिबिम्बानि समुत्पद्यन्ते प्रातीतिकानि, तान्येव जीवाः । तत्र माया प्रतिबिम्बरूपस्येश्वरस्यैव लक्षणं सृष्टिस्थितिलयकर्तृत्वादिरूपं प्रागुक्तमिति ।

ननु कल्पनामात्रप्रसूता इयं प्रक्रिया ? आहोस्वित् प्रामाणिकी ? इत्याशङ्कायामाह—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः । इति श्रुतेः ।

कार्योपाधिः = अन्तःकरणप्रतिबिम्बरूपः । कारणोपाधिः मायाप्रतिबिम्बमूलः ।

ननु तर्हि जीवेश्वरयोर्वैलक्षण्यानुपपत्तिः उभयोः चित्प्रतिबिम्बत्वात् इत्याशङ्कायामाह—

एतन्मते जलाशयगतशरावगतसूर्यप्रतिबिम्बयोरिव जीवपरयोर्भेदः ।

जलाशये गतिर्ज्ञानं यस्य तत् जलाशयगतम् । एवं शरावगतमित्यपि । इदं सूर्यप्रतिबिम्बविशेषणम् । परः परमेश्वरः । जीवश्च परश्च इति जीवपरौ तयोः
अयं भावः—यथा महानदीगतं प्रतिबिम्बं न शरावाच्छि[illegible]प्रतिबिम्बभिन्नम्, अपि तु विलक्षणम्, तथा प्रकृतेऽपि वैलक्षण्यमक्षुण्णमिति ।

भेदकान्तरमाह—

अविद्यात्मकोपाधेर्व्यापकतया तदुपाधिकेश्वरस्यापि व्यापकत्वम् । अन्तःकरणस्य परिच्छिन्नतया तदुपाधिकजीवस्यापि परिच्छिन्नत्वम् ।

अविद्या एव उपाधिः स्वरूपं यस्य असौ अविद्यात्मकः, स एव च उपाधिः अविद्यात्मकोपाधिः तस्य । व्यापकतया = देशान्तरापरिच्छिन्नतया । परिच्छिन्नतया

= अव्यापकतया । उपाधित्वमत्रपक्षे प्रतिबिम्बाधारत्वरूपं बोध्यम् । स्वाधारयोः मायान्तःकरणयोः परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्वकृतमपि जीवेश्वरयोर्वैलक्षण्यमिति ।

मतेऽस्मिन् दोषोद्भावनपूर्वकं मतान्तरमाह—एतन्मते अविद्याकृत-दोषाः जीव इव परमेश्वरेऽपि स्युः । उपाधेः प्रतिबिम्बमात्रपक्षपाति-त्वात् । बिम्बात्मकमीश्वरचैतन्यमित्यपरे ।

एतन्मते—ईश्वरप्रतिबिम्बत्वमते । प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात् = प्रतिबिम्बे स्वगतदोषादिज्ञापकत्तवात् । अयं भावः—जलगतस्य चलनादेः प्रतिबिम्ब एव भानं भवति न बिम्बे इति सर्वजनप्रत्यक्षम् । सति चैवं उपाधिभूताविद्यागतदोषस्य भानं परमेश्वरेऽपि स्यात् । न चेदं सुसहम् ईश्वरे दोषकल्पनाया अनुचितत्वात् । ईश्वरचैतन्यं न प्रतिबिम्बभूतं अपि पु बिम्बभूतम् । तत्र चोपाधिदोषास्पर्शान्नोक्त-दोषावकाश इति ।

प्रक्रियां विशदयन् पूर्वमतप्राप्तं दोषं परिहरति—

तेषामयमाशयः—एकमेव चैतन्यं बिम्बत्वाक्रान्तमीश्वरचैतन्यं । प्रतिबिम्बत्वाक्रान्तं च जीवचैतन्यम् । बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनोपाधिश्च एकजीववादे अविद्या । अनेकजीववादे तु अन्तःकरणान्येव । अविद्या-न्तःकरणोपाधिप्रयुक्तो जीवपरयोर्भेदः । उपाधिकृतदोषाश्च प्रतिबिम्बे जीवे एव वर्त्तन्ते न तु बिम्बे परमेश्वरे । उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपाति-त्वात् । एतन्मते गगनसूर्यस्य जलादौ भासमानप्रतिबिम्बसूर्यस्य जीव-परयोर्भेदः ।

तेषां = ईश्वरबिम्बत्ववादिनाम् । बिम्बत्वाक्रान्तं = बिम्बत्वयोगि । एवमन्य-त्रापि । एकजीववादे=जीवैकत्वे । अविद्या च अन्तःकरणानि, च अविद्यान्तःकरणानि, तान्येवोपाधयः । तत्प्रयुक्तः =तन्मूलकः । जीवपरयोर्भेदः जीवपरभेदः । एकजीववादे अविद्यायाः अनेकजीवादे अन्तःकरणानां जीवोपाधितया, बिम्बभूतस्येश्वरस्य च उभय-वादे निरूपाधितया जीवस्य जीवानांच परमेश्वराद्भिन्नत्वमित्यर्थः । गगनं=आकाशः तद्गतः सूर्यो गगनसूर्यस्तस्य । अयं भावः—प्रतिबिम्बदर्शनं तत्त्वतो [illegible] ।

जलादिपराहृतनयनरश्मिभिः बिम्बस्य दर्शनात् । इति बिम्बमेव तत्त्वं नान्यत् किञ्चिदपि प्रतिबिम्बत्वेन व्यापमानम् इति बिम्बप्रतिबिम्बयोः जीवपरयोरभेद एव तत्त्वतः एकजीववादे नानाजीववादे चेति ।

शङ्कते—

ननु ग्रीवास्थमुखस्य दर्पणप्रवेश इव बिम्बचैतन्यस्य परमेश्वरस्य जीवप्रदेशेऽभावात् तस्य सर्वान्तर्यामित्वं न स्यात् ।

गलप्रदेशो ग्रीवा, तत्रस्थितं मुख ग्रीवास्थमुखम्, तस्य । दर्पणप्रदेशो दर्पणाभ्यन्तरभागः, तत्र । तस्य = परमेश्वरस्य । सर्वान्तर्यामित्वं साक्षितया सर्वान्तर्विद्यमानत्वम् । अयं भावः—प्रतिबिम्बाधारात् अनव्यवहितस्य नातिसंसृष्टस्य वस्तुनो बिम्बत्वं भवतीति सर्वजनसिद्धं चन्द्रसूर्यादौ बिम्बे । प्रकृते तु स्वतो व्यापकोपाधिकतया, परतश्च परमेश्वरस्य व्यापकत्वेन, प्रतिबिम्बत्वेनाभिमतस्य जीवस्याधारभूतान्तःकरणेऽपि संसृष्टतया नातिसंसृष्टत्वाभावेन कथं नाम बिम्बत्वम् ? तदभावे च कथं वा जीवस्य प्रतिबिम्बत्वम् ? यदि बिम्बप्रतिबिम्बभावनिर्वाहाय स्वीक्रियते परमेश्वरस्यापि सूर्यादिवत् जीवदेशानतिसंसृष्टत्वं तदा श्रुतिसिद्धं सर्वान्तर्यामित्वं विलोपमुपयाति । साक्षितया सर्वान्तर्विद्यमानस्यैव तत्त्वात् । बिम्बत्वनिर्वाहार्थं च तथाभावाभ्युपगमादिति ।

उत्तरयति—

इति चेन्न । साभ्रनक्षत्रस्य जलादौ प्रतिबिम्बितत्वे बिम्बभूतमहाकाशस्य जलादिप्रदेशे सम्बन्धदर्शनेन परिच्छिन्नबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशासम्बन्धित्वेऽपि अपरिच्छिन्नबिम्बस्य प्रतिबिम्बदेशसम्बन्धाविरोधात् ।

अभ्रेण नक्षत्रेण च सहितं साभ्रनक्षत्रं, तस्य । आकाशस्येति यावत् । प्रतिबिम्बितत्वे =प्रतिबिम्बत्वप्राप्तौ । परिच्छिन्नं बिम्बं परिच्छन्नबिम्बं तस्य । प्रतिबिम्बदेशासम्बन्धित्वेऽपि = प्रतिबिम्बदेशसम्बन्धाभावेऽपि । प्रतिबिम्बदेशसम्बन्धाविरोधात् = प्रतिबिम्बदेशसम्बन्धे विरोधाभावात् । अयं भावः—द्विविधं खलु भवति बिम्बं परिच्छिन्नमपरिच्छिन्नं च । तत्र परिच्छिन्नबिम्बस्यैवायं नियमो यत् प्रति-

बिम्बदेशेन नातिसंसृष्टत्वम्, न त्वपरिच्छिन्नस्य तस्य । जलमध्यस्थस्याप्याकाशस्य व्यापकस्य जले प्रतिबिम्बदर्शनात् । तथा चेश्वरस्य जीवप्रदेशसम्पृक्तत्वेन सर्वान्तर्यामित्वं, जीवनिष्ठप्रतिबिम्बतानिरूपकत्वेन च बिम्बत्वं चेति न किञ्चिदनुपपन्नमिति ।

अन्या शंकामपाकरोति—

न च रूपहीनस्य ब्रह्मणः न प्रतिबिम्बसम्भवः, रूपवत एव तथात्वदर्शनादिति वाच्यम् । नीरूपस्यापि रूपस्य प्रतिबिम्बदर्शनात् ।

न चेति वाच्यमिति परेणान्वयः । रूपहीनस्य = रूपात्यन्ताभाववतः । तथात्वदर्शनात् = बिम्बत्वदर्शनात् । नीरूपस्य = रूपात्यन्ताभाववतः । अयमाशयः— नायं नियमो यत् रूपवत एव भवति प्रतिफलम् । गुणे गुणाभावेन रूपरहितस्य जवाकुसुमलौहित्यस्यापि स्फटिके प्रतिफलनदर्शनात् । तथा च रूप इव नीरूपस्यापि ब्रह्मणः मायाख्यायामविद्यायां प्रतिफलनं सम्भवेन जीवब्रह्मणोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावे बाधकाभाव इति ।

ननु नीरूपगुणप्रतिफलनदृष्टान्तोपलब्धावपि नीरूपस्य द्रव्यस्य प्रतिफलनदृष्टान्ताभावेन द्रव्यस्य तथा विधस्याविद्यायां प्रतिफलनासम्भव इत्याशकां निराकुरुते—

न च नीरूपस्य द्रव्यस्य प्रतिबिम्बाभावनियमः । आत्मनो द्रव्यत्वाभावस्योक्तत्वात् ।

प्रतिबिम्बस्याभावः—प्रतिबिम्बाभावः, तस्य नियमः = अव्यभिचारः । द्रव्यस्येति सम्बन्धे षष्ठी । तथा च द्रव्यसम्बन्धिप्रतिबिम्बाभावनियमः, इत्यर्थः । विशेषतो निष्ठत्वार्थकत्वे तु प्रतिबिम्बाभाव इत्यस्य प्रतिबिम्बनिरूपितबिम्बत्वाभाव इत्यर्थः । अयं भावः— नीरूपस्यप्रतिफलनं न भवतीति नोच्यते, किन्तु नीरूपस्य द्रव्यस्य प्रतिफलनं न भवतीति । तथा च नीरूपद्रव्यस्येश्वरस्य कथं प्रतिबिम्बसम्भव इत्यापि न शक्यते वक्तुम् । प्रोक्तनियमस्वीकारेऽपि परमेश्वरस्य द्रव्यत्वमेव नाभ्युपेयते, येन स्यादपि प्रश्नस्यावकाश इति परमेश्वरस्य बिम्बत्वं निराबाधमेवेति ।

ननु ब्रह्मबिम्बत्वाभाववत् विषयित्वात् यन्नैवं तन्नैवम् यथामुखम् इत्यनुमानस्य जागरूकतया कथमीश्वरस्य बिम्बत्वमित्याशङ्कायामाह—

"एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपोभिन्ना बहुधैकोनुगच्छन्" इत्यादि वाक्येन ब्रह्म प्रतिबिम्बाभावानुमानस्य बाधितत्वाच्च ।

जले चन्द्रः जलचन्द्रः प्रतिबिम्बचन्द्र इत्यर्थः तद्वत् । दृश्यते इत्यनन्तरं ब्रह्मेति शेषः । ज्योतिरात्मा = ज्योतिस्वरूपः । विवस्वान् सूर्यः । एकः = एकोऽपि । भिन्ना अपः अनुगच्छन् बहुधा इति सम्बन्धः । भवतीति शेषः । **आगमविरुद्धस्यानुमानस्याभासतया "नरशिरःकपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात् शंखवत्" इत्यनुमानमिव प्रोक्तबिम्बत्वाभावानुमानस्य बाधितत्वादाभासत्वम् । इति तत्तेन बिम्बत्वक्षति-[illegible] भावः ।**

उपसंहरन् प्रतिजानीते—

तदेवं तत्पदार्थो निरूपितः । इदानीं त्वं पदार्थो निरूप्यते ।

तदेवं = प्रोक्तेन प्रकारेण । तत् पदार्थः = तत्त्वमसीत्येतद्घटकतत्पदस्यार्थः । निरूपितः = बोधानुकूलव्यापारविषयीकृतः । त्वम्पदार्थः = उक्तमहावाक्यघटकस्य त्वम्पदस्यार्थः । निरूप्यते = बोधानुकूलव्यापारविषयीक्रियते ।

निरूपयन्नाह—

अथ त्वेकजीववादे अविद्याप्रतिबिम्बो जीवः अनेकजीववादे अन्तःकरणप्रतिबिम्बः । स च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपावस्थात्रयवान् ।

अविद्यायां प्रतिबिम्बः अविद्याप्रतिबिम्बः । अन्तःकरणे प्रतिबिम्बः अन्तःकरणप्रतिबिम्बः । न स्वच्छ एव पदार्थे प्रतिबिम्बसम्भवादनयोश्चास्वच्छतया कथं प्रतिबिम्बसम्भव इति तु न शंक्यम् स्वच्छसत्त्वप्रधानत्रिगुणात्मकत्वेन तयोरपि स्वच्छत्वात् । स च = जीवश्च । चस्त्वर्थे । जागृच्च स्वप्नं च सुषुप्तिश्च जागृत्स्वप्नसुषुप्तयः, तान्येव अवस्थात्रयं, तद्वान् । अवस्थात्रयसम्पन्न इत्यर्थः ।

ननु का तत्र जाग्रदवस्था ? इति जिज्ञासायामाह—

तत्र जाग्रदवस्था नाम इन्द्रियजन्यज्ञानावस्था ।

इन्द्रियजन्यं यत् ज्ञानं तेनावस्था = अवस्थितिः । इन्द्रियजन्यवर्त्तमानज्ञान-परिणामाभ्यन्तःकरणावच्छिन्नत्वमित्यर्थः ।

ननु ज्ञानावस्थेत्युच्यताम् किमिन्द्रियजन्यत्वनिवेशेनेत्यत आह—

अवस्थान्तरे इन्द्रियाभावान्नातिव्याप्तिः ।

अवस्थान्तरे = स्वप्नादौ । नातिव्याप्तिरितिसम्बन्धः । इन्द्रियाणामभावः इन्द्रियाभावः तस्मात् लयेनेति शेषः । अयमाशयः—यदि धर्मज्ञानावस्थेत्येतावदुच्यते तदा स्वप्नसुषुप्त्योरतिव्याप्तिः । नित्यस्य स्वरूपज्ञानस्य तयोरपि सत्त्वात् । यदि जन्यज्ञानावस्थेत्युच्यते तदा सुषुप्तावतिव्याप्तिः । अन्तःकरणजन्यज्ञानस्य तदानीमपि सत्त्वात्, अतः इन्द्रियपदमिति ।

ननु ज्ञानस्य नित्यत्वेन तत्रेन्द्रियजन्यत्वमेवासम्भूतमिति जिज्ञासायामाह—

इन्द्रियजन्यं ज्ञानं चान्तःकरणवृत्तिः । स्वरूपज्ञानस्यानादित्वात् ।

चकारस्त्वर्थः । अन्तःकरणस्य वृत्तिः परिणामः । ज्ञानं द्विविधं मुख्यं गौणं च । तत्र मुख्यज्ञानस्य नित्यत्वेऽपि गौणस्यान्तःकरणवृत्तिरूपस्य तस्य इन्द्रियजन्य-त्वमबाधितमेवेतिभावः ।

ननु गौणज्ञानरूपा अन्तःकरणवृत्तिः कथमभ्युपेया ? स्वरूपचैतन्ये एव हि स्वप्रकाशे विषयाणामध्यस्तत्वेन तत्संसृष्टतया, ततो विषयप्रकाशनसम्भवात् इत्या-शंकायामाह—

सा चान्तःकरणवृत्तिरावरणाभिभवार्था इत्येकं मतम् ।

अन्तःकरणस्य बुद्धेः वृत्तिः परिणामः । आवृयते चैतन्यमनेनेत्यावरणं अज्ञानं, तस्याभिभवः तिरस्कारः, तदर्था = तत्प्रयोजना ।

उक्तमर्थं विशदयति —

तथा हि अविद्योपहितचैतन्यस्य जीवत्वपक्षे घटाधिष्ठानचैतन्यस्य जीवरूपतया, जीवस्य सर्वदा घटादिभानप्रसक्तौ घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यावरकमज्ञानं मूलाविद्यापरतन्त्रमवस्थापदवाच्यमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । एवं सति घटादेर्न भानप्रसङ्गः । अनावृतसम्बन्धस्यैव भानप्रयोजकत्वात् । तस्य चावरणस्य सदातनत्वे कदाचिदपि घटभानं न स्यात् इति तद्भङ्गे वक्तव्ये तद्भङ्गजनकं न चैतन्यमात्रम् । तद्भासकस्य तदनिवर्त्तकत्वात ।

अविद्यया उपहित चैतन्य अविद्योपहितचैतन्य, तस्य । उपहितत्वमवच्छिन्नत्वम् । तथा चाविद्यावच्छिन्नचैतन्यस्य जीवतापक्ष इत्यर्थः । इदमवच्छेदवादे । प्रतिबिम्बवादे तु अविद्याया उपहित = प्रतिविम्बित चैतन्य अविद्योपहितचैतन्यम् । अविद्याप्रतिबिम्बभूतचैतन्यमित्यर्थः तस्य जीवत्वपक्षे । घटादेरधिष्ठान = आरोपस्थानम् यच्चैतन्यमुक्तरूपं तस्य । जीवस्य सर्वदा यद् घटादिभान, तत्प्रसक्तौ = तस्य सर्वदैव घटादिभासकत्वापत्ताविति तत्सरलार्थं । घटादिना अवच्छिन्नं चैतन्यं घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यम् । तादृशचैतन्यस्यावरकं = आच्छादकम् । मूलभूता अविद्या अज्ञानं मूला विद्या, तत्परतन्त्रं = तदधीनम् अवस्था शब्देन उच्यते इति अवस्थाशब्दवाच्यम् । अवस्थासंज्ञकमिति तदर्थ. । एतत् त्रितयमज्ञानविशेषणम् । अभ्युपगन्तव्यम् = स्वीकरणीयम् । न आवृतं अनावृतं, तादृक् चैतन्यमित्यर्थः । तस्य सम्बन्धः अनावृतसम्बन्धः तस्यैव । भानं = अन्तःकरणवृत्त्यात्मकज्ञानं, तस्य प्रयोजकं, भानप्रयोजकम् तस्य भावः तत्त्वम् तस्मात् । तस्य अवस्थापदवाच्यस्याज्ञानस्य । सदातनत्वे = सार्वदिकत्वे । घटभानं = घटस्य विषयीकरणम् । तद्भङ्गे = आवरणभंगे । तस्य आवरणस्याज्ञानस्य भंगो नाशः, तस्य जनकं = कारण, तद्भंगजनकम् । चैतन्यमात्रं = शुद्धचैतन्यम् । तदनिवर्त्तकत्वात् = तन्निवर्तकत्वाभावात् । **अयं भावः—जीवस्य प्रपञ्चाधिष्ठानत्वपक्षे अविद्यावच्छिन्नचैतन्यात्मके जीवे घटादेरध्यासो भवतीति मन्तव्यम् । सति चैवं प्रकाशकजीवचैतन्यप्रकाश्य-[illegible]चैतन्ययोरन्तराले यदि व्यवधायकं किमपि न स्यात् तर्हि प्रसज्येत सर्वदैव भानं घटादेरिति स्वीकर्त्तव्यं व्यवधायकं किञ्चित् द्वयोरन्तराले । तच्च व्यवधायकं न मूलाज्ञानं भवितुमर्हति । तस्य तत्त्वे मोक्षाव्यवहितपूर्वमहं ब्रह्मास्मीत्यनेनैव नाशेन, मध्ये स्वावरणभंगेन घटादिभानानुपपत्तिप्रसङ्गात् । अतस्त-**

त्कार्यभूतं तूलाज्ञानं आवरणत्वेनाभ्युपगन्तव्यम् । यन्नाशे आवरणाभावेन अर्हति प्रकाशयितुमविद्यावच्छिन्नं चैतन्यं घटादिकं प्रदीपादिरिवानव्यवहितं वस्तु । सति चैवं तन्नाशजनकापेक्षायां भवति खलु प्रयोजनमन्तःकरणवृत्तेः तन्नाशाय । वृत्तेरपि गौणज्ञानतया तेनाज्ञाननाशस्य युक्तिसिद्धत्वात् । विरोधिनैव विरोधिखण्डनस्य लोकसिद्धत्वात् । वृत्तिं विनाकृत्य चैतन्यमात्रेणोक्तज्ञाननाशः शक्यते नाभ्युपगन्तुम् । तस्याज्ञानावभासकत्वेन तन्नाशकत्वायोगात् ।

एवं जीवानधिष्ठानत्वपक्षेऽपि युक्तेयं प्रक्रिया, ईश्वरादावपि कल्पितस्य घटादेः जीवकर्तृकावभासनानङ्गीकारे घटादेर्जीवावभास्यत्वमनुभवसिद्धं न स्यात् कादाचित्कीमिति तयोर्मध्ये व्यवधायकमपि कादाचित्कं वाच्यम् । तन्निवृत्तिरपि कादाचित्की वाच्या । तन्निवर्तकमपि च कादाचित्कं वाच्यमिति सैवान्तःकरणस्य वृत्तिर्यया प्रोक्तं कादाचित्कत्वं सम्पद्यतेऽनुभूयमानम् । एवं हि नामावधेयम्—यत् गिरिशृंगादेर्हिमाच्छादितत्वे सत्यपि सवितृप्रकाशे तावत् शृंगज्ञानं न भवति यावत् तपनमण्डलनिर्गतैः किरणैर्न भवति तुषारविलयः । भवति च तथा भवत्येव तथेति सर्वानुभवसिद्धम् । तथा प्रकृतेऽपि बोध्यम् । तपनस्थानीयं चैतन्यं तन्मण्डलस्थानीया अविद्या । किरणस्थानीया वृत्तिः । तुषारस्थानीयमज्ञानम् । गिरिशृंगस्थानीयो घटादिः । इत्यावरणभंगार्थावृत्तिः समभ्युपगता भवति ।

ननु वृत्तिस्वीकारेऽपि तस्य गौणज्ञानत्वेन तन्मात्रस्यैव कुत अज्ञाननाशकत्वमास्थीयते ? अज्ञानोपहितचैतन्यस्य तदा स्थीयतामिति जिज्ञासायामाह—

नाद्य वृत्त्युपहितं चैतन्यम् । परोक्षस्थलेऽपि तन्निवृत्त्यापत्तेः । इति परोक्षव्यावृत्तवृत्तिविशेषस्य, तदुपहितचैतन्यस्य वा आवरणभङ्गजनकत्वमित्यावरणाभिभवार्था वृत्तिरुच्यते ।

परोक्षस्थलेऽपि = अनुमित्यादिपरोक्षवृत्तिस्थलेऽपि । तन्निवृत्त्यापत्तेः = आवरणनिवृत्त्यापत्तेः । अयं भावः—सामान्यतो वृत्त्युपहितचैतन्यस्यावरणभंगजनकत्वमभिप्रेतम् । आहोस्वित् वृत्तिविशेषोपहितस्य ? आद्ये अनुमित्यादिस्थलेऽपि तदात्मकवृत्तिसमुपहितचैतन्येनावरणभंगे वह्न्यादेः साध्यस्य स्पष्टावभासापत्त्याऽपरोक्षत्वापत्तिः । द्वितीयेऽपि यदि अनमित्यादेर्वृत्तिविशेषपदेन परिग्रहः तदा सैवापत्तिः । यदि च वृत्तिपदेन परोक्षभिन्नावृत्तिर्विवक्षिता तदा [illegible]

पहितचैतन्यस्यापि भवितुमर्हत्यावरणभञ्जकत्वम्। किन्तु भञ्जकतावच्छेदकं गुरु स्यादित्येतावन्मात्रमिति। वृत्तिसमुपयोगस्तूभयथा।

वृत्त्युपयोगे मतान्तरमाह—

सम्बन्धार्था वृत्तिरित्यपरं मतम्। तत्राविद्योपाधिकोऽपरिच्छिन्नो जीवः। स च घटादिप्रदेशे विद्यमानोऽपि घटाद्याकारापरोक्षवृत्तिविरह-दशायां न घटादिकमवभासयति। घटादिना सह सम्बन्धाभावात्। तत्तदाकारवृत्तिदशायां तु भासयति। तदा सम्बन्धसत्त्वात्।

सम्बन्धार्था = विषयचैतन्ययोः सम्बन्धार्था। तत्र = तस्मिन् मते। घटादि-प्रदेशे इत्यनन्तरं विद्यमानोऽपीत्यतः पूर्वं व्यापकत्वादिति शेषः। घटाद्याकारा = अयं घट इत्याद्याकारा या अपरोक्षा वृत्तिः तस्याः यो विरहः = अभावः, तद्दशायां = तत्काले। नावभासयतीति सम्बन्धः। जीवो घटादिकं न प्रकाशयतीत्यर्थः। सम्बन्धा-भवात् = प्रकाशननियामकसम्बन्धाभावात्। तत्तदाकारा = घटाद्याकारा या वृत्तिः, तद्दशायां = तत्काले। भासयति = प्रकाशयति। घटादिकमिति शेष.। **अयं भावः—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावनिश्चयो भवतीति सर्वानुमतम्। सति चैवं वृत्तिकाले घटप्रकाशात् तद्विरहकाले च तदप्रकाशात् विद्यते वृत्तेः कोऽपि समुपयोगः, इति निश्चीयते। ततो विशेषजिज्ञासायां जीवघटयोः सम्बन्धविशेष-सम्पादकतया तदुपयोग इति।** निश्चीयते अन्वयव्यतिरेकौ व्यर्थौ स्यातामन्यथेति। कथं सम्बन्धसम्पादकत्वमिति चेत् इत्थम्—अन्तःकरणस्य घटाकारधारणमेव हि तद्वृत्तिः। अन्तःकरणं च जीवचैतन्योपाधिभूताया अविद्याया एव परिणाम इति स्वाश्रिता विद्यापरिणामभूतान्तःकरणकारकत्वं सम्बन्धः सम्पद्यते इति।

शङ्कते—

नन्वविद्योपाधिकस्यापरिच्छिन्नस्य जीवस्य स्वत एव समस्त वस्तु-सम्बद्धस्य वृत्तिविरहदशायां, सम्बन्धाभावाभिधानमसङ्गतम्। असङ्ग-त्वदृष्ट्या सम्बन्धाभावाभिधाने च वृत्त्यनन्तरमपि सम्बन्धो न स्यात्।

अविद्या उपाधिर्यस्य सा अविद्योपाधिकः, तस्य। अपरिच्छिन्नस्य = व्यापकस्य। स्वत एव = वृत्तिमनादृत्यापि। समस्तं वस्तु समस्तवस्तु, तेन सम्बद्धं समस्त-

वस्तुसम्बद्धम्, तस्य । इदं जीवविशेषणम् । सम्बन्धस्याभावः सम्बन्धाभावः, तस्याभिधानं सम्बन्धाभावाभिधानम् । वृत्ति विनेति शेषः । असङ्गतं अनुचितम् । न संगः अस्यास्तीत्यसंगः । तस्याभावः असङ्गत्वम्, तस्य दृष्टिः = आत्मासङ्गरहित इति बुद्धिः, तया । सम्बन्धस्याभावः सम्बन्धाभावः, तस्याभिधानं = कथनम्, तस्मिन् । चस्त्वर्थे । वृत्त्यनन्तरमपि अन्तःकरणवृत्त्यव्यवहितोत्तरकालमपि । सम्बन्धो न स्यात् = वृत्तिप्रयोजनत्वेनाभिमतस्य सम्बन्धस्याभाव आपतेत् । आत्मनः असंगत्वस्य स्वाभाविकत्वादित्यर्थः । **अयं भावः—अविद्योपाधिकस्य जीवचैतन्यस्य व्यापकत्वेन = सर्वमूर्त्तसम्बन्धित्वेन वृत्त्यभावेऽपि सम्बन्धः स्वत एव स्यादिति कृतं वृत्तिकल्पनेन । यदि च आत्मन असंगतया स्यात् सम्बन्धाभावः, तदा वृत्तिशतेनापि न शक्यते सम्पादयितुं जीवघटाद्योः सम्बन्ध इति तथापि कृतं वृत्तिस्वीकारेणेति ।**

उत्तरयति—

इति चेत् उच्यते । न हि वृत्तिविरहदशायां जीवस्य सम्बन्धसामान्यं निषेधामः । किन्तु घटादिभानप्रयोजकं सम्बन्धविशेषम् । स च सम्बन्धविशेषः विषयस्य जीवचैतन्यस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावलक्षणः कादाचित्कः, तत्तदाकारवृत्तिनिबन्धनः ।

न हि निषेधाम इति व्यवहितेन सम्बन्धः । घटादेर्भानं घटादिभानं, तस्य प्रयोजकम् । इदं सम्बन्धविशेषणम् । वृत्ति विना निषेधाम इति व्यवहितेन सम्बन्धः । व्यङ्ग्यभावो व्यंग्यत्वं घटादिनिष्ठम्, व्यंजकभावो व्यञ्जकत्वं, जीवनिष्ठं, तल्लक्षणः = तत्स्वरूपः । स्वनिष्ठव्यञ्जकतानिरूपितव्यंग्यतास्वरूपसम्बन्धो जीवस्य विषये इत्यर्थः । कादाचित्कः असार्वदिकः । तत्तदाकारा = घटाद्याकारा या वृत्तिः, तन्निबन्धनः = तन्मूलकः । **अयमाशयः—व्यापकस्य सर्वमूर्त्तैः वस्तुसम्बन्धः स्वाभाविक एव भवति न तत्र वृत्त्यपेक्षेति सत्यम् । किन्तु घटादिभानप्रयोजको वृत्त्यधीनो जीवस्य सम्बन्धविशेषो वृत्तिं विना न स्यादिति वृत्तिमवश्यमभ्युपेयेति । वृत्त्यभ्युपगमे च तदधीनस्य जीवप्रतियोगिकव्यञ्जकानुयोगिकनिरुक्तसम्बन्धसम्पत्त्या न घटादेः प्रकाशनानुपपत्तिरिति ।**

एतदेव विशदयति—

तथा हि तैजसमन्तःकरणं स्वच्छद्रव्यात् स्वत एव जीवचैतन्याभिव्यञ्जनसमर्थम् । घटादिकं तु न तथा, अस्वच्छद्रव्यत्वात् । स्वाकार-

वृत्तिसंयोगदशायां तु वृत्त्यभिभूतजाड्यधर्मकतया वृत्त्युत्पादितचैतन्याभिव्यञ्जनयोग्यताश्रयतया च वृत्त्युदयानन्तरं चैतन्यमभिव्यनक्ति।

तैजसं = तेजोनिष्पन्नम्। अन्तःकरणं बुद्धिः। स्वत एव = वृत्ति विनैव। जीवचैतन्यस्याभिव्यञ्जनं प्रतिफलनं, तत्समर्थम्। स्वाकारा = घटाद्याकारा या वृत्तिः = अन्तःकरणस्य परिणामः, तस्य यः सयोगः, तद्दशायाम् = तत्काले। वृत्त्या अभिभूतं जाड्यं धर्मो यस्य असौ वृत्त्यभिभूतजाड्यधर्मकः, तस्य भावस्तत्ता तया। वृत्त्या उत्पादिता या चैतन्याभिव्यञ्जनयोग्यता, तस्य यः आश्रमः, तस्य भावस्तत्ता तया। वृत्तेरुदयः = उत्पादः, तदनन्तरम्। चैतन्यं अभिव्यनक्ति = स्वस्मिन् चैतन्यप्रतिबिम्बमादधाति। **अयमाशयः—अहं सुखीत्याद्यन्तःकरणप्रकाशकाले नान्तःकरणवृत्त्यावश्यकता। अन्तःकरणस्य स्वतः स्वच्छतया तत्र वृत्तिमनपेक्ष्यैव चैतन्यात्मकप्रकाशप्रतिफलनात्। घटादेस्त्वतैजसत्वेन तत्र स्वतः प्रतिफलनासम्भवेन, तेषां भानस्थले अन्तःकरणस्य तत्तदाकारा वृत्तिः स्वीकरणीया।** तथा च स्वच्छस्यान्तकरणस्य स्वच्छायाः वृत्तेः घटाद्याकारधारणे, घटादेः स्वतः अस्वच्छत्वेऽपि स्वच्छान्तःकरणपरिणामरूपवृत्तिलिप्ततया, स्वतः अस्वच्छाया अपि स्वच्छकाचादिजद्विततया स्वच्छतामादधत्याः पार्थिवभित्तेः सूर्यादिप्रतिबिम्बग्राहित्वमिव भवति जीवचैतन्यप्रतिबिम्बग्राहित्वमिति न जीवचैतन्येन घटादिप्रकाशनवैधुर्यम्। वृत्त्यनभ्युपगमे स्वस्वच्छतया घटादौ जीवचैतन्यप्रतिफलनाभावेन तेषां प्रकाशो दुर्घट एव स्यादित्यतोऽवश्यमभ्युपेयान्तःकरणवृत्तिः। अत्र मते यत्र जीवस्य प्रतिफलनं तस्यैव प्रकाश्यत्वमिति नियमः।

उक्तार्थे विवरणं प्रमाणयति—

तदुक्तं विवरणे अन्तःकरणं हि स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिण्यपि घटादौ चैतन्याभिव्यक्तियोग्यतामापादयति इति—

चैतन्यस्य अभिव्यक्तिः = प्रतिफलनं, तस्य योग्यता = सामर्थ्यम्। आपादयति = सम्पादयति।

दृष्टान्तमुखेन स्पष्टयति—

दृष्टं चास्वच्छस्यापि स्वच्छद्रव्यसम्बन्धदशायां प्रतिबिम्बग्राहित्वम्। यथा कुड्यादेस्तैलसंयोगादिदशायां मुखादिप्रतिबिम्बग्राहित्वम्।

न स्वच्छो अस्वच्छः तस्य । स्वच्छं द्रव्यं स्वच्छद्रव्यं, तेन सह यः संयोगः, तद्दशायां = तत्काले । प्रतिविम्बग्राहित्वं प्रतिविम्बग्रहणसामर्थ्य, प्रतिविम्बाधार-त्वमित्यर्थः। कुड्यं = भित्तिः जलसंयोगेत्यप्युपलक्षणम् कायादिसंयोगेऽपि तत्सम्भवात् ।

ननु प्रोक्तप्रकारेण घटादेः प्रतिविम्बग्राहित्वेऽपि चैतन्याभिव्यञ्जकत्वं कथं सिद्धिमित्याकाक्षायामाह—

घटादेरभिव्यञ्जकत्वं च तत्प्रतिबिम्बग्राहित्वम् । चैतन्यस्याभि-व्यक्तत्वञ्च तत्र प्रतिबिम्बितत्वम् ।

तदभिव्यञ्जकत्वं तत्प्रतिबिम्बग्राहित्वञ्चैकमेव वस्तु । अभिव्यञ्जकत्वं प्रतिबिम्बतत्वमपि चैकमेव वस्तु इति चैतन्यप्रतिबिम्बग्राहित्वे घटादेः चैतन्याभि-व्यञ्जकत्वं स्वतः सिद्धमेवेति न प्रश्नावकाशः ।

ननु अन्तःकरणस्य बाह्यावच्छिन्नावृत्तिर्भवतीति निश्चायकाभावे कथं घटादे-र्वृत्तिलिप्तता ? कथं च तदभावे प्रतिबिम्बग्राहित्वमित्याकांक्षायामाह—

एवं विधाभिव्यञ्जकत्वसिद्धचर्थमेव वृत्तेरपरोक्षस्थले बहिर्निर्गम-नाङ्गीकारः । परोक्षस्थले तु वह्न्यादेः वृत्तिसंयोगाभावेन चैतन्या-व्यञ्जकतया नापरोक्षत्वम् ।

एवं विधं = प्रोक्तप्रकारं यत् अभिव्यञ्जकत्वं = चित्प्रतिबिम्बग्राहित्वं, तस्य या सिद्धिः, तदर्थम् । अपरोक्षस्थले वृत्तेर्बहिर्निर्गमनाङ्गीकार इति सम्बन्धः । वृत्तिसंयोगाभावेन = अन्तःकरणवृत्तिसंयोगाभावेन । वह्न्यादेः चैतन्याव्यञ्जकत-येति सम्बन्धः । जीवचैतन्यप्रतिबिम्बाग्राहितयेति तदर्थः । नापरोक्षत्वं न विषयगत-मपरोक्षत्वम् । अयं भावः—कार्यानुपपत्त्या भवति कारणकल्पनमिति सर्ववादिसिद्धम् । सति चैवं घटादेरनपलपनीयापरोक्षत्वानुपपत्त्या जीवचैतन्यप्रतिबिम्बग्राहित्वम्, तदनुपपत्त्या चान्तःकरणस्य बाह्यदेशावच्छिन्नवृत्तिभवनमभ्युपगमनीयम् । अत एव हि वह्न्याद्यनुमितिस्थले वह्नौ न विषयगतमापरोक्ष्यम् । तत्र वह्नेर्व्यवहितत्वेन अन्तःकरणस्य तदाकारधारणासम्भवेन बाह्यवृत्त्यनभ्युपगमात् । इति पारोक्ष्या-पारोक्ष्यभेदसाधनार्थमपि स्वीकरणीया बाह्यवृत्तिरन्तःकरणस्येति ।

प्रसङ्गादेतन्मतसिद्धं विषयगतमापरोक्ष्यं प्रतिपादयति—

एतन्मते विषयाणामापरोक्ष्यं चैतन्याभिव्यञ्जकत्वमिति द्रष्टव्यम्।

षष्ठ्यर्थो निष्ठत्वम्। तथा च विषयनिष्ठमापरोक्ष्यमित्यर्थः। चैतन्याभिव्यञ्जकत्वं = जीवचैतन्यप्रतिबिम्बाधारत्वम्। दष्टव्यम् = बोध्यम्।

जीवपरिच्छिन्नत्वे पक्षे वाचस्पतिमतेन वृत्त्युपयोगं दर्शयितुमाह—

एवं जीवस्यापरिच्छिन्नत्वपक्षेऽपि वृत्तेः सम्बन्धार्थत्वं निरूपितम्। इदानीं परिच्छिन्नत्वपक्षे वृत्तेः सम्बन्धार्थत्वं प्रतिपाद्यते।

एवं = कथितप्रकारेण। अपरिच्छिन्नत्वपक्षे = व्यापकत्वपक्षे। अपिकारेण मतेऽस्मिन्नस्वरस इति सूचितम्। परिच्छिन्नत्वपक्षे जीवस्यान्तःकरणावच्छिन्नतया अव्यापकत्वपक्षे। प्रतिपाद्यते = प्रतिपत्त्यनुकूलव्यापारविषयीक्रियते।

तथा हि अन्तःकरणोपाधिको जीवः। तस्य च घटाद्यनुपादानता। घटादिदेशासम्बन्धात्। किन्तु ब्रह्मैव घटाद्युपादानम्। तस्य मायोपहिततया सकलघटाद्यन्वयित्वात्। अत एव ब्रह्मणः सर्वज्ञता।

अन्तःकरणं उपाधिः अवच्छेदको यस्य स तथा। अन्तःकरणावच्छिन्न इत्यर्थः। तस्य = जीवस्य। घटाद्यनुपादानता = घटाद्यध्यासानधिष्ठानता। घटादिदेशासम्बन्धात् = घटादिदेशसम्बन्धाभावात्। ब्रह्मैव = न तु जीव इत्यर्थः। तस्य = ब्रह्मणः। मायया उपहितः मायोपहितः, तस्य मायोपहितस्येत्यर्थः। सकलं घटादि सकलघटादि। तदन्वयित्वं तत्सम्बद्धत्वं = तदनुस्यूतत्वम् तस्मात्। अत एव = सकलघटादिसम्बद्धत्वादेव। सर्वज्ञता = सर्वविषयकज्ञानत्वम्। अयं भावः—देहावच्छिन्नान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीवः। तस्य यथा न देहान्तरान्तःकरणान्तरसम्बद्धत्वं तद्वत् न घटादिदेशसम्बद्धत्वमपीति कृत्वा न तस्य घटाद्यध्यासाधिष्ठानत्वरूपघटाद्युपादानत्वसम्भवः, इति मतेऽस्मिन् अनेकजीवाभ्युपगमके परमेश्वरस्यैव व्यापकेन मायात्मकोपाधिना समुपहितस्य व्यापकस्य घटादिव्यावहारिकप्रपञ्चोपादानत्वम्।

अस्त्वेवं किं तत आयातं प्रकृते? इत्यत आह—

तथा च जीवस्य घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदमन्तरेण घटाद्यवभासासम्भवे प्राप्ते सदवभासाय घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदसिद्ध्यर्थं घटाद्याकारा वृत्तिरिष्यते ।

तथा च = जीवस्यानुपादानतया ब्रह्मण एव घटाद्युपादानत्वे च। घटाद्यधिष्ठानं यत् ब्रह्मचैतन्यं, तेन सह यो जीवस्याभेदः, तमन्तरेण = तम्विना। घटादेः अवभासः प्रकाश्यता, तस्य यः असम्भवः = सम्भवनाभावः, तस्मिन्। तदवभासाय = घटाद्यवभासाय। घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्याभेदसिद्ध्यर्थं = घटाद्यधिष्ठानब्रह्मचैतन्येन सह प्रमातृचैतन्यस्य जीवस्याभेदसिद्ध्यर्थम्। वृत्तिः = अन्तःकरणवृत्तिः इष्यते = स्वीक्रियते। **अयं भावः—इदं तावदायातं प्रकृते यत् घटादिप्रमाता जीवः अन्तःकरणपरिच्छिन्नचैतन्यरूपः। [illegible]तया घटप्रकाशकं मायावच्छिन्नचैतन्यं, तेन सह प्रमातुर्जीवस्य नास्ति सम्बन्धः, भिन्नावच्छि[illegible]त्वात् इति घटादिप्रमातृत्वं भवति सर्वथाऽनुपपन्नं विना स्वान्तःकरणस्य [illegible]। अतः समभ्युपगन्तव्या खल्वन्तःकरणवृत्तिरिति।**

शङ्कते—

ननु वृत्त्यापि कथं प्रमातृचैतन्यविषयचैतन्ययोरभेदः सम्पद्यते ? घटाद्यन्तःकरणरूपोपाधिभेदेन तदवच्छिन्नचैतन्ययोरभेदासम्भवात् ।

अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं = प्रमातृचैतन्य। घटाद्यवच्छिन्नं मायावच्छिन्नचैतन्यं विषयचैतन्यम्, तयोः। सम्पाद्यते = क्रियते। घटादिरूपः। अन्तःकरणरूपश्च यौ उपाधी तयोः भेदेन। तदवच्छिन्नचैतन्ययोः = अन्तःकरणावच्छिन्नघटावच्छिन्नचैतन्ययोः। अभेदासम्भवात् = अभेदसम्भवाभावात्। समभ्युपगम्यमानायामपि वृत्तौ भेदकयोरन्तःकरणघटाद्युपाध्योः तथैव वर्त्तमानत्वेन कथं प्रमातृचैतन्यस्य घटाद्यधिष्ठानभूततदवच्छिन्नमायावच्छिन्नचैतन्याभेदः ? येन प्रमातुर्घटाद्यवगतिः स्यात् इति।

उत्तरयति—

इति चेन्न । वृत्तेर्विषयदेशनिर्गमनाङ्गीकारेण वृत्त्यन्तःकरणविषयाणां एकदेशस्थत्वेन उपधेयभेदाभावस्योक्तत्वात् ।

वृत्तेः = अन्तःकरणवृत्तेः । विषयदेशो घटादिप्रदेशः, तत्र यन्निर्गमन, तस्य यः अङ्गीकारः स्वीकारः, तेन । वृत्तिश्च अन्तःकरण च विषयश्च वृत्त्यन्तःकरणविषयाः, तेषाम् । एकदेशस्थत्वेन = बाह्यघटदेशस्थत्वेन । उपधेयस्य = चैतन्यस्य यो भेदाभावः = अभेदः तस्य उक्तत्वात् । प्रत्यक्षपरिच्छेदे इति शेषः । **अयं भावः— सत्यं उपाधयो भिन्नाः, तद्भेदात् च चैतन्यस्यापि तत्तदुपाध्यवच्छिन्नस्य भेदः । किन्तु यत्रोपाधीनामेकदेशस्थता भवति तत्रोपाधिभेदेऽपि तदेकदेशस्थता प्रयुक्तो भवति चैतन्याभेदः । सति चैवमन्तःकरणस्य बहिर्घटदेशे वृत्तिनिर्गमने अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं घटादिविषयावच्छिन्नचैतन्यमेकं सम्पद्यते । सति च तथा घटभासकतदवच्छिन्नमायोपाधिकचैतन्येन सहाभेदसम्पत्त्या अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपं जीवचैतन्यमपि भवति घटभासकतामुपेतमिति न प्रमातुर्घटप्रमातृत्वानुपपत्तिः । घटाकारवृत्त्यभ्युपगमेन वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपप्रमाणचैतन्यस्य विषयभासनक्षमस्य प्रमात्रा अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्येन समाश्रयणात् । इति ।**

उपसंहरति—

एवमपरोक्षस्थले वृत्तेर्मतभेदेन उपयोगः उपपादितः ।

अपरोक्षस्थले = प्रत्यक्षस्थले । वृत्तेर्विनियोग उपपादित इति सम्बन्धः । विनियोगः उपयोगः प्रयोजनमिति यावत् । उपपादितः = युक्त्या समर्थितः ।

ननु ज्ञाता जाग्रदवस्था, का नाम स्वप्नावस्था ? इत्याकांक्षायामाह—

इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्तःकरणवृत्त्यवस्था स्वप्नावस्था ।

इन्द्रियैर्न जन्यते इतीन्द्रियाजन्या, एतादृशी या अपरोक्षा = प्रत्यक्षरूपा अन्तःकरणवृत्तिः, तदवस्था = तद्विशिष्टतया स्थितिः ।

ननु विषयगोचरापरोक्षान्तःकरणवृत्तिरित्येतावदेवोच्यताम् कृतमिन्द्रियजन्यत्वनिवेशेन इत्याकांक्षायामाह—

जाग्रदवस्था व्यावृत्त्यर्थमिन्द्रियाजन्येति ।

जाग्रदेवावस्था जाग्रदवस्था, तस्याः व्यावृत्तिः अपरिग्रहः, तत्रातिव्याप्त्यभाव इत्यर्थः तदर्थम् । अयं भावः—अपरोक्षा अन्तःकरणस्य वृत्तिस्तु जाग्रद्वृत्तिरपीति

तत्रातिव्याप्तिः स्यात् । यदि इन्द्रियाजन्यत्वनिवेशो न स्यात् । तन्निवेशे तु जाग्रद्वृत्तेरिन्द्रियजन्यतया इन्द्रियाजन्यत्वाभावेन न तत्रातिव्याप्तिरिति । विषय-गोचरेति स्पष्टार्थम् । विषयरहिताया वृत्तेरेवाभावात् । विषयगोचरत्वन्तु सविषयत्वम् ।

ननु इन्द्रियाजन्यविषयगोचरवृत्तिरित्येतावदेवोच्यताम् कृतमन्तःकरणप्रवेशेनेति शङ्कायामाह–

अविद्यावृत्तिमत्यां सुषुप्तौ अतिव्याप्तिवारणयान्तःकरणे नेति ।

अविद्या अज्ञानं तद्विषयिणी वृत्तिः, अविद्यावृत्तिः, सा अस्ति अस्यामिति अविद्या-वृत्तिमती, तस्याम् । इदं सुषुप्तिविशेषणम् । अतिव्याप्तिवारणाय स्वप्नलक्षणाति-व्याप्तिवारणाय । **अयं भावः—वेदान्तमते सुषुप्तौ अपि न वृत्तिसामान्याभावः, तदानीमज्ञानविषयकवृत्तेः स्वीकारात् । अन्यथा अनन्तरं जागरणे 'गाढमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्" इति परामर्शानुपपत्तेः । सति चैवमविद्यावृत्तिमादाय सुषुप्तावतिव्याप्तिः स्यात् यदि लक्षणेऽन्तःकरणनिवेशो न स्यात् । तन्निवेशे तु सुषुप्तौ अविद्यावृत्तिसद्भावेऽपि अन्तःकरणवृत्तेरभावान्नातिव्याप्तिरिति ।**

ननु अवस्थात्रैविध्योक्तिरसङ्गता । मरणमूर्छयोरपि तत्त्वादिति शङ्कायामाह–

अत्र केचिन्मरणमूर्च्छयोरवस्थान्तरतामाहुः । अपरे सुषुप्तावेव तयोरन्तर्भावमाहुः ।

अपरे = अन्ये । अथवा न परे इत्यपरे । अस्मदीयाः इत्यर्थः । एवकारो भिन्नक्रमः । तथा चान्तर्भावमेवाहुरिति सम्बन्धः । वस्तुतस्तु नान्तर्भावः उचितः । मूर्च्छाविशेषे मुखादिवैकृत्ये मरणे च वृत्त्यभावेन तयोर्वैजात्यस्यैवोचितत्वात् ।

विषयेऽस्मिन् विचारवैमुख्यहेतुमाह–

तत्र तयोरवस्थात्रयान्तर्भावबहिर्भावयोः त्वम्पदार्थनिरूपणे उपयोगाभावात् न तत्र प्रयत्यते ।

तत्र = अवस्थाचर्चायाम् । तयोः मरणमूर्च्छयोः । अन्तर्भावश्च बहिर्भावश्च अन्तर्भावबहिर्भावौ । अवस्थात्रये अन्तर्भावबहिर्भावौ अवस्थात्रयान्तर्भावबहिर्भावौ,

तयोः । त्वं पदस्यार्थः त्वं पदार्थः । तस्य निरूपणं बोधानुकूलो व्यापारः, तस्मिन् उपयोगाभावात् प्रयोजनाभावात् । तत्र = तन्निरूपणे । न प्रयत्यते = न प्रयत्नः क्रियते । अयं भावः—"तत्त्वमसी"ति घटकत्वमपदार्थनिरूपणमेव प्रकृतम् । अवस्थायाः त्रैविध्यं पञ्चविधत्वं वा यद्भवतु तन्निर्वचनेन न कोऽपि लाभः प्रकृते जीवनिरूपणे । इति न तद्विचार आद्रियते इति ।

अवस्थात्रयवान् जीवः इति प्रसङ्गेन अवस्थाविचारो विहितो मध्ये । तदवसाने पुनर्जीवमेवाभिलक्ष्य प्रोच्यते—

तस्य मायोपाधिमपेक्ष्यैकत्वम् । अन्तःकरणोपाध्यपेक्षया च नानात्वं व्यवह्रियते ।

तस्य = जीवस्य । माया एव उपाधिः तम् । अपेक्ष्य अवच्छेदकत्वेन प्रतिबिम्बाधारत्वेन वा परिगृह्य । एकत्वं = अभिन्नत्वम्, व्यवह्रियते इति सम्बन्धः । अन्तःकरणमेवोपाधिः, तदपेक्षया = तं अवच्छेदकत्वेन प्रतिबिम्बाधारत्वेन वा दृष्टिविषयीकृत्य । नानात्वं = बहुत्वम् । व्यवह्रियते = व्यवहारविषयीक्रियते । बहवो जीवाः इति व्यवहारः क्रियते इत्यर्थः ।

ननु महत एव अन्येन केनापि परिच्छेदात् । अणुर्ह्येष आत्मा इत्यादि श्रुत्या च जीवस्याणुत्वप्रतिपादनात् । कथं मायान्तःकरणाभ्यां परिच्छिन्नत्वोक्तिः संगता ? इत्याकांक्षायामाह—

एतेन जीवस्याणुत्वं प्रत्युक्तम् ।

एतेन = अनुपदं वक्ष्यमाणश्रुतिवाक्येन । अणुत्वं तादृशपरिमाणवत्त्वम् । प्रत्युक्तं = निरस्तम् ।

एतत्पदप्रतिपाद्यं प्रदर्शयन्नाह—

"बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" इत्यादौ जीवस्य बुद्धिपरिमाणान्तःकरणपरिमाणोपाधिकपरिमाण-श्रवणात् ।

बुद्धेर्गुणेन हि आराग्रमात्रो दृष्टः आत्मगुणेन हि अवरोऽपि दृष्टः इति सम्बन्धः। जीवः इति शेषः। बुद्धेः गुणः मध्यमपरिमाणत्वं, तेन। हिः निश्चये। आराग्रमात्रः आराग्रपरिमाणवान्। मध्यमपरिमाण इत्यर्थः। आत्मनः स्वस्य गुणः व्यापकत्वं तेन। न वरः श्रेष्ठः व्यापको यस्मात् असौ अवरः सर्वापेक्षया व्यापक इत्यर्थः। दृष्टः ज्ञातः। बुद्धिशब्देन उच्यते इति बुद्धिशब्दवाच्यं तदेवान्तःकरणम्, तस्य यः परिमाणः = मध्यमपरिमाणः। तदुपाधिकः = तन्मूलकः यः परिमाणः, तस्याश्रयणादित्यर्थः। **अयं भावः–अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं जीवः। तत्रान्तःकरणरूपोपाधेः परिमाणं यदि बुद्धिविषयीक्रियते तर्हि तदुपाधिकस्य जीवस्यापि मध्यमपरिमाणत्वाम्। सावयवस्यान्तःकरणस्य मध्यमपरिमाणत्वात्। यदि विशेष्यभूतस्य चैतन्यस्य परिमाणं तया बुद्धिवषयीक्रियते तदस्यापरिच्छिन्नतया व्यापकत्वात् परममहत्त्वमेवायाति न तु कदाचिदपि दृष्ट्या तस्याणुपरिमाणकत्वसम्भव इति।** उपपद्यते चैवम्, अन्यथा तस्य परमाणुकल्पस्य शरीराव्यापित्वेन शरीरव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गः। "जीवो नाणु." प्रत्यक्षत्वादित्यनुमानेन अणुत्वस्य तत्र बाधितत्वाच्च। ननु तर्हि तस्यानित्यत्वापत्तिः। बुद्ध्यनित्यत्वमूलकानित्यत्वस्य स्वीकारे बाधकाभावात्।

ननु तर्हि जीवो न स्वयम्प्रकाशः मध्यमपरिमाणत्वात् घटादिवत् इत्यनुमानेन तस्य स्वयम्प्रकाशत्वव्याघातः? इत्याशङ्कायामाह—

स च जीवः स्वयम्प्रकाशः। स्वप्नावस्थामधिकृत्य "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योति" रिति श्रुतेः।

स्वयं प्रकाशः = न प्रकाशस्सन् प्रकाश इत्यर्थः। अधिकृत्य = उद्दिश्य। अत्र = स्वप्ने। पुरि = शरीरादौ शेते इति पुरुषः = आत्मा। स्वयंज्योतिः = स्वयम्प्रकाशः। श्रुतेः = श्रवणात्। अयं भावः—प्रोक्तानुमानस्य एतदागमबाधितत्त्वेन अनुमानाभासतया न ततः स्वप्रकाशत्वनिराकरणावकाशः इति।

अपरोक्षतामुपपादयति—

अनुभवश्च। प्रज्ञानघन एवेति श्रुतेः।

अनुभवः = साक्षात्कारः। तथा च साक्षात्काररूप इत्यर्थः। प्रज्ञानघनः = प्रज्ञानबहुलः। प्रज्ञानात्मा इत्यर्थः। प्रकृष्टज्ञानतया अपरोक्षानुभव एव हि प्रज्ञानपदवाच्यम्।

ननु अनुभवस्वरूपत्वे तस्य अनुभवामीति अनुभवाश्रयत्वविषयकानुभव. कथमुपपद्यताम् ? इत्याकांक्षायामाह—

अनुभवामीति व्यवहारस्तु वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यमादायोपपद्यते ।

वृत्तौ = अन्तःकरणपरिणामे । प्रतिबिम्बितं = प्रकल्पितं यच्चैतन्यं तदादाय । उपपद्यते = युज्यते । **अयं भावः— अन्तःकरणावच्छिन्नं तत्प्रतिबिम्बितं वा चैतन्यं जीवः, न तु अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं तत्प्रतिफलितं वा चैतन्यं जीवः । तथा च तयोर्भेदेन वृत्तिप्रतिफलितचैतन्यमनुभवपदेनादाय अनुभवामीति व्यवहारोऽपि सुसम्पाद इति ।**

तत्त्वमसीति घटक तत् त्वं पदार्थौ निरूप्य वाक्यार्थं प्रतिपादयितु प्रतिजानीते—

एवं त्वं पदार्थो निरूपितः अधुना तत् त्वंपदार्थयोरैक्यं महावाक्यप्रतिपाद्यमभिधीयते ।

एवं = उक्तप्रकारेण । त्वं पदार्थः = जीवः । निरूपितः बोधानुकूलव्यापारविषयीकृतः । बोधित इति यावत् । तत्पदार्थो ब्रह्मचैतन्यं, त्वं पदार्थो जीवचैतन्यं तयोः ऐक्यं अभेदः । महावाक्येन तत्त्वमसीत्यनेन प्रतिपाद्यते = बोध्यते इति महावाक्यप्रतिपाद्यम् । इदं ऐक्यमित्यस्य विशेषणम् । जीवब्रह्मणोरभेदज्ञानान्मुक्तिरिति श्रौतसिद्धान्तः । तच्चैक्यं तत्त्वमस्यादिवाक्यप्रतिपाद्यम् । महावाक्यार्थबोधश्च वाक्यघटकपदार्थबोधं विना न सम्भवतीत्यतः प्रथमं तत्पदार्थं त्वं पदार्थं च विस्तारेण प्रतिपाद्य इदानी साकाक्षपदसमुदायरूपस्य वाक्यस्य प्रतिपाद्योऽर्थः क इति प्रदर्शनीयमिति तदर्थं प्रयत्यते इति भावः ।

भेदवादी शङ्कते—

ननु नाहमीश्वरः इत्यादिप्रत्यक्षेण किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिलिङ्गेन द्वा सुपर्णोति श्रुत्या

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

इत्यादि स्मृत्या च जीवपरभेदस्यावगतत्वेन तत्त्वमस्यादिवाक्यं "आदित्यो यूपः" "यजमानः प्रस्तरः" इत्यादिवाक्यवदुपचरितार्थमेवेति ।

किञ्चिज्ज्ञत्वं = अल्पज्ञत्वम् । सर्वज्ञत्वं = विशिष्यसकलपदार्थज्ञानवत्त्वम् । आदिपदेन मायोपाधिकत्वान्तःकरणोपाधिकत्वादिपरिग्रहः । तदादयो ये विरुद्धा धर्माः, तदाश्रयत्वरुपं यल्लिंगं तेन । जीव ईश्वरभिन्नः अल्पज्ञत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घट. इत्याद्यनुमानेन इत्यर्थः । द्वा सुपर्णा इत्यादि श्रुतिः="द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानवृक्ष परिषष्वजाते । एकस्तयोः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन्योऽनश्नन्नभिचाकशीति" इति श्रुतिः तया । सुपर्णाविव सुपर्णौ न तु तत्त्वतः सुपर्णौ । सयुजौ = सहयोगमुपेतौ सखायौ = सख्यभावापन्नौ । समानः एको वृक्षः, वृक्ष इव वृक्षः, न तु तत्त्वत : स्थानम् । परिपष्वजाते = आश्रयं कुर्वतः । पिप्पलं = फलम् । अनश्नन् = अभक्षयन् । अभिचकाशीति = पश्यति । पुरुषौ = आत्मानौ । जीवश्च परश्च जीवपरौ, तयोर्भेदः तस्य । अवगतत्वेन = ज्ञातत्वेन । तत्त्वमस्यादिवाक्यमुपचरितार्थमेवेति सम्बन्धः । **यदि जीवब्रह्मणोः स्यादैक्यम् कथं प्रतिपादयेत् भगवती श्रुतिः स्पष्टं तयोर्भेदम् । कथं वोपपन्ना भवेत् भगवतः कृष्णस्य "द्वाविमौ पुरुषौ" इत्यात्मद्वित्वप्रतिपादिका स्मृतिः ? कथं वा भवेत् "जीवः परमेश्वरभिन्नः अल्पज्ञत्वात्" "परमेश्वरो जीवभिन्नः सर्वज्ञत्वात्" इत्याद्यनुमानं हेत्वाभासशून्यम् ? तस्मात् द्वयोर्भेद एव मन्तव्यो नाभेदः । न च तर्हि तत्त्वमसीति श्रुतेः का गतिरिति वाच्यम् । तस्य यजमानः प्रस्तर इत्यादिवत् उपचरितार्थतासम्भवात् । न खलु "यजमानः प्रस्तर" इत्यस्यापि शक्यमनुपचरितार्थत्वं वक्तुम्, तयोर्भेदस्य पांशुलपादैर्हालिकैरपि प्रत्यक्षतो ग्रहणात् । तथा च यथा यजमानः प्रस्तर इत्यत्र निश्चिततया यजमानः प्रस्तर इवेति तदर्थः तथा तत्त्वमसीत्यत्र सर्वकर्मदाहे निर्दुःखत्वेन त्वमपि तत्तुल्यः स्याः इत्यत्रैव तत्त्वमसीति वाक्यस्य तात्पर्यमिति ।**

उत्तरयति—

इति चेन्न । भेदप्रत्यक्षस्य सम्भावितकरणदोषस्यासम्भावितदोषवेदजन्यज्ञानेन बाध्यमानत्वात् । अन्यथा चन्द्रगताधिकपरिमाणग्राहिज्योतिश्शास्त्रस्य चन्द्रप्रादेशिकप्रत्यक्षेण बाधापत्तेः ।

भेदप्रत्यक्षं = नाहं परमेश्वर इति प्रत्यक्षम्, तस्य । सम्भावितः करणदोषो यत्र असौ सम्भावितकरणदोषः, तस्य । दुष्टकरणजन्यत्वप्रकारकसन्देहविशेष्यस्येति तदर्थः । दुष्टत्वं च करणे दोषसहकृतत्वम् न सम्भावितो दोषो यत्र असौ असम्भावितदोषः, एवादृशो यो वेदः, तज्जन्यं तज्ज्ञानम् तेन । अन्यथा = प्रत्यक्ष-सामान्येन प्रमाणान्तरबाधे । शास्त्रस्य बाधापत्तेरिति सम्बन्धः । अयमाशयः— प्रत्यक्षप्रमाणान्तरयोः विरुद्धार्थज्ञापकत्वस्थले प्रत्यक्षसामान्ये न प्रमाणान्तरार्थबाधो भवदभिप्रेतः, अदुष्टकारणजन्यप्रत्यक्षेण वा ? आद्ये प्रदेशपरिणामित्वख्यापकेन प्रत्यक्षेण ज्योतिश्शास्त्रप्रतिपादितस्य महत्परिमाणविशेषस्य बाधितत्त्वं स्यात् । प्रबलेन प्रत्यक्षेण प्रादेशिकत्वस्यैव ग्रहणात् । द्वितीये नास्माकमनिष्टम् चन्द्रप्रत्यक्ष-स्थले दूरत्वस्येव प्रकृतेऽप्यज्ञानदोषस्य विद्यमानतया दोषसहकृतकरणजन्यत्वेन तस्य श्रौतनिश्चयविषयैक्यबाधकत्वायोग इति ।

समाध्यन्तरमाह—

पाकरक्ते घटे "घटो रक्तोऽयं न श्यामः" इतिवत् "स विशेषणे हि" इति न्यायेन जीवपरभेदग्राहिप्रत्यक्षस्य विशेषणीभूतधर्मभेदविषय-त्वाच्च ।

विशेषणीभूतौ यौ धर्मौ, तयोर्यो भेदः, तद्विषयत्वादित्यर्थः । अयं भावः— क्वचित् धर्मयोर्भेदमादायापि सविशेषणयोर्धर्मिणोर्भेदो व्यवह्रियते लोके । यथा हि पूर्वं श्यामरूपविशिष्टस्य घटस्य पाकेन रक्ततां गतस्य धर्मिणोऽभेदेऽपि श्यामरक्तरूपयोः गुणयोरेव भेदमादाय भवति खलु "रक्तो घटोऽयं न श्याम" इति धर्मिभूतघटभेदविषयकः प्रत्ययो लोकानाम् । तथा प्रकृतेऽपि धर्मिणः आत्मन ऐकत्वेऽपि धर्मयोः अल्पज्ञत्वसर्वज्ञत्वाद्योः भेदमादाय तन्मूलकः "नाहं परमेश्वर" इति तद्विशिष्टात्मभेदावगाही भवितुमर्हति प्रत्ययो लौकिकानाम् । न ततः किन्तु तत्त्वतः आत्मभेदसिद्धिसम्भव इति ।

अनुमानप्राप्तबाधं निषेधति—

अत एव च नानुमानमपि प्रमाणम् । आगमबाधात् । मेरुपाषाण-मयत्वानुमानवत् ।

अत एव = जीवब्रह्मणोरैक्यादेव । आगमः शब्दप्रमाणं तेन बाधः आगमबाधः तस्मात् । मेरुपाषाणमयत्वानुमानवत् आगमबाधात् इति सम्बन्धः । मेरौ पाषाणमयत्ववत् अनुमानं तद्वत् । अयं भावः—सुमेरुः पाषाणमयः पर्वतत्वात् विन्ध्यवत् इत्यनुमानं यथा सुमेरौ सुवर्णत्वख्यापकशास्त्रेण बाधितत्वादप्रमाण तथा "एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुत्या प्रदर्शितस्याल्पज्ञत्वादिहेतुकानुमानस्यापि बाधितत्वेनानुमानाभासतया न भेदसाधकत्वमिति ।

नन्वेवमपि प्रोक्तश्रुतिस्मृतिविरोधः कथ परिहरणीयः ? इत्याशङ्कायामाह—

नाप्यागमान्तरविरोधः । तत्परातत्परवाक्ययोः तत्परवाक्यस्य बलवत्त्वेन लोकसिद्धभेदानुवादि "द्वा सुपर्णे"त्यादि वाक्यापेक्षया उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रबलत्वात् ।

अन्यः आगमः आगमान्तरं, ततो विरोधः आगमान्तरविरोधः । तत्परं = तात्पर्यवत् । अतत्परं = तात्पर्याभाववत् । तादृशे वाक्ये तत्परातत्परवाक्ये, तयोः । इदं सप्तमीद्विवचनान्तपदम् । तत्परवाक्यस्य = तात्पर्यवतो वाक्यस्य । बलवत्त्वेन = अर्थप्रतिपादनसामर्थ्याधिक्येन । लोकसिद्धं = आपामरबुद्धिविषयं, भेदं अनुवदति = पश्चात्प्रतिपादयतीति लोकसिद्धभेदानुवादि । तादृशं यत् द्वा सुपर्णेति वाक्यं तदपेक्षया = तमवधीकृत्य । उपक्रमश्च उपसंहारश्च उपक्रमोपसंहारौ, तौ आदिर्येषां ते उपक्रमोपसंहारादयः, तैः अवगतं ज्ञातं यत् अद्वैततात्पर्यम्, तद्विशिष्टस्य, तादृशतात्पर्यवतः । तात्पर्यं च तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम् । प्रथमादिपदेन अभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्तीनां ग्रहणम् । प्रबलत्वात् = स्वार्थप्रतिपादनसामर्थ्याधिक्यात् । अयं भावः—यत्र विरु॰ार्थकवाक्यप्रतिपादकयोः वाक्ययोः प्राप्तिः तत्र उपक्रमोपसंहारादिनिर्णीततात्पर्यवत् वाक्यं भवति सबलम्, अन्यद्दुर्बलमिति सिद्धान्तः । सति चैवं भेदाभेदयोः प्राप्तौ श्रुतिषु अद्वैतोपक्रमोपसंहारादिदर्शनेन तन्निर्णीततात्पर्यकतया, तत्त्वमसीति वाक्यं भवति प्रबलम् । अन्यच्च द्वा सुपर्णेति वाक्यं तादृशतात्पर्याभाववत्त्वेन भवति दुर्बलमिति प्रबलेन दुर्बलबाधस्य सर्वानुभवसिद्धतया, तत्त्वमसीत्यनेन जीवब्रह्मणोरैक्यस्यैव सिद्धिः । न तु द्वा सुपर्णेत्यादिना तयोर्भेदस्य । तत्त्वतस्तु अज्ञातज्ञापकस्यैव वाक्यस्य प्रामाण्याभ्युपगमात् प्रमाणान्तरगृहीतानुवादिनस्तु प्रामाण्यानभ्युपगमात् लोकसिद्धस्यैव भेदस्य

ख्यापकतया अज्ञातज्ञापकत्वाभावेन द्वा सुपर्णेति वाक्यस्य प्रामाण्यमेव नास्ति । प्रा[illegible] त्वास्तां दूरे । सति चैवं न ततो द्वैतसिद्धिसम्भव इति ।

परोद्भावितां शङ्कां निरस्यति—

न च जीवपरैक्ये विरुद्धधर्माश्रयत्वानुपपत्तिः । शीतस्यैव जलस्यौपाधिकौष्ण्याश्रयत्ववत् स्वभावतो निर्गुणस्यैवान्तःकरणाद्युपाधिककर्त्तृत्वाद्याश्रयत्वं प्रतिभासोपपत्तेः । यदि च जलादौ औष्ण्यमारोपितं तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम् ।

न चानुपपत्तिरिति सम्बन्धः । जीवश्च परश्चेति जीवपरौ जीवपरमेश्वरौ तयोः ऐक्यं अभेदः तस्मिन् । विरुद्धौ धर्मौ सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वे, तयोः यत् आश्रयत्वं तस्यानुपपत्तिः = अभावप्रसंगः । औपाधिकं = अग्न्यादिसंयोगकृत यत् औष्ण्याश्रयत्वं = उष्णस्पर्शसम्बन्धित्वं, तद्वत् । अन्तःकरणादिरेवोपाधिः, तत्कं तन्मूलकं यत् कर्त्तृत्वाद्याश्रयत्वं = कर्त्तृत्वभोक्तृत्वादिसम्बन्धित्वं, तस्य यः प्रतिभासः = अनिवर्चनीयख्यातिः, तदुपपत्तिः तत्सम्भवः, तस्मात् । औष्ण्यं उष्णस्पर्शः । आरोपितं तूलाविद्यापरिणामतया प्रातीतिकम् । प्रकृतेऽपि तुल्यम् = एकस्मिन्नात्मनि सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिकमपि तथैवाविद्यकं, प्रातीतिकम् । **अयं भावः—यथा स्वतः शीतलेऽपि जले अग्न्यादिसंयोगेन औष्ण्यं भवदपि न स्वाभाविकं भवति, तथा आत्मनः किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिकमपि न स्वाभाविकम्, अपि तु अन्तःकरणाद्युपाधिसम्पर्काधीनं । इदं धर्माणां व्यावहारिकत्वमभिलक्ष्य । आत्मधर्मत्वेन ज्ञायमानाः सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादयो न तात्त्विका इति ।**

पुनरन्यां शङ्कां निराकरोति—

न च सिद्धान्ते कर्त्तृत्वस्य क्वचिदप्यभावात् आरोप्यप्रमाहितसंस्काराभावे कथमारोप इति वाच्यम् । लाघवेनारोप्यविषयसंस्कारत्वेनैव तस्य हेतुत्वात् ।

न चेति वाच्यमिति परेणान्वयः । आरोप्यस्य = प्रातीतिकजातीयस्य या प्रमा पूर्ववर्त्ति यथार्थज्ञानम्, तदाहितः = तेनोत्पादितो यः संस्कारः = भावना, तस्य यः

अभावः तस्मिन् । लाघवेन = शरीरकृतेन लघुत्वेन । आरोप्य = तज्जातीयो विषयो यस्य सस्कारस्य स आरोप्यविषयसंस्कारः, तत्त्वेन। तस्य = संस्कारस्य । हेतुत्वात् = कारकत्वात् । अयं भावः—जवायां प्रमितारुण्यस्यैव जनस्य स्फटिके आरुण्यारोपदर्शनेन आत्मनि किञ्चिज्ज्ञत्वादीनामारोपार्थं पूर्वं कुत्रापि तत्प्रमा अपेक्षिता । प्रमा च वास्तविकविषयिणी भवतीति कुत्रापि तादृशस्य धर्मस्य वास्तविकत्वं स्वीकरणीयमिति तात्त्विककिञ्चिज्ज्ञानजीवस्वीकारात् अकामेनापि जीवपरभेद अभ्युपगन्तव्य इति न वाच्यम् । यतः आरोपात् पूर्वं संस्कारार्थमारोप्यजातीयस्य ज्ञानेन भवितव्यम् इत्येव नियमः न तु प्रमात्मकेनैव तेन भवितव्यमिति । तथा च पूर्वपूर्वारोपवासनातोऽपि परं परं तत्तद्धर्मारोपसम्भवेन तात्त्विककर्तृकिञ्चिज्ज्ञादिजीवाभ्युपगमप्रयोजनाभावेन द्वैतापत्त्यभावात् जीवब्रह्माभेदाबाधात् । शरीरकृतलाघवात् आरोप्यजातीयज्ञानजन्यसं-ार: आरोपहेतुः इत्येव कार्यकारणभावः । न तु आरोप्यप्रमाहितसस्कारः आरोपहेतुरिति ।

आरोपे प्राथम्यमारोप्य क्रियमाणां शंका निषेधति—

न च प्राथमिकारोपे का गतिः । कर्तृत्वाद्यध्यासप्रवाहस्यानादित्वात् ।

का गतिरिति न चेति सम्बन्धः । कर्तृत्वादेरध्यासः आरोपः, तस्य प्रवाहः = क्रमिकोत्पादसमूहः, तस्य । अनादित्वात् = प्रागभावाप्रतियोगित्वात् । भविष्यत्वाभावादिति यावत् । अयं भावः — द्वितीयारोपादेः प्रथमारोपजसंस्कारपूर्वकत्वसम्भवेऽपि सर्वप्रथमकर्तृत्वारोपस्थले ततः पूर्वं तत्सस्कारोत्पादार्थं प्रथमारोप्यकर्तृत्वादिज्ञानस्य याथार्थ्यं दुरपलपमिति तद्विषयस्यावास्तवस्यैवाभ्युपेयतया भोज्यभोक्त्रोरैक्यासम्भवेन कथं द्वयोरभिन्नत्वमिति नाशङ्कनीयम् । संसारस्यानादितया आरोपे प्राथम्यस्यैवानभ्युपगमात् ।

नन्वेवमपि तत्त्वमसीत्यत्र तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वविशिष्टस्य परमेश्वरस्य त्वं पदवाच्यात् किञ्चिज्ज्ञत्वविशिष्टात् जीवात् भेदस्यावश्यकत्वेनाभेदः कथं स्यात् इत्याशंकां विस्मृतिकृतां पूर्वोक्तं स्मारयन्निराकरोति—

तत्र त्वं पदवाच्ययोर्विशिष्टयोरैक्यायोगेऽपि लक्ष्यस्वरूपयोरैक्यमुपपादितमेव । अत एव तत्प्रतिपादकतत्त्वमस्यादिवाक्यानामखण्डार्थत्वं सोऽयमिति वाक्यवत् ।

तत्र = तत्त्वमसीति वाक्ये । विशिष्टयो सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वविशिष्टयोः । ऐक्यस्य अभेदस्य । अयोगः = अभावः । तस्मिन् । लक्ष्यस्वरूपयोः । भागत्यागलक्षणाधीनोपस्थितिविषययो. । चैतन्यमात्रयोरिति यावत् । ऐक्य = अभेदः । उपपादितमेव = प्रतिपादितमेव । आगमपरिच्छेदे इति शेषः । अत एव = चैतन्ययोरैक्यप्रतिपादनादेव अखण्डार्थत्व = निर्विकल्पकधीजनकत्वम् । यथा च सोऽयं देवदत्त इत्यादेः वाक्यस्य अखण्डार्थत्वम् यथा च तादाम्यभानेऽपि नोक्तवाक्यजज्ञानस्य सविकल्पकत्वं तत्सर्व प्रपञ्चितमेव पूर्वमिति नात्र पुनः प्रयासः । ग्रन्थकृता इह तदादिक स्मारितमेवेति ।

लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययादिकार्यतावाचकपदविधुराद्वाक्यात् बोध एव न भवतीति कथं तत्त्वमसीति वाक्यादर्थबोधः ? इत्याशंकामपि निराकरोति –

न च कार्यपराणामेव प्रामाण्यं चैत्र पुत्रस्ते जातः इत्यादौ सिद्धेऽपि संगतिगृहात् ।

न च प्रामाण्यमिति सम्बन्धः । कार्यपराणां = विधिनिषेधादिपराणाम् । एव = नान्येषाम् = "नित्यं विज्ञानामानन्दं ब्रह्म" "तत्त्वमसि" इत्यादीनामतथाभूतानाम् । प्रामाण्यं = प्रमात्मकबोधजनकत्वम् । चैत्रेति सम्बोधनपदम् । सिद्धेऽपि= विधिनिषेधादिबोधकपदाघटितेऽपि । संगतिग्रहात् = शाब्दबोधात् । अयं भावः– विधिनिषेधाप्रतिपादकतया वेदान्तवाक्यानां बोधकत्वमेव न, कुत अखण्डब्रह्मबोधकत्वरूपमखण्डार्थत्वमिति नाशङ्कनीयम् । "वज्रहस्तः पुरन्दरः" "चैत्र पुत्रस्ते जातः" इत्यादिवाक्यात् बोधस्य सर्वानुभवसिद्धतया, तद्वत् तत्त्वमस्यादिवाक्यानामपि तथाभावसम्भवात् । "चैत्र पुत्रस्ते जातः" इत्यादावपि बोधो न भवतीति कथनं तु दुस्साहसमेव स्यात् । मुखप्रसादमुखमालिन्यादिजनकबोधजनकत्वेन तादृशशब्दस्य परीक्षकैर्ग्रहणात् इति ।

उपसंहरति—

एवं सर्वप्रमाणाविरुद्धं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रतिपाद्यं जीवपरयोरैक्यं वेदान्तशास्त्रस्य विषय इति सिद्धम् ।

एवं = पूर्वोक्तप्रकारेण । सर्वप्रमाणैः अविरुद्धं सर्वप्रमाणाविरुद्धम् । केनापि प्रमाणेनाबाधितमित्यर्थः । श्रुतयश्च स्मृतयश्च इतिहासाश्च पुराणानि च श्रुति-

स्मृतीतिहासपुराणानि, तेषां प्रतिपाद्यं = तावज्जन्यप्रतीतिविषयम् । इदमैक्य-विशेषणम् । वेदान्तशास्त्रस्य = शारीरिकसूत्रशाङ्करभाष्यादेः । विषयः = प्रति-पाद्यम् । इदं जीवब्रह्मैक्यं नैकप्रमाणगम्यम् अपि तु श्रुतिस्मृत्यादिनिखिलशब्द-प्रमाणगम्यम् । तदेव समग्रस्य वेदान्तशास्त्रस्य प्रतिपाद्यविषय इति भावः ।

इति विषयपरिच्छेदभगवती ।



प्रयोजनपरिच्छेद—भगवती

समीक्षकाणां ब्रह्मावगमप्रवृत्तये प्रयोजनं वर्णयितुं प्रतिजानीते—

इदानीं प्रयोजनं निरूप्यते ।

इदानीं = विषयनिरूपणानन्तरम् । प्रयोजनं = ब्रह्मज्ञानफलम् । निरूप्यते बोधानुकूलव्यापारविषयीक्रियते ।

प्रयोजनलक्षणमाह—

यदवगतं सत् स्ववृत्तितयेष्यते तत् प्रयोजनम् ।

स्वस्मिन् वृत्तिता = सम्बन्धो यस्य तत् स्ववृत्ति । तस्य भावस्तत्ता, तया = स्वीयतयेत्यर्थः । इष्यते = "इदं मम भवतु" इतीच्छाविषयीक्रियते । यद्यपि "यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्" इति पारमर्ष सूत्रम् । तथापि प्रवृत्तिप्रवेशो नातिप्रयोजनक इत्यभिप्रायः । "अवगतं सत्" इत्यपि वस्तुस्थितिज्ञापनमात्रम् । तदभावे इष्यमाणतायाः स्वत एवासम्भवेन लक्षणेतन्निवेशस्य वैयर्थ्यात् ।

विभजते—

तद्द्विविधम् मुख्यं गौणञ्चेति । तत्र सुखदुःखाभावौ मुख्यप्रयोजने । तदन्यतरसाधनं गौणप्रयोजनम् ।

तत् = प्रयोजनम् । द्विविधम् = द्विप्रकारम् । मुख्यं = अन्येच्छानधीनेच्छाविषयम् । तत्र = मुख्यगौणयोः । सुखं च दुःखाभावश्च सुखदुःखाभावौ । मुख्यप्रयोजने = इतरेच्छानधीनेच्छाविषयौ । तयोः अन्यतरस्य साधनं = साधकं तदन्यतरसाधनम् । गौणप्रयोजनम् = इतरेच्छाधीनेच्छा विषयः । अयं भावः— सुखदुःखाभावयोः चरमप्रयोजनत्वेन, तदिच्छा नान्यस्येच्छाया अधीना, अपि तु स्वतन्त्रैव । अतः अन्येच्छानधीनेच्छाविषयतया तस्य मुख्यप्रयोजनत्वम् । तदुपायभूतानामन्येषां यागब्रह्मज्ञानादीनां तु स्वर्गापवर्गेच्छाधीनेच्छाविषयता गौणप्रयोजनत्वम् । उपायेच्छां प्रतिफलेच्छायाः अन्वयव्यतिरेकसिद्धकारणताशालित्वात् न खलु स्वर्गादिकमनिच्छन् जनः कदापीच्छति यागादिकम् । स्वर्गापवर्गौ अन्यदेव

वा किञ्चिदिच्छन्नेवेच्छतीति सर्वानुभवसिद्धम्। अतः स्वर्गादेः मुख्यप्रयोजनत्वं यागादेस्तु गौणप्रयोजनत्वम्।

मुखप्रयोजनान्तःपातिनं सुखमपि विभजते प्रपञ्चयति च—

सुखं तु द्विविधं सातिशयं निरतिशयं चेति। तत्र सातिशयं सुखं विषयानुषङ्गजनितान्तःकरणवृत्तितारतम्यकृतानन्दलेशाविर्भावविशेषः। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति श्रुतेः।

सातिशयं ब्रह्मभिन्नं सत् इष्यमाणम्। विषयानुषङ्गो विषयेन्द्रियसम्बन्धः तज्जनिता या अन्तःकरणवृत्तिः, तत्र यत् तारतम्यं, = अतिशयः, तत्कृतो यः आनन्दलेशस्य, = आनन्दांशस्य, आविर्भावविशेषः = प्रकाशनम्। एतस्य = आत्मरूपस्य। एवकारो भिन्नक्रमः। तथा च एतस्यानन्दस्यैवेति सम्बन्धः। मात्रां लेशम्। **अयमभिप्रायः—आनुकूल्येन विषयसम्बन्धे सति या काचनान्तः-करणवृत्तिरुदेति, तया अवच्छिन्नः तत्र प्रतिबिम्बितो वा यः आनन्दरूपात्मांशः, तमेवदाय "वयं सुखिनः" इति लौकिकाः प्रतियन्ति। वृत्तिगतातिशयेन च तत्रापि "अल्पं सुखम्" "महत्सुखम्" इत्याद्यतिशयमानं सम्पद्यते इति।**

निरतिशयं सुखमाह—

निरतिशयं सुखं ब्रह्मैव। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इति श्रुतिः।

निरतिशयं = पराकाष्ठां प्राप्तम्। ब्रह्म = आत्मा। एवकारः अन्ययोग-व्यवच्छेदे। तथा च विषयो वा, अन्तःकरणवृत्तिर्वा, तदवच्छिन्नं, तत्प्रतिबिम्बो वा न निरतिशयसुखमित्युक्तं भवति।

नन्वादौ मोक्ष एव परमपुरुषार्थ इति प्रतिपादितम्, इदानीमात्मा निरतिशय-तया परमप्रयोजनमित्युच्यते।

तत्कथं संगतम्? इत्याशंकायामाह—

आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः । शोकनिवृत्तिश्च । "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादिश्रुतेः ।

आनन्द एवात्मा स्वरूपं यस्य तत् आनन्दात्मकम्, तादृशं यद् ब्रह्म = आत्मा, तदवाप्तिः = तत्प्राप्तिः । शोकः = अज्ञानं = अविद्या, तन्निवृत्तिः । तन्नाश इत्यर्थः । अत्र च द्वयेन अविद्यानिवृत्त्युपलक्षित आत्मा मोक्ष इति प्रतिपादितम् । ब्रह्म वेदेति श्रुत्या मोक्षस्य आत्मरूपता, "तरित शोकमिति श्रुत्या च शोकसन्तरणात्मिका विद्या निवृत्तिरूपता प्रतिपादिता । अतः अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितात्मरूपता प्रतिपादिता भवति मोक्षस्य । तस्य केवलात्मरूपत्वे बद्धमुक्तयोरविशेषापत्तिः अतः शोकनिवृत्तिरपि वाच्या । केवलं शोकनिवृत्तिरूपत्वे अनित्यत्वापत्तिशङ्का "ब्रह्मवेदेति" श्रुतिविरोधश्चेति आत्मरूपत्वोक्तिरिति ।

ननु स्वर्गब्रह्मलोकाद्यवाप्तिरेव मोक्षोऽस्तु इत्याशङ्कामपाकरोति—

न तु लोकान्तरावाप्तिः । तज्जन्यवैषयिकानन्दो वा मोक्षः । तस्य कृतकत्वेनानित्यत्वे मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तेः ।

अन्यो लोकः लोकान्तर, स्वर्गब्रह्मादिलोकः, तदवाप्तिः = तत्र गमनम् । तया लोकान्तरावाप्तया जन्यते उत्पद्यते इति तज्जन्यः । तादृशो यो वैषयिकानन्दः = विषयसम्पर्कजनितान्तःकरणवृत्तितारतम्यकृतानन्दलेशाविर्भावः । न तु मोक्ष इति सम्बन्धः । तस्य = लोकान्तरस्य वैषयिकानन्दस्य च । कृतकत्वेन = जन्यत्वेन । अनित्वे = विनाशित्वे । पुनरावृत्तिः = पुनस्संसारः ।

शङ्कते–

ननु त्वन्मतेऽपि आनन्दावाप्तेः अनर्थनिवृत्तेश्च सादित्वे तुल्यो दोषः । अनादित्वे मोक्षमुद्दिश्य श्रवणादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिः ।

त्वन्मतेऽपि = वेदान्तिमतेऽपि । अनर्थः = अज्ञानं, तस्य निवृत्तिः, अनर्थनिवृत्तिः, तस्याः । सादित्वे कादाचित्कत्वे । तुल्यो दोषः = समाना पुनः संसारापत्तिः । अनादित्वे = सार्वदिकत्वे । श्रवणादौ = आत्मश्रवणमनननिदिध्यासनेषु । प्रवृत्त्यनुपपत्तिः = प्रवृत्तिवैयर्थ्यम् । अयं भावः–आनन्दावाप्तिर्वा भवत अज्ञान-

निवृत्तिरेव वा भवतु मोक्षः, तस्य साध्यत्वमिष्यते वा न वा ? इष्यते चेत्, सादित्वेनजन्यतया तन्नाशेनापि भवितव्यम्। एवं च तादृशमोक्षनाशानन्तरं पुनस्संसारापत्तिस्तव मतेऽपि दुर्वारा। नेष्यते चेत् साध्यत्वम्, तर्हि तस्य नित्यतया कारणानपगमेन "श्रोतव्यो मन्तव्य" इत्यादिश्रुत्योपदिश्यमान श्रवणादिप्रवृत्तिर्भवति व्यर्थेति कथं त्वन्मतसाधीयस्त्वमिति।

उत्तरयति–

इति चेन्न। सिद्धस्यैव ब्रह्मरूपस्य मोक्षस्यासिद्धत्वभ्रमेण तत्साधने प्रवृत्त्युपपत्तेः। अनर्थनिवृत्तिरप्यधिष्ठानरूपतया सिद्धैव।

सिद्धस्यैव = असाध्यस्यैव। ब्रह्मस्वरूपस्य = ब्रह्मात्मकस्य। असिद्धत्वस्य = साध्यत्वस्य भ्रमः, असिद्धत्वभ्रमः, तेन। तत्साधने = मोक्षसाधके श्रवणमननादौ। प्रवृत्त्युपपत्तेः = प्रवृत्तिसम्भवात्। अनर्थनिवृत्तिः = अज्ञाननिवृत्तिरूपो मोक्षः। अधिष्ठानरूपतया। सिद्धैव असाध्यैव। अयं भावः—यद्यपि आत्मनोऽपि न साध्यता, तस्य कूटस्थनित्यत्वात्। एवं अज्ञाननिवृत्तेरपि न साध्यता, कल्पितवस्तुनाशस्य अधिष्ठानमात्ररूपतया आत्मनिष्ठाया अविद्यानिवृत्तेः असाध्यात्मरूपत्वात्। तथापि अज्ञानां तत्र साध्यताभ्रमेण, तत्साधकत्वप्रकारकभ्रमविशेष्येषु श्रवणमननादिषु प्रवृत्तिसम्भव इति।

उक्तमर्थं लौकिकेन दृष्टान्तेन स्फुटयितुमाह–

लोकेऽपि प्राप्तप्राप्तिपरिहृतपरिहारयोः प्रयोजनत्वं दृष्टमेव। यथा हस्तगतविस्मृतसुवर्णः पुरुषः, तव हस्ते सुवर्णमित्याप्तोपदेशात् अप्राप्तमिव प्राप्नोति। यथा वलयितचरणायां स्रजि सर्पत्वभ्रमवतः नायं सर्प इत्याप्तवाक्यात् परिहृतस्यैव सर्पस्य परिहारः। एवं प्राप्तस्यानन्दस्य प्राप्तिः परिहृतस्याप्यनर्थस्य निवृत्तिर्मोक्षः प्रयोजनं च।

प्राप्तस्य प्राप्तिः प्राप्तप्राप्तिः परिहृतस्य परिहारः परिहृतपरिहारः, तयोः। प्रयोजकत्वं = फलत्वम्। दृष्टमेव ज्ञातमेव। हस्तगतमपि विस्मृतं सुवर्णं यस्यासौ हस्तगतविस्मृतसुवर्णः। इति = इत्याकारको यः उपदेशः तस्मात्। अप्राप्तमिव प्राप्नोति = अप्राप्तमिव सुवर्णं प्राप्नोतीव। वलयितौ = वेष्टितौ चरणौ यया

वलयितचरणा, तस्याम् । स्रजि मालाया । सर्पत्वस्य भ्रमः अस्यास्तीति सर्पत्वभ्रमवान् पुरुषः, तस्य । इति = इत्याकारकं यत् आप्तस्य यथार्थवक्तुः वाक्यम्, तस्मात् । परिहृतस्य = अपरिहार्यस्य । सर्पस्य = प्रातिभासिकसर्पस्य । परिहार इत्यनन्तरं भवतीति शेषः । एवं = तथा । प्राप्तस्य = स्वरूपतया अप्राप्यस्य । परिहृतस्यानर्थस्य = मिथ्यात्वेनापरिहार्यस्याज्ञानस्य । मोक्षः प्रयोजनं चेत्यनन्तरं भवितुमर्हतीति शेषः । अयं भावः—दृश्यत एव हि शुक्तिकां रजतत्वेन विजानतां रजतार्थिनामरजतभूतायां शुक्तिकायां प्रवृत्तिरिति परमार्थतः साध्यसाधकभावाभावेन मोक्षासाधकेष्वपि श्रवणमननादिषु अज्ञानां प्रवृत्तिर्भविष्यतीति किमत्र चित्रम् ? ज्ञानिनां न स्यादिति त्विष्टमेव । एवं मालां सर्पत्वेन जानतामज्ञानां दृश्यत एव हि असर्पभूतायां मालायां निवृत्तिरिति मिथ्याभूताया अपि अविद्याया निवृत्तिः, तत्साधकत्वप्रकारकभ्रमविशेष्येषु श्रवणादिषु प्रवृत्तिश्च भविष्यतीत्यपि नाति चित्रम् । ज्ञानानन्तरं तु नास्त्यविद्या न वा तन्निवृत्तिरिति सत्यमेव ।

ननु भवतु यत्किमपि मोक्षः । तत्कारणं कर्मैव, न ज्ञानम् । "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इत्यादि स्मृतेः । तथा च किमर्थं श्रवणमननाद्यपेक्षा ?

इत्याशंकायामाह—

स च ज्ञानैकसाध्यः । "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इत्यादिश्रुतेः ।

स च = प्राप्तप्राप्तव्यपरिहृतपरिहाररूपा मोक्षः । चस्त्वर्थे । ज्ञानेन एकेन = केवलेन । साध्यते इति ज्ञानैकसाध्यः । ज्ञानमात्रसाध्य इत्यर्थः । तमेव = आत्मानमेव । विदित्वा = ज्ञात्वा । अतिमृत्युं = मोक्षम् । एति = प्राप्नोति । अयनाय = मोक्षाय । न विद्यते इति सम्बन्धः । सर्वश्रेष्ठश्रुतिप्रमाणेन ज्ञानस्यैव मोक्षोपायता प्रतिपादनात् न कर्मणः तत्कारणत्वमिति भावः ।

न खलु श्रुतिरेव प्रमाणं युक्तिरपीत्याह—

अज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानैकसाध्यत्वनियमात् च ।

नियमोऽव्यभिचारः । अयं भावः—घटज्ञानेन घटाज्ञानस्य, पटज्ञानेन पटाज्ञानस्य निरासो भवतीति सहस्रशः अव्यभिचारदर्शनेन तद्विषयकस्याज्ञानस्य बाध्यत्वम्

तद्विषयकस्य ज्ञानस्य तं प्रतिबाधकत्वमित्यास्थेयम्। सति चैवं न कर्म अज्ञाननिवृत्त्याख्यमोक्षकारणमिति स्पष्टावभासात्मकसाक्षात्काराय श्रवणमननाद्यपेक्षा युक्तैवेति। अत एव हि "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामदित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परमि"त्युक्तं चक्रपाणिना गीतायाम् । "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इत्यत्र "संसिद्धि" पदं न मोक्षपरं अपि तु ज्ञानपरम् । कर्मणा सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानजननादिति ।

ननु ज्ञातं ज्ञानेन बन्धः क्षपणीय इति । किन्तु किं विषयकं तत् ? इत्याकांक्षायामाह–

तच्च ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यगोचरम् । "अभयं वै जनकप्राप्तोऽसि" । "तदात्मानमेवावेत्" "अहं ब्रह्मास्मी"त्यादिश्रुतेः ।

तत् = मोक्षोपायभूतम् । ब्रह्म च आत्मा च ब्रह्मात्मानौ = ब्रह्मजीवौ, तयोः ऐक्यं = अभेद. गोचरो विषयो यस्य, तत् ब्रह्मात्मैक्यगोचरम् । जीवब्रह्मैक्यविषयकं इत्यर्थः । अहं ब्रह्मास्मीति आत्मानमेव अवेत्, तत् हे जनक ! अभयं प्राप्तोऽसीतिसम्बन्धः । अवेत् अवेः = ज्ञातवानसि । अभयं = मोक्षम । **अयं भावः—यदि तज्ज्ञानं ब्रह्मविषयकं नाभिप्रेतं स्यात् कथं याज्ञवल्क्यमुखेन ब्रूयात् भगवती श्रुतिः "आत्मानमेवावेत्" इति । न तावदेव, तदनन्तरं ततः अभयाख्यं मोक्षं प्राप्तोसित्येतदपि च । तस्मान्मोक्षसाधनभूतं ज्ञानं ब्रह्मविषयकमिति ।**

न केवलं श्रुतावेव, पुराणेप्युक्तमित्याह–

तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थज्ञानं मोक्षस्य साधनम् । इति नारदीयवचनाच्च ।

तत्त्वमस्यादिवाक्यानामर्थो जीवात्मनोरैक्यम् तस्य ज्ञानमित्यर्थः मोक्षसाधनता प्रागुक्तदिशावसेया ।

ननु तज्ज्ञानं परोक्षरूपमपेक्षितमपरोक्षरूपं वा ? तस्य पारोक्ष्यापारोक्ष्याभ्यां द्वैविध्यात् । इत्याशंकायाह–

तच्च ज्ञानमपरोक्षरूपम् । परोक्षत्वेऽपरोक्षभ्रमनिवर्त्तकत्वानुपपत्तेः ।

अपरोक्षरूपं = महावाक्यजन्यसाक्षात्काररूपम् । अपरोक्षात्मको भ्रमः अपरोक्षभ्रमः तस्य निवर्त्तकं अपरोक्षभ्रमनिवर्त्तकम्, तस्य भावः तत्त्वम्। तस्यानुपपत्तिरभावः । तस्मात् । अयं भावः—प्रमाणेषु प्रत्यक्षस्य श्रेष्ठत्वमविवादम् । सति चैवं भ्रमस्यापरोक्षत्वे प्रमायाश्च परोक्षत्वे, सत्यपि प्रमात्वे परोक्षत्वात् बाधज्ञानस्य बाधकता न स्यात् इत्यतो बाधार्थं बाधकेनापि साक्षात्काररूपेणैव भवितव्यम् ।

ननु ज्ञातं "अहं ब्रह्मास्मीति" ब्रह्मापरोक्षज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिरिति तत्खलु केन साधनेन सम्पद्यते ?

इत्याकाङ्क्षाया विवरणानुसारिणां मतमाह—

तच्चापरोक्षज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यादिति केचित् ।

तत् = अहं ब्रह्मास्मीति । आदिपदेन अयमात्मा ब्रह्म इत्यादेः परिग्रहः । केचित् = विवरणानुसारिणः । अयं भावः—वेदान्तश्रवणं तावत् द्विविधम्, प्राथमिकमन्त्यं च । तत्र प्राथमिकेन परोक्षतया ज्ञाते ब्रह्मणि मनननिदिध्यासनविधानेन सत्त्वशुद्धौ, द्वितीयेन अन्त्येन सकृन्महावाक्यश्रवणेन "अहं ब्रह्मास्मी"त्यखण्डसाक्षात्कारो जायते । इति विवरणानुगानां मतम् ।

अत्राचार्यवाचस्पतिमतमाह—

मनननिदिध्यासनसंस्कृतान्तःकरणादेवेत्यपरे ।

मननं च निदिध्यासनं च मनननिदिध्यासने, ताभ्यां संस्कृतं = पूतीकृतं यत् अन्तःकरणं, तस्मात् । एवकारेण श्रवणव्यवच्छेदः । अयमाशयः—अपरोक्षं तज्ज्ञानमिति सत्यम् । किन्तु श्रवणजन्यं शाब्दं तदिति न वस्तुस्थितिः । किन्तु तन्मानसप्रत्यक्षरूपम् । श्रोतव्यमित्यनेन केवलमेकस्य प्राथमिकस्यैव श्रवणस्योपदेशात्। अतो द्वितीयश्रवणकल्पनमश्रौतम् । किं च प्रत्यक्षत्वं शाब्दत्वं च विरुद्धौ अनुभवत्वव्याप्यजाती सर्वानुभवसिद्धौ, इति कथमेकस्मिन् अहं ब्रह्मास्मीति निश्चये स्यादुभयोः समावेश इति । मनननिदिध्यासनवाक्ये श्रवणस्यापि चर्चा श्रोतव्य इति श्रुतिप्रतिपादितं श्रवणं मनने एव साक्षादुपयोगि, अश्रुतस्य मननासम्भवात्, न तु मानसे अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारे इति द्योतनाय ।

सत्येवं मतद्वैधे विवरणानुसारिणामाशयं प्रकाशयति—

तत्र पूर्वाचार्याणामयमाशयः । सम्विदापरोक्ष्यं न करणविशेषोत्पत्तिनिबन्धनं, किन्तु प्रमेयविशेषनिबन्धनमित्युपपादितम् । तथा च ब्रह्मणः प्रमातृजीवभिन्नतया, तद्गोचरं शब्दजन्यमपि ज्ञानमपरोक्ष्यम् । अत एव प्रतर्द्दनाधिकरणे प्रतर्द्दनं प्रति "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मां आयुः अमृतमित्युपास्व" इतीन्द्रवाक्ये प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते सति अस्मच्छब्दानुपपत्तिमाशङ्क्य, तदुत्तरत्वेन प्रवृत्ते "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इत्यत्र सूत्रे शात्रात् दृष्टिः शास्त्रदृष्टिः इति तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं अहं ब्रह्मेति ज्ञानं दृष्टिशब्देनोक्तमिति ।

तत्र = उभयोर्मध्ये । पूर्वाचार्याणाम् = पद्मपादादीनाम् । सम्विदः = ज्ञानस्य । आपरोक्ष्यं = प्रत्यक्षत्वम् । करणविशेषः = करणप्रभेदः = अन्तःकरणम् ततः उत्पत्तिः अन्तःकरणविशेषोत्पत्तिः, तन्निबन्धनं = तन्मूलकं नेति सम्बन्धः । अथवा करणगतो विशेषः अतिविशेषः । प्रमीयते इति प्रमेयम्, तद्गतो विशेषः प्रमेयविशेषः । प्रमाता जीवः प्रमातृजीवः, ततः अभिन्नता प्रमातृजीवाभिन्नता, तया । तद्गोचरं = प्रमातृजीवाभिन्नविषयम् । शब्दजन्यमपि = तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्यमपि । अपरोक्षम् = प्रत्यक्षम् । **अयं भावः—ज्ञानस्य प्रामाण्यं न प्रमाणगतविषयमपेक्ष्य भवति इति बहुत्र प्रतिपादितमेव । सति चैवं शब्दजन्यतया पारोक्ष्यविशेषरूपं शाब्दत्वं प्रसज्यते । न ततस्तद्विरुद्धस्य साक्षात्कारत्वस्य सम्भव इति न शक्यते वक्तुम् । तथा च सत्यपि शब्दजन्यत्वेऽपरोक्षजीवाभिन्नब्रह्मविषयकतया तस्यापरोक्षत्वं दुरपलपमिति भावः ।**

अत्र पक्षे सूत्रभाष्यकृतसम्मतिमाह—

अत एव प्रतर्दनाधिकरणे प्रतर्दनं प्रति "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मां आयुः अमृतमित्युपास्वे" तीन्द्रप्रोक्तवाक्ये प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते "मामुपास्वेति" अस्मच्छब्दानुपपत्तिमाशंक्य तदुत्तरत्वेन प्रवृत्ते "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इत्यत्र सूत्रे शास्त्रात् दृष्टिः शास्त्रदृष्टिः इति तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमहं ब्रह्मेति ज्ञानं दृष्टिशब्देनोक्तमिति ।

अत एव = शाब्दात् साक्षात्कारस्वीकारादेव । "मामुपास्व" = मदुपासनां कुरु । अस्मच्छब्दानुपपत्ति = इन्द्राभिप्रायकास्मच्छब्दानुपपत्तिम् । तदुत्तरत्वेन प्रवृत्ते = आशंकानिवारकतया प्रोक्ते । इदं सूत्रविशेषणम् । शास्त्रादित्यत्र जन्यत्वं पञ्चम्यर्थः । तथा च शास्त्रजन्या दृष्टिः शास्त्रदृष्टिः । अयमाशयः— प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा तं मां आयुः अमृतमित्युपास्वेति वाक्ये प्राणपद मुख्यप्राणपरं आहोस्वित् ब्रह्मपरं ? इति संशये, ब्रह्मपरमेवेति निर्णीतं वेदान्तसूत्रे । अनन्तरं कथमेवं युज्यते ? यतः प्रतर्द्दनं प्रतीन्द्रस्येदं वचनम्, अस्मच्छब्देन वक्तुरेव परामर्शेन प्रकृतवाक्ये च मामुपास्वेत्यस्य मा = इन्द्रं आयुः अमृतमित्येव उपास्वेति खल्वर्थस्यैव भवितव्यतया इन्द्र एवात्र प्राणः इत्याक्षेपे प्राप्ते "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इति सूत्रमुक्तं भगवता वेदव्यासेन । द्विविधा हि खलु भवति दृष्टिः लौकिकी शास्त्रीया च । तत्र लौकिकदृष्ट्याश्रयणे भवितुमर्हति इन्द्रः प्राणः, लोकेऽस्मच्छब्देन वक्तुरेवाभिधानात् । किन्तु शास्त्रीयां दृष्टिमाश्रित्य प्रयोगे तत्र ब्रह्मैव मच्छब्दवाच्यम् । तस्यैव तत्त्वतः आत्मत्वात् । प्रकृते तामेव तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजां आत्मदृष्टिमाश्रित्य मामित्यस्मच्छब्देन प्राणाख्यं ब्रह्मोपास्वेति प्रतिपादयतीन्द्रो न तु वज्रहस्तमैरावतारुढं स्वमिति वेदान्तदर्शनीयो विचारः । अयं खलु तदैव घटते यदि तत्त्वमस्यादिशास्त्रादपि साक्षात्कारो भवतीति स्वीक्रियते । अतो मन्तव्यं खल्वेतत् यत् भवति शाब्दत्वेऽपि ज्ञानस्य साक्षात्कारतेति ।

वाचस्पतितदनुयायिनामभिप्रायं विशदयति—

अन्येषान्त्वेवमाशयः । करणविशेषनिबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वम् । न विषयविशेषनिबन्धनम् । एकस्मिन्नेव सूक्ष्मवस्तुनि पटुकरणापटुकरणयोः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षव्यवहारदर्शनात् ।

करणगतो विशेषः = करणविशेषः, तन्निबन्धनं तन्मूलकम् । षष्ठ्यर्थो निष्ठत्वम् । तथा च ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वमित्यस्य ज्ञाननिष्ठं प्रत्यक्षत्वमित्मर्थः । सूक्ष्मवस्तुनि = अपकृष्टमहत्वशालिनि । पटूनि = झटिति स्पष्टज्ञानसमर्थानि करणानि यस्य असौ पटुकरणः । एवं अपटुकरण इत्यपि, तयोः । प्रत्यक्षमिदमिति व्यवहारः प्रत्यक्षव्यवहारः, अप्रत्यक्षमिदमिति व्यवहारः अप्रत्यक्षव्यवहारः, तयोः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षव्यवहारयोः दर्शनं ज्ञानम्, तस्मात् । अयं भावः—यदि हि विषयगत-

मेव हि विशेषमाश्रित्य भवेत् खलु विषये "इदं प्रत्यक्षं वस्तु" इति व्यवहारः, तदा सूक्ष्मकेशमेकं समानभावेनैव गृह्णीयात् सर्वः । विषयैक्येन तद्गतस्य विशेषस्य सर्वेषां कृते समानत्वात् । न भवति किन्तु तथा । कश्चिद्धि स्वस्थचक्षुष्को जनः सूक्ष्ममपि तं स्पष्टं गृह्णाति । न च तथा तं गृह्णात्यस्वस्थचक्षुः । अत इदं स्वीकरणीयमेव यत् करणगतेनैव विशेषेण ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमिति ।

ननु भवत्वेवम् । किमायातं ततः प्रकृते ? इत्याकांक्षायामाह—

तथा च सम्वित्साक्षात्त्वे इन्द्रियजन्यत्वस्यैव प्रयोजकतया न शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वम् । ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि मनननिदिध्यासनसंस्कृतमन एव कारणम् । मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यादि श्रुतेः ।

तथा च पटुकरणापटुकरणयोः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षव्यवहारदर्शने च । सम्वित् ज्ञानं तस्य साक्षात्त्वं प्रत्यक्षत्त्वं तस्मिन् । इन्द्रियजन्यत्वं इन्द्रियनिष्ठकरणतानिरूपितकार्यत्त्वम्, तस्यैव । शब्देन जन्यते इति शब्दजन्यम् = दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यम् । तादृश यज् ज्ञान तस्य । ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि = अहं ब्रह्मास्मीति चरमसाक्षात्कारेऽपि । मननं च निदिध्यासन च मनननिदिध्यासने, ताभ्यां संस्कृतम् = अहं ब्रह्मास्मीति प्रत्यक्षजननयोग्यतां प्राप्तम् । करणं = असाधारणं कारण । मनसैवानुद्रष्टव्यम् = मनसेन्द्रियेणैव साक्षात्कर्त्तव्यम् । अयं भावः—प्रोक्तया युक्त्या ज्ञानापरोक्षत्वस्य इन्द्रियजन्यत्वप्रयुक्तत्वे निश्चिते अहं ब्रह्मास्मीति चरमस्य साक्षात्कारस्य मनोजन्यत्वप्रयुक्तमेव हि प्रत्यक्षत्त्वमङ्गीकर्त्तव्यम् । मनसैवानुद्रष्टव्यमिति श्रुतिरपि हि तथैव वदति । सति चैवं साक्षात्कारो सावहं ब्रह्मास्मीति तत्त्वमस्यादिवाक्यात्मकशब्दजन्य इति प्रागुक्तं मतं न साधीय इति ।

ननु तर्हि कथं श्रुत्या "यन्मनसा न मनुते यन्मनो न वेदेति प्रोक्तम्" प्रोक्तश्रुतियुक्तिभ्यां ब्रह्मणो मानसप्रत्यक्षविषयत्वावगमात् इत्याशङ्कायामाह—

मनोऽगम्यत्वश्रुतिश्चासंस्कृतमनो विषया ।

मनसा अगम्यत्वं = अज्ञेयत्वम् मनोऽगम्यत्वम्, तस्य श्रुतिः = यन्मनसान मनुते यन्मनो न वेदेति श्रुतिवाक्यम् । चस्त्वर्थे । असंस्कृतं = मनननिदिध्यासनप्रयुक्तब्रह्मसाक्षात्कारजननसामर्थ्याभाववत् यन्मनः, तद्विषया = तदभिप्रेत्योक्ता ।

अयं भावः—"मनसैवानुद्रष्टव्यम्" "यन्मनसा न मनुते" इति श्रुत्योर्न खलु विरोधः शङ्कनीयः । पूर्वत्र "मनः" पदस्य शुद्धमनःपरत्वात् । परत्र च तदभाववन्मनःपरत्वात् । शुद्धत्वं च पूर्वप्रदर्शितसंस्कृतत्वरूपमवसेयम् इति ।

अन्या शङ्कामपाकरोति—

न चैवं ब्रह्मणः औपनिषदत्वानुपपत्तिः। अस्मदुक्तमनसो वेदजन्यज्ञानानन्तरमेव प्रवृत्ततया वेदोपजीवित्वात् ।

औपनिषदत्वं उपनिषन्मात्रमानगम्यत्वं, तस्यानुपपत्तिः = अभावः । अस्मदुक्तं = संस्कृतं यन्मनः, तस्य । वेदजन्यज्ञानं = तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यं परोक्षज्ञानम्, तदनन्तरम् । प्रवृत्ततया = अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारजनकतया। वेदोपयोगित्वात् = वेदसापेक्षत्वात् । अयं भावः—न खलु उपनिषज्जन्यसाक्षात्कारविषयत्वं ब्रह्मणः औपनिषदत्वं, येन "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी"ति श्रुतिप्रतिपादितं औपनिषदत्वं तस्य व्याकुप्येत । अपि तु वेदोपजीविप्रमाणजन्यज्ञानविषयत्वम्, तदस्त्येव ब्रह्मणि । मनस्संस्कारस्य वेदाधीनत्वेन, संस्कृतस्य मनसो वेदोपजीविप्रमाणत्वेन तज्जन्यसाक्षात्कारविषयत्वस्य तत्रासत्त्वात् इति ।

ननु मानान्तरगम्यत्वं वेदगम्यत्वञ्च विरुद्धमिति मनोऽगम्यत्वाभ्युपगमे ब्रह्मणः, कुतो वेदगम्यत्वसम्भवः ? इत्याशङ्कायामाह—

वेदानुपजीविमानान्तरगम्यस्यैव वेदगम्यत्वविरोधित्वात् ।

वेदं नोपजीवतीति वेदानुपजीवि, तादृशं यन्मानान्तरं = वेदातिरिक्तं प्रमाणं तद् गम्यत्वं तज्जन्यज्ञानविषयत्वम्, तस्य । एवकारेण केवलमानान्तरगम्यत्वव्यवच्छेदः । मनोजन्यज्ञानविषयत्वेन मानान्तरजन्यज्ञानविषयत्वेऽपि वेदानुपजीविमानान्तरगम्यत्वाभावेन वेदगम्यत्वसत्त्वे बाधकाभावेन न ब्रह्मणः औपनिषदत्वानुपपत्तिरिति भावः ।

ननु "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इत्यत्र शास्त्रदृष्टिशब्दप्रयोगस्य तर्हि का गतिः ? इत्याकांक्षायामाह—

शास्त्रदृष्टिसूत्रमपि ब्रह्मविषयप्रत्यक्षस्य शास्त्रप्रयोज्यत्वादुपपद्यते ।

ब्रह्म विषयो यस्य एतादृशं यन्मानसं प्रत्यक्षं तस्य। शास्त्रप्रयोज्यत्वात् = तत्त्वमसीति महावाक्यजन्यजीवाभिन्नब्रह्मज्ञानप्रयुक्तसंस्कारवन्मनोजन्यत्वात्। उपपद्यते = संगच्छते। अयं भावः—न खलु शास्त्रीया दृष्टिः शास्त्रदृष्टिः तत्त्वमसीति वाक्यजन्यसाक्षात्कार इति तदर्थः, अपि तु शास्त्रप्रयोज्या दृष्टिः शास्त्रदृष्टिः, शास्त्रोपजीविमनोजन्यस्साक्षात्कार इति तदर्थः। तथा च नानुपपत्तिः काऽपि इति।

अत्र कल्पतरूक्तदुक्तिमाह—

तदुक्तम्—

अपि संराधने सूत्रात् शास्त्रार्थध्यानजा प्रमा ।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परम् ॥

इति ।

"अपि संराधने" सूत्रात् = "अपि सराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इति उत्तरमीमांसासूत्रात्। शास्त्रं तत्त्वमस्यादि, तस्यार्थो जीवाभिन्नमखण्डं ब्रह्म, तस्य ध्यानं = मनननिदिध्यासने, केवलं निदिध्यासनमेव वा, तत्त्वे जायते = उत्पद्यते इति शास्त्रार्थध्यानजा। प्रमा = मानसः अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारः। शास्त्र-दृष्टिर्मता = शास्त्रदृष्ट्या तूपदेश इति सूत्रे शास्त्रदृष्टिशब्देनाभिप्रेता। तु एवार्थो भिन्नक्रमश्च। तथा च परं = किन्तु तां शास्त्रदृष्टिं वाचस्पतिरेव जानाति इति परार्धार्थः। अपि = अपि च एनं = निरस्ताखिलोपद्रवानन्दरूपं, संराधने = भक्तिध्यानप्रणिधानानुष्ठानकाले। पश्यन्ति योगिन इति शेषः। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां = श्रुतिस्मृतिभ्याम् इति सूत्रार्थः। तथा चायं भावः—योगिकर्तृकं ब्रह्मणो मानसं दर्शनं भवतीति इति श्रुतिस्मृतिशारीरिकसूत्रैरुक्तम्। तदेव दर्शनं "शास्त्र-दृष्ट्या तूपदेश" इत्यत्र शास्त्रदृष्टिशब्देनाभिप्रेतम्। तथा च न काप्यनुपपत्ति-रिति। पेद्ददीक्षितसम्मतस्तु पाठो "वेत्ति वाचस्पतिः परः" इति। अस्मिन् पाठे विशिष्टबुद्धिमत्त्वरूपं परत्वं वाचस्पतेर्विवक्षितम्। प्रत्यक्षानुमानाभ्यामित्यत्र प्रत्यक्षशब्दवाच्या श्रुतिः "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्फलं ध्यायमानः" इति। स्मृतिस्तु "योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्" इत्यादि-रूपा बोध्या।

ननु यदि ब्रह्मज्ञानान्मोक्षः तदा "यज्ञो दान तपश्चैव न त्याज्य"मिति कथनासगति. । तस्य निष्फलत्वात् इत्याशङ्कायामाह—

तच्च ज्ञानं पापक्षयात् । स च कर्मानुष्ठानात् इति परम्परया कर्मणां विनियोगः । अत एव "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनेत्यादि श्रुतिः "कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञान प्रवर्त्तते" इत्यादिस्मृतिश्च संगच्छते ।

तत् = शाब्दसाक्षात्काररूपं मानससाक्षात्काररूप वा । पापस्य क्षयो नाशः तस्मात् । परम्परया = पापक्षय दूरीकृत्य । विनियोगः = उपयोगः । अत एव = कर्मणः परम्परया उपयोगादेव । एतं = आत्मानम् । वेदानुवचनं = वेदाध्ययनम्, तेन । ब्राह्मणाः = ब्राह्मणजन्मानः । विविदिषन्ति = ज्ञातुमिच्छन्ति । अनाशकेन = हितमितपवित्राहारेण । इत्यादिश्रुतिः संगच्छते इति सम्बन्धः । कर्मभिः = निष्कामयागदानादिभिः । कषाये पक्वे = नष्टे । ततः = पापनाशात् । प्रवर्त्तते = उत्पद्यते । **न खलु निष्कामकर्मणो निष्फलत्वशंका, तद्बोधकशास्त्रसङ्कलिशङ्का वा । तस्य पापक्षयद्वारा ज्ञानोत्पादप्रयोजकत्वात् इति भावः ।**

ननु पापक्षयादेव ज्ञानोत्पादे "श्रोतव्यो मन्तव्य" इत्यादिश्रवणादिविधानानर्थक्यम् इत्याशङ्कायामाह—

एवं श्रवणमनननिदिध्यासनान्यपि ज्ञानसाधनानि । मैत्रेयीब्राह्मणे "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इति दर्शनमनूद्य, तत्साधनत्वेन "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति श्रवणमनननिदिध्यासनानां विधानात् ।

श्रवणं च मननं च निदिध्यासनं च, श्रवणमनननिदिध्यासनानि । ज्ञानसाधनानि = ब्रह्मसाक्षात्कारजनकानि । श्रोतव्य इत्यत्र तव्यप्रत्ययश्रवणेऽपि साक्षात्कारस्य फलत्वेन, फलस्य च विधयत्वाभावेन न विधानसम्भवः, अपि तु अनु[illegible]द्येति लिखनरहस्यम् । तत्साधनत्वेन = दर्शनसाधनत्वेन ।

लक्षणैः श्रवणमनननिदिध्यासनानि परिचाययति—

श्रवणं नाम वेदान्तानां तात्पर्यावधारणानुकूलमानसक्रिया । मननं नाम शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तरविरोधाशङ्कायां तन्निराकरणानुकूलतर्कात्मकज्ञानको मानसो व्यापारः । निदिध्यासनं नाम अनादिदुर्वासनया विषयेष्वाकृष्यमाणचित्तस्य विषयेभ्योपकृष्यात्मविषयकत्वस्थैर्यानुकूलो मानसव्यापारः ।

तात्पर्य = तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम्, तस्यावधारणं निश्चयः । तदनुकूला मानसक्रिया मनोव्यापारः । शब्देनावधारितोऽर्थः शब्दावधारितोऽर्थः, तस्मिन् । मानान्तरं = प्रमाणान्तरं, तेन विरोधः, मानान्तरविरोधः, तस्य या शङ्का, तस्याम् । जायमानायामिति शेषः । तस्याः शङ्कायाः यन्निराकरण निरासः, तत्रानुकूलो यस्तर्कः स एव आत्मा स्वरूप यस्य ज्ञानस्य, तत्कः । अनादिः या दुर्वासना = अधमः संस्कारः, तेन । विषयेष्वाकृष्यमाणस्य विषयाभिमुख्येन धावतः । चित्तस्य = अन्तःकरणस्य । अपकृष्य = पृथक्कृत्य । आत्मविषयकत्वस्थैर्य = आत्ममात्रविषयकत्वम्, तत्र अनुकूलः । "वेदान्ताः अद्वैतब्रह्मप्रतिपादकाः" इति निर्णयानुकूलो मानसव्यापारः श्रवणम् । **प्रत्यक्षादिप्रमाणेन यदि द्वितीयं तत्त्वं स्यात्, एकविज्ञाने सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा नेह नानास्तीत्यादिश्रुतिश्च बाधिता स्यात् इति तर्कसहकृता "प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्" इत्यनुमितिर्मननम् प्रकृते । अव्यवहितभावेनानारतं आत्ममात्रज्ञानं निदिध्यासनम् इति भावः ।**

ननु ब्रह्मसाक्षात्कारे त्रयाणां श्रवणादीनां किं समानतया कारणत्वम् ? इत्याकांक्षायामाह—

तत्र निदिध्यासनं ब्रह्मसाक्षात्कारे साक्षात्कारणम् । "ते ध्यानयोगानुगतां अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।" ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः ततस्तुतं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः इत्यादि श्रुतेः ।

तत्र = श्रवणमनननिदिध्यासनेषु । ब्रह्मसाक्षात्कारे = अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारे । साक्षात्पदं प्रयोजकसाधारणीं कारणतामाश्रित्य । ते = ज्ञानिनः । देवस्य = आत्मनः, शक्तिः = सर्वाध्यासाधिष्ठानता, ताम् । स्वगुणैः सत्त्वरज-

स्तमोगुणात्मिकाभिः मायाभिः । निगूढा = आच्छन्नाम् । पश्यन् = साक्षात्कृतवन्तः । ज्ञान निदिध्यासन, तस्य प्रसादः = आत्मातिरिक्तविषया-संस्पृष्टत्वम्, तेन । विशुद्धं सत्त्वं = अन्त.करणं यस्य स विशुद्धसत्त्वः । भवतीति शेषः । ततः = अनन्तरम् । ध्यायमानः निष्कलं पश्यते इति सम्बन्धः । ध्यायमानः = निदिध्यासकः । निष्कल = निर्गुणं । पश्यते = पश्यति । **अयं भावः—सत्यपि श्रवणमनननिदिध्यासनानां ब्रह्मसाक्षात्कारप्रयोजकत्वे समाने कारणत्वं निदिध्यासनस्यैव । नियता अव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वात् । पूर्ववर्त्तिनोस्तूभयोः अन्यथासिद्ध्या न कारणत्वम् अपि तु अन्तश्शुद्धिविधायकतया प्रयोजकत्वमात्रमिति ।**

ब्रह्मसाक्षात्कारे निदिध्यासनस्यैवात्मविषयकस्य हेतुत्वे, निदिध्यासनं केन कारणेन सेत्स्यति ? इति जिज्ञासायामाह–

निदिध्यासने च मननं हेतुः । अकृतमननस्यार्थदार्ढ्याभावेन तद्विषयनिदिध्यासनायोगात् ।

हेतुः = कारकः । न कृतं मननं येन असौ अकृतमननः तस्य । अर्थस्य आत्मनः दार्ढ्यं = दृढो निश्चयः, तदभावेन । तत् विषयो यस्य तत् तद्विषयम्, तादृक् यन्निदिध्यासनम्, तस्यायोगः = अभावः, तस्मात् । **अयं भावः—अन्वयव्यतिरेकयोरेव हि कारणतानिर्णायकत्वेन, तयोः सत्त्वेन, निदिध्यासनं प्रति मननस्य कारणत्वमवश्यं वक्तव्यम् इति ।**

ननु मनने कस्तर्हि हेतुः ? इत्याकांक्षायामाह—

मनने च श्रवणं हेतुः । श्रवणाभावे तात्पर्यानिश्चयेन शाब्दज्ञानायोगेन श्रुत्यर्थविषयकयुक्तत्वायुक्तत्वनिश्चयानुकूलमननायोगात् ।

श्रवणाभावे = तात्पर्यनिश्चयानुकूलमानसक्रियायाः अभावे । तात्पर्यस्य = तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वस्य, अनिश्चयो निश्चयाभावः, तेन । शाब्दनिश्चयस्य = अभिन्नाविषयकशाब्दनिश्चयस्य, अयोगः = अभावः, तेन । श्रुतार्थः = जीवब्रह्मणोरैक्यम् । तद्विषयकः = तद्विशेष्यको यो युक्तायुक्तत्वनिश्चयः = "जीवब्रह्मणोरैक्यं स्वीकर्त्तुमुचितम्" इत्यादिनिर्णयः, तदनुकूलस्य मननस्यायोगः =

अभावः, तस्मात् । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निदिध्यासने मननस्येव, मनने श्रवणस्य हेतुत्वमभ्युपगन्तव्यमिति ।

अत्र कार्यकारणभावे केषाञ्चिदाचार्याणां मतमाह—

एतानि त्रीण्यपि ज्ञानोत्पत्तौ कारणानीत्येतावन्मात्रं केचिदाचार्या उचिरे ।

एतानि = श्रवण-मनन-निदिध्यासनानि । ज्ञानं = अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारः, तस्य या उत्पत्तिः, तत्र । मात्रपदेन श्रवणमननयोः मनननिदिध्यासन-हेतुत्वद्वारककारणत्वात्मकप्रयोजकत्वव्युदासः । उचिरे = उक्तवन्तः । **अयं भावः—अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्तित्वमेव हि कारणत्वम् न तत्राव्यवधाननिवेशः । तथा सति निदिध्यासनस्येव श्रवणमननयोरपि साक्षादेव चरमसाक्षात्कारं प्रति हेतुत्वमिति ।**

मतान्तरमाह—

अपरे तु श्रवणं प्रधानम्, मनननिदिध्यासनयोस्तु श्रवणात्पराचीन-योरपि श्रवणफलब्रह्मदर्शननिर्वर्त्तकतया, आरादुपकारकतया तदङ्गत्वमनयोराहुः ।

प्रधानं = ब्रह्मसाक्षात्कारं प्रतिजनकभूता अङ्गिक्रिया । पराचीनयोः = परवर्त्तिनोः । श्रवणस्य फलं ब्रह्मदर्शनं, तस्य निर्वर्त्तकं = निर्वाहकं, तत् तथा । आरादुपकारकतया = दूरवर्त्त्युपकारकतया । अङ्गत्वं = सहकारित्वम् । अयं भावः—ब्रह्मसाक्षात्कारः श्रवणादेव जायते । मनननिदिध्यासने तु श्रवणस्य साहाय्यं कुरुतः । न तु ब्रह्मसाक्षात्कारमुत्पादयतः, इति तयोः श्रवणरूपायाः साक्षात्कारकत्वेन अंगिभूतायाः = मुख्यायाः क्रियायाः—अंगत्वम् । दूरोपकारकस्यान्यथा सिद्धत्वेन कारकत्वाभावात् । सन्निपत्योपकारकत्वारादुपकारकत्वयोः द्विविधयोरङ्गत्वयोर्मध्ये दूरवर्त्तिनः सन्निपत्योपकारकत्वाभावेऽपि आरादुपकारकत्वरूपमङ्गत्वं सम्भवत्येवेति ।

ननु मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वे, किं स्वरूपं तत् अङ्गत्वम् ? न ताव-दवयववत्त्वरूपं तदिष्टम् । श्रवणमननयोर्द्रव्यत्वाभावेन तद्व्याप्यस्यावयवत्वस्य तत्राभावात् । दर्शपौर्णमासादौ प्रयाजादेरिव परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपं तदिति

चेत्, तत्ख्यापकानां श्रुतिलिगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याना अन्यतमेन तर्हि ध्रुवं भवितव्यम् । न चावलोक्यते, इति कथङ्कारमङ्गत्वं सुसम्पादमित्याकांक्षायामाह—

तदप्यङ्गत्वं न तार्तीयशेषत्वरूपम् । तस्य श्रुत्याद्यन्यतमप्रमाण-गम्यस्य प्रकृते श्रुत्याद्यभावेऽसम्भवात् ।

तदपि = ,आरादुपकारकत्वमपि । तार्तीयशेपत्वरूपं = मीमासादर्शनतृतीया-ध्यायाप्रतिपाद्याङ्गत्वरूपम् । तस्य = तार्तीयशेपत्वरूपस्याङ्गत्वस्य । श्रुत्यादिना अन्यतमेन प्रमाणेन गम्यते इति श्रुत्याद्यन्यतमप्रमाणगम्यम्, तस्य । इद तत्पदप्रति-पाद्याङ्गविशेषणम् । प्रकृते = मननिदिध्यासनाङ्गत्वविपये । तस्यासम्भवादिति सम्बन्धः । **अयं भावः—सत्यं मनननिदिध्यासनयोः श्रवणं प्रति न तथाङ्गत्वं यथा प्रयाजादेः दर्शपौर्णमासादिकं प्रति । यतो श्रुतिलिगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां षण्णां मध्ये एकेन केनापि हि तादृशमङ्गत्वं भवति निर्णीतम् । प्रकृते च तदभावेन कथं शक्यते कर्त्तुं तथा विधाङ्गत्वनिर्णयः ? इति ।**

श्रुत्यादीनामन्यतमाभावं विशदयितुमाह—

"व्रीहिभिर्यजेत्" "दध्ना जुहोती"त्यादाविव मनननिदिध्यासन-योरङ्गत्वे न काचित् तृतीया श्रुतिरस्ति ।

अङ्गत्वे = श्रवणाङ्गत्वविषये । तृतीया श्रुतिः न अस्तीति सम्बन्धः । **अयं भावः—**"व्रीहिभिर्यजेत्" इत्यत्र "व्रीहिभिः" इति तृतीयान्तं पदम्, तत्र श्रूयमाणा तृतीया विभक्तिः प्रमाणीभूय पुरोडाशप्रकृतिभूतस्य व्रीहेः यागाङ्गत्वं ख्यापयति । प्रकृते "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यत्र न मनागपि सम्भेदोऽस्ति प्रमाणभूतायाः तृतीयायाः, येन व्रीहेः दध्नो वा यागाङ्गत्वमिव मनन-निदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वं श्रुतिप्रमाणसिद्धं स्यात् इति ।

ननु श्रुत्यभावेऽपि लिंगप्रमाणबलेन मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वं कुतो न स्यात् इत्याकांक्षायामाह—

नापि "बर्हिर्देवसदनं दामि" इत्यादिमन्त्राणां बर्हिः खण्डनप्रकाशन-सामार्थ्यवत् किंचिल्लिंगमस्ति ।

न हि किञ्चिल्लिंगमप्यस्तीति सम्बन्धः । बर्हिः कुश·, तस्य खण्डनं छेदनम्, तत्प्रकाशनसामर्थ्यं तदर्थप्रतिपादनस्वरूपयोग्यत्वम् । अयं भावः–बर्हिर्देवसदनं दामीति मन्त्राणां कुशलवनाङ्गत्वम् ? आहोस्वित् उलपाद्यन्यतृणलवनाङ्गत्वम् ? इति सन्देहे देवसदनबर्हिः खण्डनमेव हि यतो मन्त्रेण प्रतिपाद्यते, ततस्तादृशप्रतिपादनसामर्थ्यरूपलिङ्गप्रमाणबलेन कुशलवनाङ्गत्वमुक्तमन्त्राणामिति भवति विनिर्णयः । प्रकृतेऽपि यदि तद्वत् कुत्रापि मन्त्रादौ मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वख्यापनसामर्थ्यं स्यात् भवेत्तद्बलेन तयोस्तदङ्गत्वम् । न त्वस्ति तथेति कथं लिंगेनापि प्रमाणेन स्यात्तत्सिद्धिरिति ।

ननु मा भवता श्रुतिलिगे वाक्यं भवेत् तथाविध किञ्चित्, इत्याशंकायामाह–

नापि देशान्तरपठितस्य प्रवर्ग्यस्याग्निष्टोमे प्रविणक्तीति वाक्यवत् श्रवणानुवादेन मनननिदिध्यासनयोर्विनियोजकं किञ्चिद्वाक्यमस्ति ।

न वाक्यमस्तीति सम्बन्धः । वाक्यं = वाक्यप्रमाणम् । विनियोजकं = विधायकम् । अयं भावः–अग्निष्टोमादन्यत्रपठिता यद्यपि प्रवर्ग्यक्रिया, तथापि अग्निष्टोमे प्रविणक्ति भवति इति प्रवर्ग्यप्रापकवाक्यप्राप्त्या, अग्निष्टोमेऽपि भवति विधीयमाना प्रवर्ग्यक्रिया । प्रकृतेऽपि यदि तथा स्यात् किमपि वाक्य, येन श्रवणमनूद्य स्यान्मनननिदिध्यासनयोर्विधानम्, तर्हि वाक्यप्रमाणबलेन तयोः स्याच्छ्रवणाङ्गत्वसम्भवः । श्रोतव्य इत्यनेनैव श्रवणस्यापि प्राप्तौ न तदनुवाद इति शक्यते वक्तुमिति ।

ननु प्रकरणं कुतो न तयोः श्रवणाङ्गत्वख्यापकम् ? इत्याकांक्षायामाह–

नापि दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति वाक्यावगतफलसाधनताकदर्शपूर्णमासप्रकरणे प्रयाजादीनामिव फलसाधनत्वेनावगतस्य श्रवणस्य प्रकरणे मनननिदिध्यासनयोराम्नानम् ।

न आम्नानमस्तीति सम्बन्धः । दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इति वाक्येन अवगता फलसाधनता यत्र, असौ तादृशसाधनताकः, एतादृशो यो दर्शपूर्णमासः, तस्य यत्प्रकरणं तत्र । प्रयाजादीनामिव = प्रयाजादीनामाम्नानमिव । आम्नानं = उपदेशः । अयं भावः–प्रकरणात् अङ्गत्वमितरस्य भवति यत्र

स्वस्य यत्किञ्चिदपि फलं न श्रुतं भवति। फलवतश्च प्रकरणे पाठो भवतीति फलवन्मुख्यप्रकरणपाठात् तस्य मुख्याङ्गत्वं भवति। यथा प्रयाजनामकस्य यागस्य स्वतः किञ्चित् फलं न श्रूयते, किन्तु फलवद्दर्शपूर्णमासप्रकरणे तस्य पाठोऽस्तीति दर्शपौर्णमासाङ्गत्वं तस्य भवति। प्रकृते तु नैव फलवतः श्रवणस्य प्रकरणे निष्फलतया ननूपदेशो मनननिदिध्यासनयोरस्ति। येन श्रवणाङ्गत्वं भवेत् मनननिदिध्यासनयोः प्रकरणप्रमाणात्।

शङ्कते—

ननु द्रष्टव्य इति दर्शनानुवादेन श्रवणे विहिते सति फलवत्तया श्रवणं प्रधानम्, तत्सन्निधावाम्नातयोः मनननिदिध्यासनयोः प्रयाजन्यायेन प्रकरणादेवाङ्गता।

प्रधानं अङ्गि। तत्सन्निधौ = प्रधानस्य श्रवणस्य सन्निधौ। आम्नातयोः = उपदिष्टयोः। प्रयाजन्यायेन = प्रयाजदृष्टान्तेन। प्रकरणादेव = उभयाकांक्षारूपात् प्रकरणप्रमाणादेव। भवितुमर्हतीति शेषः। अयं भावः—"आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति श्रुतिः। तत्र दर्शनानन्तरं श्रवणस्य विधानात् तस्य फलवत्त्वं स्वीकार्यम्। सति चैवं फलवतः श्रवणस्य प्रकरण एव मनननिदिध्यासनयोरुपदेशात् तयोरपि तथैव श्रवणाङ्गता वक्तुं शक्यते, यथा फलवतोर्दर्शपौर्णमासयोः प्रकरणे फलरहिततया पठितस्य प्रयाजादेः, इति कथं न तथेति।

उत्तरयति—

इति चेन्न। ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इत्यादि श्रुत्यन्तरे ध्यानस्य दर्शनसाधनत्वे नावगतस्य अङ्गाकांक्षायां प्रयाजन्यायेन श्रवणमननयोरेवाङ्गतापत्तेः।

दर्शनसाधनत्वेन = दर्शनकारणत्वेन। अवगतस्य = ज्ञातस्य। आकांक्षायां = कथं भावयेत् इत्याकांक्षायाम्। अङ्गतापत्तेः = निदिध्यासनाङ्गतापत्तेः। अयं भावः—दर्शन[illegible] विचारे विधीयमाने वैपरीत्येन श्रवणमननयोरेव निदिध्यासनाङ्गता भवति सम्पन्ना। यतो हि "ते ध्यानयोगानुगता" इति

श्रुत्या ध्यानयोगानुगतानामेव दर्शनसम्पत्तिरिति प्रतिपादयन्त्या ध्यानयोगस्यैव साक्षात्कारणत्वमुच्यते, इति तत्र कथम्भावाकाङ्क्षायां श्रोतव्यो मन्तव्य इति श्रुत्या तन्निवृत्तेः । अतो मनननिदिध्यासनयोर्न श्रवणाङ्गत्वमिति ।

ननु क्रमात् समाख्यातो वा प्रमाणात् स्याच्छ्रवणाङ्गत्वं मनननिदिध्यासनयोः इत्याशङ्कायामाह–

क्रमसमाख्ये च दूरनिरस्ते ।

क्रमश्च समाख्या चेति क्रमसमाख्ये । दूरनिरस्ते=स्फुटं मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वव्यापकत्वाभाववत्यौ । अयं भावः–यत्र विकृतियागे अङ्गाना भवत्यतिदेशः, तत्राङ्गाना विधानक्रमजिज्ञासाया प्रकृतियागगतः क्रमो भवति प्रमाणम् । प्रकृते तादृशी स्थितिरेव नास्ति, येन स्यादपि क्रमस्य प्रामाण्यशङ्केति । एवं समाख्याया अपि नात्र प्रामाण्यशंका । यतो हि समाख्या प्रमाणं तत्रैव भवति यत्र कुत्राप्यङ्गत्वनिर्णयो नाम्ना भवति । यथा "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे" इति मन्त्रस्य पौरोडाशिकेति समाख्यया पुरोडाशपात्रसुन्धनाङ्गत्वम् । प्रकृते तु मनननिदिध्यासनपदं न श्रवणस्य यौगिकं नाम भवति येन स्याद्गतिसम्भावनापि समाख्या प्रमाणस्येति ।

प्रकृते हेत्वन्तरमाह–

किञ्च प्रयाजादावङ्गत्वविचारः सप्रयोजनः । पूर्वपक्षे विकृतिषु प्रयाजाननुष्ठानम् । सिद्धान्ते तु तत्रापि तदनुष्ठानमिति । प्रकृते तु श्रवणं न कस्यचित् प्रकृतिः । येन मनननिदिध्यासनयोः तत्राप्यनुष्ठानं अङ्गत्वविचारे फलं भवेत् । तस्मान्न तार्त्तीयशेषत्वं मनननिदिध्यासनयोः ।

सप्रयोजनः = सफलः । पूर्वपक्षे = पूर्वमीमांसादर्शनीयपूर्वपक्षे । विकृतिषु = विकृतियागेषु । सिद्धान्ते = मीमांसादर्शनसिद्धान्ते । तत्रापि = विकृतियागेऽपि । तदनुष्ठानं प्रयाजानुष्ठानम् । कस्यचित् प्रकृतिः = कस्यचित् अङ्गि । तत्रापि श्रवणविकृतावपि । अङ्गत्वस्य विचारः अङ्गत्वविचार, तस्य फलम् । अयं भावः– विकृतौ केषाञ्चिदङ्गानामनुष्ठेयत्वस्य प्रकृत्यङ्गत्वसापेक्षतया प्रयाजादेः दर्शपौर्ण-

मासानङ्गत्वे दर्शपौर्णमासविकृतियागेषु तत्प्राप्तिर्न स्यादिति प्रयाजादेः दर्शपौर्णमासाङ्गत्वस्थापनं भवति सप्रयोजनम् । यदि "श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यत्रापि श्रवणं कस्याप्यङ्गि स्यात्, तच्च किञ्चित्तदङ्गं, तदा तत्रापि मननिदिध्यासनप्राप्त्यर्थं तयोः श्रवणाङ्गताभ्युपगमः स्यात्सफलः । न चास्ति तथेति नास्ति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकत्वाभ्यामुपगतयोः सादृश्यसम्पत्तिरिति न कथमपि प्रयाजदृष्टान्तप्रसर इति ।

ननु तर्हि कीदृशमङ्गत्व विवक्षितमित्याकाक्षायामाह–

किन्तु यथा घटादिकार्ये मृत्पिण्डादीना प्रधानकारणता । चक्रादीनां सहकारिकारणतेति प्राधान्याप्राधान्यव्यपदेशः, तथा श्रवणमनननिदिध्यासनानामपीति मन्तव्यम् ।

यथा घटादीति व्यपदेशाकारप्रदर्शनम् । प्राधान्यञ्चाप्राधान्यं च प्राधान्याप्राधान्ये, तयोः व्यपदेशः = व्यवहारः । श्रनणमनननिदिध्यासनानामपि प्राधान्याप्राधान्यव्यपदेश इति सम्बन्धः । **अयं भावः—न न्यायवैशेषिकमतसिद्धं नापि पूर्वमीमांसासिद्धं अङ्गत्वमत्र विवक्षितम् अपि तु लोकसिद्धं सहायकत्वमात्रमत्राङ्गत्वं विवक्षितमिति ।**

विषयेऽस्मिन् पक्षपादसम्मतिमाह–

सूचितं चैतद्विवरणाचार्यैः । शक्तितात्पर्यविशिष्टशब्दावधारणं प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानेन कारणं भवति । प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात् । मनननिदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणता संस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते इति फलप्रत्यव्यवहितकारणस्य विशिष्टशब्दावधारणस्य व्यवहितमनननिदिध्यासने तदङ्गे अङ्गीक्रियेते इति ।

शक्तिश्च तात्पर्यं च शक्तितात्पर्ये । ताभ्यां विशिष्टो = विशेषितो यः शब्दः, तस्यावधारणं- = श्रावणसाक्षात्कारः । प्रमेयस्य अवगमः = निश्चयात्मकं ज्ञानम् । अव्यवधानेन = साक्षात् । प्रत्यगात्मा जीवः तत्प्रवणतालक्षणो यः संस्कारः, तेन परिनिष्पन्ना या तदेकाग्रा = आत्मैकाग्रवृत्तिः = अन्तःकरणपरिणामः, तदेव

कार्यं, तद्द्वारेण । ब्रह्मानुभवः = अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारः, तस्य हेतुता = तन्निरूपिता कारणता, ताम् । इति शब्दो हेतौ । फलं प्रति = अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारं प्रति । व्यवहिते मनननिदिध्यासने = व्यवहितमनननिदिध्यासने । तदङ्गे = श्रवणस्याङ्गे । **अव्यवहितत्वाच्छ्रवणस्य प्राधान्यम् । तेन तत्राङ्गित्वव्यवहारः । व्यवहितत्वाच्च मनननिदिध्यासनयोरप्राधान्यम् । तेन तयोरङ्गत्वव्यपदेश इति भावः ।**

ननु ज्ञातमिदं यत् श्रवणं अङ्गि । मनननिदिध्यासने च तदङ्गभूते इति । अथाधिकारवानेव न कोऽप्यवलोक्यते । "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादिना सर्वेषामग्निहोत्रादिष्वेव व्याप्तत्वात् इत्याशङ्कायामाह—

श्रवणादिषु मुमुक्षूणामधिकारः । काम्ये कर्मणि फलकामस्याधिकारित्वात् ।

आदिना मनननिदिध्यासनपरिग्रहः । मुमुक्षूणां = मोक्षमिच्छताम् । अधिकारः = अनुष्ठातृत्वम् । काम्यकर्मणि = यागपाकादौ । फलकामस्य स्वर्गादिलोकप्राप्तीच्छावतः । **अयं भावः—ये खलु स्वर्गादिलोकप्राप्तौ सस्पृहाः सत्यं तेषां न श्रवणादिष्वधिकारः । ते हि स्वर्गादिकामुकतया तदनुकूलयावज्जीवादिश्रुतिचोदिताग्निहोत्रादिमात्राधिकारिणः । किन्तु ये चाप्तकामाः आत्मकामाः अकामाः ते भेदज्ञानसाध्याग्निहोत्राद्युपरताः भवन्ति खल्वधिकारिणः श्रवणमनननिदिध्यासनेष्विति ।**

ननु विवेकवैराग्यादेस्तर्हि कोपयोगः ? इति जिज्ञासायामाह—

मुमुक्षायां च नित्यानित्यवस्तुविवेकस्य, इहामुत्रार्थफलभोगविरागस्य शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धानां च विनियोगः ।

मोक्षविषयिणी इच्छा मुमुक्षा, तस्यां विनियोग इति व्यवहितेन सम्बन्धः । "आत्मा नित्यः तदन्ये पदार्था अनित्याः" इति विवेकेनावधारणं नित्यानित्यवस्तुविवेकः । इह = अस्मिन् लोके, अमुत्र = परस्मिन् लोके च यः फलभोगः—सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः, तत्र विरागः वैराग्यं = रागाभावः, तस्य । विनियोगः = उपयोगः । अस्य प्रत्येकं सम्बन्धः । शमश्च दमश्च उपरतिश्च तितिक्षा च

समाधानं च श्रद्धा च शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाः । तासाम् । अयं भावः—नित्यानित्यवस्तुविवेकादीनां श्रद्धान्तानामनाश्रयणे मुमुक्षैवत्तावन्नोदेति । तदभावे च न श्रवणादौ प्रवृत्तिरिति मोक्षाभावः । अतो मोक्षमिच्छद्भिर्विवेकवैराग्यादेराश्रयण विधेयमिति ।

शमदमादीन् प्रत्येकं परिचाययति—

अन्तरिन्द्रियनिग्रहः शमः । बहिरिन्द्रियनिग्रहो दमः । विक्षेपाभाव उपरतिः । शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनं तितिक्षा । चित्तैकाग्र्यं समाधानम् । गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा ।

अन्तरिन्द्रियाणि मनोहङ्कारबुद्धिचित्तानि, तेषां निग्रहः = विषयवैमुख्यम् । एवं बहिरिन्द्रियेत्यत्रापि । विक्षेपः = चित्तस्याव्यवस्थितिः, तदभावः । द्वन्द्वसहनं = कष्टसहनम् । तथा शीतोष्णादिसमुत्थपीडासहनशीलता तितिक्षेत्यर्थः ।

ननु कर्मत्यागात्मकस्य सन्न्यासस्य कि प्रयोजनम् ? इत्याकांक्षायामाह—

अत्र उपरमशब्देन सन्न्यासोऽभिधीयते । तथा च सन्न्यासिनामेव श्रवणादावधिकार इति केचित् ।

अत्र = उक्तानां षण्णां मध्ये । अभिधीयते = उच्यते । सन्न्यासिनां वैदिकेन विधानेन गार्हस्थ्यत्यागपूर्वकं पारिव्राज्यं समाश्रितानाम् । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदे खल्वर्थे । तथा च न ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थानामित्यर्थः ।

अपरमतमाह—

अपरे तूपरमशब्दस्य सन्न्यासवाचकत्वाभावात् । विक्षेपाभावमात्रस्य गृहस्थेष्वपि सम्भवात्, जनकादेरपि ब्रह्मविचारस्यापि श्रूयमाणत्वात् सर्वाश्रमसाधारणं श्रवणादिविधानम् । इत्याहुः ।

अपरे = गृहस्थस्यापि मोक्षमिच्छन्तः। आहुरिति व्यवहितेन सम्बन्धः। सर्वाश्रमसाधारणं = ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थसन्न्यासिनां चतुर्णामाश्रमिणां कृते । अयं भावः—उपरमशब्दो यदि सर्वेद्वैतकविद्वदनुसारेण कर्मत्यागात्मकसन्न्यासे रूढः तदा

भवेदसन्न्यासिनामनधिकारः श्रवणादिषु । न चैवमस्ति । किन्तु तादृशशास्त्रप्रमानाभावेन विक्षेपाभावे एव तद्रूढिरिति सर्वेषामाश्रमिणां श्रवणादिषु समान अधिकार इति । ये हि सन्न्यासिनामेव केवलमिच्छन्त्यधिकारं श्रवणादिषु, तेषां मते उपरमशब्दस्य सन्न्यास एव रूढिरिति धेयम् ।

ननु अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारेणैव चेन्मोक्षप्राप्तिः तर्हि सत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिगुणविशिष्टोपासनस्य किं फलम् ? इत्याकांक्षायामाह—

सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्र्यद्वारा निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः । तदुक्तम्—

निर्विशेषं परं ब्रह्मसाक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्ते नु कम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत्साक्षात् अपेतोपाधिकल्पनम् ॥

निर्विशेषं = अतिशयरहितम् । परं = श्रेष्ठं ज्ञेयमित्यर्थः अनीश्वराः = असमर्थाः । मन्दाः = अधमाधिकारिणः । सविशेषस्य हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणो निरूपणं = सविशेषनिरूपणं, तैः । अनुकम्प्यन्ते = क्रियाविषयीक्रियन्ते । श्रुत्या इति शेषः । ये मन्दाः निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुं अनीश्वराः, ते सविशेषनिरूपणैः अनुकम्प्यन्ते इति सम्बन्धः । एवं सगुणब्रह्मशीलनात् एषां मनसि वशीकृते, अपेतोपाधिकल्पनं तदेव साक्षादाविर्भवेत् इति सम्बन्धः । सगुणस्य ब्रह्मणः शीलनं = तद्गुणविशिष्टतया उपासनं तस्मात् । अपेता = अपगता उपाधिकल्पना यतः, तत् अपेतोपाधिकल्पनं = उपाधिरहितम् । साक्षात् = प्रत्यक्षम् । तत् = ब्रह्म ।

तर्हि गतं किं तेषां मुक्त्याशयाऽपि ? इत्याशङ्कायामाह—

सगुणोपासकानां चार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गतानां तत्रैव श्रवणाद्युत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्रह्मणा सह मोक्षः ।

अर्चिरादिर्यस्यासौ अर्चिरादिः, स एव मार्गः, तेन । ब्रह्मलोकं = हिरण्यगर्भस्य सत्यलोकाख्यं [illegible] । तत्रैव = सत्यलोक एव । श्रवणादिभिः

उत्पन्नो ब्रह्मसाक्षात्कारो येषां ते श्रवणाद्युत्पन्नब्रह्मसाक्षात्काराः, तेषाम्। ब्रह्मणा सह = हिरण्यगर्भेण सह। **हिरण्यगर्भस्य कार्यकालसमाप्तौ, तस्मिन् मुक्ते तेनैव सार्द्धं तल्लोकं गतानामपि सगुणोपासकानां तत्रत्यैरेव श्रवणमननिदिध्यासनैः निर्विशेषं ब्रह्मसाक्षात्कृतवतां मुक्तिरवश्यम्भाविनीति नानाश्वासो मुक्तिं प्रति सगुणोपासकानामिति।**

ननु नित्यनैमित्तिकं कर्मानुतिष्ठतां मरणोत्तरं कीदृशी गतिः? इत्याकाक्षायामाह—

कर्मठानान्तु धूमादिमार्गेण पितृलोकं गतानां उपभोगेन कर्मक्षये सति पूर्वकृतसुकृतदुष्कृतानुसारेण ब्रह्मादिस्थावरान्तरेषु पुनरुत्पत्तिः। तथा च श्रुतिः—"रमणीयचरणाः रमणीयां योनिमापद्यन्ते", "कपूपचरणाः कपूपां योनिमापद्यन्ते" इति।

कर्मठाः = कर्मनिरताः, तेषाम्। धूमः आदिर्यस्यासौ धूमादिर्मार्गः, तेन। उपभोगेन = सुखसाक्षात्कारेण। कर्मक्षये = पितृलोकप्रापकादृष्टनाशे। पूर्वं = पूर्वजन्मनि कृतानि यानि सुकृतदुष्कृतानि, तदनुसारेण = तदनुरूपम्। ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु, हिरण्यगर्भमारभ्यस्तृणपर्यन्तेषु। पुनरुत्पत्तिः = पुनश्शरीरपरिग्रहः। चरणं = आचरणम्। रमणीयचरणाः = शास्त्रानुमोदितकर्मकारिणः। रमणीयां योनिं = उत्तमजन्म। आपद्यन्ते = प्राप्नुवन्ति। कपूपचरणाः = शास्त्रनिषिद्धकर्मकारिणः। कपूपां योनिं = कुत्सितं जन्म।

अथ ये शास्त्रातिनिषिद्धकर्मकारिणः, मरणोत्तरं तेषां गतिः कीदृशी? इत्याकांक्षायामाह—

प्रतिषिद्धानुष्ठायिनां तु रौरवादिनरकविशेषेषु तत्तत्पापोचिततीव्रदुःखमनुभूय शूकरादितिर्यग्योनिषु स्थावरादिषु चोत्पत्तिरित्यलं प्रसङ्गागतेन प्रपञ्चेन।

प्रतिषिद्धं = शास्त्रातिनिषिद्धं अनुतिष्ठन्तीति प्रतिषिद्धानुष्ठायिनः, तेषाम्। रौरवादयः = तत्संज्ञका ये नरकविशेषाः = नरकप्रभेदाः तेषु। तत्तत्पापोचितं = तत्तत्पापाचरणानुरूपं यत् तीव्रं दुस्सहं दुःखं, तत् अनुभूय = साक्षात्कृत्य।

शूकरादीत्यादिपदेन कुक्कुटसारमेयादिपरिग्रहः । स्थावरादिषु = वृक्षलतागुल्मादिषु । उत्पत्तिः = जन्म । प्रसङ्गादागतः = प्राप्तः य. प्रपञ्चो विस्तरः = वर्णनं तेन अलमिति सम्बन्धः । **लघुगुरुभेदात् शास्त्रनिषिद्धान्यपि कर्माणि भवन्ति द्विविधानि । तत्र पूर्वेषां फलं केवलं निकृष्टशरीरपरिग्रहः । परेषां तु दुस्सहायाम्ययातना अपि भवन्ति इति विशेषः इति भावः ।**

निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवतस्तु न लोकान्तरगमनम् । "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति श्रुतेः । किन्तु यावत्प्रारब्धक्षयं सुखदुःखे अनुभूय पश्चादपवृज्यते ।

निर्गुणस्य ब्रह्मणः साक्षात्कारः अहं ब्रह्मास्मीत्याकारकः अस्ति अस्येति निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवान् तस्य । न लोकान्तरगमनं = न शरीरान्तरपरिग्रहः । तस्य = निर्गुणब्रह्मज्ञस्य । प्राणः = इन्द्रियाणि । न उत्क्रामन्ति = उत्क्रमणात्मकक्रियावन्तो न भवन्ति । यावत्प्रारब्धक्षयं = प्रारब्धात्मकवर्त्तमानभोगशरीराद्यनुकूलकर्मक्षयपर्य्यन्तम् । सुखदुःखे अनुभूय = अहं सुखी अहं दुःखी इति साक्षात्कृत्य । पश्चात् सुखदुःखसाक्षात्कारानन्तरम् । अपवृज्यते = अपवर्ग प्राप्नोति । **निर्गुणब्रह्मजानतः शरीरात्मकप्रतिबन्धकपातमात्रेण निर्वाणमिति भावः ।**

शङ्कते—

ननु क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।
इत्यादि श्रुत्या—
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेर्जुन ।
इत्यादि स्मृत्या च ज्ञानस्य कर्मक्षयहेतुत्वनिश्चये सति प्रारब्धकर्मावस्थानमनुपपन्नम् ।

तस्मिन् = सर्वात्मभूते । परावरे = सकलश्रेष्ठे । दृष्टे = साक्षात्कृते । अस्य = जीवस्य । कर्माणि = पुण्यापुण्यात्मकसकलकर्माणि । क्षीयन्ते = नश्यन्ति । ज्ञानमेवाग्निः ज्ञानाग्निः । सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते = भस्ममात्रशेषं करोति । अर्जुनेति सम्बोधनपदम् । **श्रुतिस्मृतिभ्यां इदमवगम्यते यत् ज्ञानेन**

सकलपुण्यापुण्यनाशो भवतीति । सति चैवं ज्ञानिनां प्रारब्धकर्मतदनुरूपभोगादिकञ्चानुपपन्नमिति यावत्प्रारब्धक्षयमित्यसङ्गतमिति ।

उत्तरयति—

इति चेन्न । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इत्यादि श्रुत्या "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यादि स्मृत्या च उत्पादितकार्यकर्मव्यतिरिक्तानां सञ्चितकर्मणामेव विनाश्यत्वावगमात् ।

तस्य = ज्ञानिनः । चिरं = बहुकालम् । न विमोक्ष्ये = न विमुक्तो भवति । सम्पत्स्ये = सम्पन्नो भवति । कर्माभुक्तं न क्षीयते इति सम्बन्धः । उत्पादितं कार्य = शरीरं येन कर्मणा प्रारब्धाख्येन तत् उत्पादितकार्यकर्म । तद्व्यतिरिक्तानि = तद्भिन्नानि सञ्चितानि कर्माणि, तेषाम् । विनाश्यत्वं = विनाशः, तस्यावगमो = निश्चयः, तस्मात् । **उभयेषां श्रुतिस्मृतिवचनानां प्रामाण्याविशेषेण "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" इत्यत्र च कर्मपदं सङ्कोचेन सञ्चितकर्मपरमिति स्वीकर्तव्यमेव । अन्यथा श्रुत्योः स्मृत्योश्च विरोधापत्त्या उभयेषामप्रामाण्यं प्रसज्येत । अतः ज्ञानात् सञ्चितसर्वकर्मणां नाशो भवति इत्येव वक्तव्यम् । तथा च नोक्तश्रुत्याद्यसङ्गतिः । जीवन्मुक्ताभावो वेति ।**

ननु किं तद्भवति सञ्चितं पुण्यं पापं वेति जिज्ञासायामाह—

सञ्चितं द्विविधं सुकृतं दुष्कृतं च । तथा च श्रुतिः—"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां, द्विषन्तः पापकृत्यामि"ति ।

सुकृतं = पुण्यम् । दुष्कृतं = अपुण्यम् । तस्य = ज्ञानिनोमृतस्य । दायं = भूहिरण्यान्नादिकम् । सुहृदः मित्राणि । साधुकृत्यां = पुण्यकर्मफलम् । द्विषन्तः = शत्रवः । पापकृत्यां = पापफलं = दुःखमित्यर्थः । अयं भावः— **सञ्चितं नैकविधमेव भवति पुण्यं पापं वा । अपि तु उभयम् । तत्र ज्ञानिप्राक्कृताभुक्तपुण्यफलं तन्मित्राणाम्, तथाविधापुण्यफलं तच्छत्रूणां भवतीति । कारणकार्ययोर्वैयधिकरण्यं तु नाशङ्कनीयम् । तत्पुण्यतुल्यपुण्योत्पादादेः मित्रादिषु स्वीकारात् इति ।**

उपादाननाशे उपादेयनाशस्यावश्यम्भावात् ज्ञानेनाज्ञाननाशे तदुपादानकस्य प्रारब्धस्यापि नाशः स्यादेवेति कथं ज्ञानिनः प्रारब्धकर्म तिष्ठतीति कथनं संगच्छते ?

इत्याशङ्कते—

ननु ब्रह्मज्ञानान्मूलज्ञाननिवृत्तौ, तत्कार्यप्रारब्धकर्मणोऽपि निवृत्तेः कथं ज्ञानिनो देहधारणमुपपद्यते ?

ब्रह्मज्ञानात् = अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारात् । मूलं च तदज्ञानं मूलाज्ञानं, तस्यं निवृत्तिः मूलाज्ञाननिवृत्तिः, तस्यां सत्याम् । तस्य मूलाज्ञानस्य कार्यं यत् प्रारब्धकर्मं तस्यापि । निवृत्तेः = नाशात् । देहधारणं = देहापातः । उपपद्यते = सङ्गच्छते । अयं भावः—कपालनाशे न तिष्ठति घटः इति सर्वप्रत्यक्षसिद्धम् । सति चैवं सकलप्रपञ्चोपादानभूतस्याज्ञानस्यात्मज्ञानेन नाशे प्रारब्धकर्मापि न स्थातुमर्हतीति ज्ञानिना प्रारब्धकर्म तिष्ठति, तद्बलेन शरीरमपि भोगात्प्रारब्धक्षय-पर्यन्तं तिष्ठतीति कथनं न युक्तिपथमवतरतीति ।

समाधत्ते—

इति चेन्न । अप्रतिबद्धज्ञानस्यैवाज्ञाननिवर्त्तकतया, प्रारब्धकर्मरूप-प्रतिबन्धकदशायां अज्ञाननिवृत्तेरनङ्गीकारात् ।

अप्रतिबद्धस्य = प्रतिबन्धकरहितं यज् ज्ञानं तस्यैव । अज्ञाननिवर्त्तकतया = अज्ञानस्य नाशकतया । प्रारब्धकर्मरूपं यत्प्रतिबन्धकं तस्य दशायां = तदस्तित्त्वकाले । अयं भावः—सत्यं पूर्णे ज्ञाने न स्थातुमर्हति खल्वज्ञानं, तत्कार्यं प्रारब्धकर्म वा । किन्तुजीवन्मुक्तानां स्थूलरूपाज्ञानस्य पुनर्भवकारणस्याभावेऽपि वासनात्मकसूक्ष्मरूपेण तावद्यावद्देहपात तिष्ठत्येव । अतस्तत्कार्यभूतस्य प्रारब्धस्य कर्मणः सत्त्वं नासमञ्ज-सम् । ज्ञानित्वव्यवहारस्तु स्थूलाज्ञाननाशेनोपपद्यते इति ।

ननु आत्मन एकत्वे एकमुक्तौ कथं न जगन्मुक्तिरिति शङ्कते—

नन्वेवमपि तत्त्वज्ञानादेकस्य मुक्तौ सर्वस्य मुक्तिः स्यात् । अविद्याया एकत्वेन तन्निवृत्तौ क्वचिदपि संसारायोगात् ।

एवमपि = उक्तप्रकारेण देहापातसमर्थनेऽपि । एकस्येत्यनन्तरं जीवस्येति शेषः । एवं सर्वस्येत्यनन्तरमपि । तन्निवृत्तौ = अविद्यायाः जगत्परिणामिन्याः नाशे । क्वचिदपि =कुत्रापि जीवे । संसारायोगात् = संसारासम्भवात् । **अयं भावः— सिद्धान्ते आत्माप्येकः एवं तदुपाधिभूता जगदाकारपरिणामिनी अविद्याप्येका । इति एकस्य ब्रह्मात्मैक्यज्ञानिनः शरीरपाते अविद्या नष्टेति स्वीकर्त्तव्यमेव, तन्मुक्त्यनुरोधात् । तथा च कोऽपि कथं स्थास्यति बद्धः ? सर्वबन्धकारणीभूताया अविद्याया उच्छेदात् । अनुच्छेदे तस्याप्यमुक्त्यापत्तिरिति ।**

समाधत्ते—

इति चेन्न । इष्टापत्तेरित्येके ।

इष्टापत्ते. आपत्तेरिष्टत्वात् । इत्येके इत्यनन्तरं वदन्तीति शेषः । एकजीववादे एकमुक्तौ जगन्मुक्तेरापत्तिरेव निराधारा । तत्त्वतः अनेकात्मनः एवाभावात् । यदि चाद्यावधि कस्यापि वामदेवादेर्मुक्तिर्न जातेत्यभ्युपगमापत्तिः ? तदा सा खल्विष्टैव । महाप्रलय एव तत्स्वीकारात् इति ।

बन्धकारणीभूतायाः अविद्यायाः नानात्वेन नोक्तापत्तिरित्याशयेन समाधत्ते—

अपरे त्वेतद्दोषपरिहारायैव इन्द्रो मायाभिरिति बहुवचनश्रुत्यनुगृहीमविद्यानानात्वमङ्गीकर्तव्यमित्याहुः ।

अपरे =केचन वेदान्तिनः। एतद्दोषपरिहारायैव = एकमुक्तौ सर्वमुक्तिदोषपरिहारायैव । बहुवचनस्य श्रुतिः = श्रवणं तदनुगृहीतं = तदनुकूलं । अविद्यायाः नानात्वं = अनेकत्वम् । **अयं भावः—सत्यप्येकस्मिन् सूर्यबिम्बे प्रतिबिम्बाधारभूतानां सरावजलानां नानात्वे, यस्य सरावजलस्य नाशः तत्प्रतिबिम्बस्य बिम्बात्मनैवावस्थानम् अन्येषां तुप्रतिबिम्बात्मना । तथा च यस्योपाधेर्नाशः तदुपाधिकस्य जीवस्य मुक्तिः नान्योपाधिकस्येति नोक्तापत्तेरवकाशः । उपाधिबहुत्वे तु इन्द्रो मायाभिरित्यत्र मायाभिरिति बहुवचनश्रुतिः प्रमाणमिति ।**

अन्यथा समाधत्ते—

अन्ये त्वेकैवाविद्या । तस्या एवाविद्यायाः जीवभेदेन ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तयो नाना । तथा च यस्य ब्रह्मज्ञानं तस्य ब्रह्मस्वरूपावरणशक्तिविशिष्टाविद्यानाश इत्युपगमान्नैकमुक्तौ सर्वमुक्तिः ।

ब्रह्मस्वरूपं आवृणोतीति ब्रह्मस्वरूपावरणं सैव शक्तिः इति ब्रह्मस्वरूपावरण-शक्तिः । तथा च = आवरणशक्तीना नानात्वे च । आवरणशक्तिविशिष्टाविद्या-नाशः = तादृशशक्तिभेदभिन्नविद्यानाशः । **अयं भावः—अविद्याया एकत्वेऽपि तस्याः आवरणशक्तेर्नानात्वमभ्युपेयते । सैव चावरणशक्तिर्भिन्ना जीवभेदप्रयोजिका । सति चैवं एकावरणशक्तिनाशेन एकमुक्तावपि अपरावरणशक्तेरक्षुण्णतया नापर-मुक्तिप्रसङ्गः इति नोक्तापत्त्यवकाश इति ।**

अत्र शारीरिकसम्मतिमादर्शयति—

अत एव "यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिकाणाम्" इत्यस्मिन्नधि-करणे आधिकारिकपुरुषाणां उत्पन्नतत्त्वज्ञानानां इन्द्रादीनां देहधारणा-नुपपत्तिमाशंक्य अधिकारापादकप्रारब्धकर्मसमाप्त्यनन्तर विदेहकैवल्य-मिति सिद्धान्तितम् ।

अत एव = आवरणशक्तेर्नानात्वात् तद्भेदादेव च मुक्तिभेदादेव । अन्यथा केवलमाधिकारिकपुरुषं परिगृह्य शङ्कोत्तरग्रन्थौ न स्यातां कथमपि सङ्गताविति ।

एतदेव वाचस्पतिसम्मतिप्रदर्शनेनापि द्रढयति—

तदुक्तमाचार्यवाचस्पतिना—

उपासनादिसंसिद्धं तोषितेश्वरचोदितम् ।
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति

उपासनादिभिः सम्यक्प्रकारेण सिद्ध्यतीति उपासनादिसंसिद्धम् = उपासना-दिभिरुपनतमित्यर्थः । तोषितः = आराधनेन अभिमुखीकृतः यः ईश्वरः तेन चोदितं = प्रदत्तम् । अधिकारं = लोकव्यवस्थासम्पादकत्वम् । समाप्य = निश्शेषं विधाय । परं पदं प्रविशन्ति = मुक्ताः भवन्ति । एते = आधिकारिकाः । **इन्द्रचन्द्रादयः = लोकव्यवस्थासम्पादनार्थमीश्वरेण प्रदत्तं कार्यभारं सुचारुरूपेण सम्पाद्य मोक्षमुपगच्छन्तीति भावः ।**

एतेन किमायातं प्रकृते ? इति जिज्ञासायामाह—

एतच्चैकमुक्तौ सर्वमुक्तिरिति पक्षे नोपपद्यते । तस्मादेका विद्या-पक्षेऽपि प्रतिजीवमावरणभेदोपगमेन व्यवस्थोपपादनीया ।

एतच्च=आधिकारिकाणामधिकारसमाप्तिक्रमेण मुक्तिप्रतिपादनं च। चस्त्वर्थे। एकमुक्तौ सर्वमुक्तिरिति पक्षे = इष्टापत्तिपक्षे। नोपपद्यते = न सामञ्जस्यमेति। आवरणभेदोपगमेन = एकस्या अविद्यायाः आवरणभेदस्वीकारेण। व्यवस्था = केचन बद्धाः केचन मुक्ताः इति स्थितिः।

परिच्छेदार्थमुपसंहरति—

तदेवं ब्रह्मज्ञानान्मोक्षः।

तत् = तस्मात्। एवं = आगन्तुकनानाशङ्कापरिहारे सति। ब्रह्मज्ञानात् = अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारात्। मोक्ष इत्यनन्तरं भवतीति सिद्धमिति शेषः।

व्याख्यातमेव मोक्षपदार्थं पुनः स्मारयति—

मोक्षश्चानर्थनिवृत्तिः, निरतिशयब्रह्मानन्दावाप्तिश्चेति सिद्धं प्रयोजनम्।

अनर्थः = अज्ञानं, तस्य निवृत्तिः नाशः। निरतिशयः = निर्विशेषः यः ब्रह्मरूपः = आत्मरूपः आनन्दः, तदवाप्तिः = तन्मात्ररूपेणावस्थानम् अज्ञानपरिणामाभावेन अविवर्त्तमानता। अयमेवार्थः पूर्वं प्राप्तप्राप्तव्यपरिहृतपरिहारादिप्रदर्शनेनोक्तम्। सिद्धं प्रयोजनं = प्रयोजनमस्तीति सिद्धम् इत्यर्थः इति शिवार्पणमस्तु।

(१)

माता भगवती यस्य पिता च बबुनन्दनः।
चन्द्रशेखरशर्मा तु यस्यासीत् प्रथमो गुरुः॥

(२)

द्वितीयस्तर्कवागीशः सम्राट्सम्मानभाजनम्।
फणिभूषणशर्मोद्यद्यशः कुमुदबान्धवः॥

(३)

स्फुरन्महामहोपाध्यायोपाधिः शिवतां गतः।
वामाचरणशर्मासीत् तृतीयः शास्त्रवारिधिः॥

(४)

सीताऽऽसीत् प्रथमा पत्नी यज्जातेयमरुन्धती ।
पद्मा भवनपद्मेव द्वितीया यत्सधर्मिणी ॥

(५)

यतः सत्तनयावेतौ मृत्युञ्जयधनञ्जयौ ।
वसुन्धरा तथ। सत्यम्भरा विश्वम्भरा, सुताः ।।

(६—७)

तेनानन्दने विदुषा त्रिषडष्टैकसम्मिते ।
शाके व्यरचि टीकेयं बोधायाल्पधियामपि ॥
विहारप्रान्तदर्भंगामण्डलान्तर्गते शुभे ।
सिंहवाड़ाभिधे ग्रामे सुरम्ये लब्धजन्मना ॥

(८)

अनेन सम्प्रसन्नास्तु मिथलेला मम प्रसूः ।
आविर्बभूव यद्‌गर्भान्महामायाऽथ मैथिली ।

(९)

अपर्णाऽपि कृपापर्णा सगुणाप्यगुणानुगा ।
अशिवापि शिवामोदाऽजनका जनकान्विता ।

इति कवितार्किकवर्यवेदान्तवागीशाचार्यश्रीमदानन्दझाविरचिता—

भगवती—

समाप्ता



शब्दानुक्रमणिका

अ

ई

उ

त

द